इकाई–1 – योग का अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य एवं महत्व

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 योग का अर्थ

1.4 परिभाषायें

1.5 योग का उद्देश्य

1.6 योग का महत्व

1.6.1 शारीरिक महत्व

1.6.2 मानसिक महत्व

1.6.3 आध्यात्मिक महत्व

1.6.4 पारिवारिक महत्व

1.6.5 सामाजिक महत्व

1.6.6 आर्थिक महत्व

1.6.7 नैतिक महत्व

1.6.8 शैक्षणिक महत्व

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों, वर्तमान समय में हम सभी ''योग'' शब्द से भली भॅाति परिचित हैं। चाहे बच्चा हो, जवान हो, वृद्ध हो, स्त्री हो, पुरूष हो, हर उम्र का व्यक्ति अपने अनुसार योग शब्द से कुछ ना कुछ अर्थ ग्रहण करता है। क्योंकि योग के महत्व इसके उपयोग से किसी ना किसी रूप में इन्कार नहीं किया जा सकता है, योग को हम सच्चे अर्थो में अपने जीवन में ग्रहण कर व्यवहारिक दृष्टि से इसे अपने लिए उपयोगी बना सके। इसके लिए बहुत ही आवश्यक है कि इसके सही अर्थ को जाने समझें। बिना इसके हम योग का जो उद्देश्य है उसे पूरा नहीं कर सकते है।

अतः जिज्ञासु पाठको, प्रस्तुत इकाई में हमारे अध्ययन का विषय है – योग का अर्थ, परिभाषा, उद्धेश्य एवं महत्व को जानना। विद्यार्थियो यदि हम योग शब्द को गहराई से जानने समझने, अनुभव करने का प्रयत्न करें तो हम पायेंगे कि कोई व्यक्ति अपने प्रति पुरी तरह सजग होकर अपने चित्त में संचित जन्म जन्मान्तर के जो कर्म संस्कार अर्थात् पाप – पुण्य के रुप में अब तक के जन्मों में जो भी कर्म हुए है, उन सभी कर्मों का क्षय करके, भोग करके जब अपने आत्म स्वरुप में स्थिर हो जाता है, अर्थात् उसे यह बोध हो जाता है कि मैं पंचमहाभूतों से बना यह नष्ट होने वाला शरीर नहीं हूॅ, अपितु परमात्मा का अभिन्न अंश आत्मा हूॅ। इसे ही सच्चे अर्थों में योग कहा जाता है। इसी योग को योगियों ने आचार्यों ने अलग – अलग ढ़ग से समझाने का प्रयास किया है।

विद्यार्थियो, आपके मन में विभिन्न प्रकार की जिज्ञासायें उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

जैसे कि –

- इस योग शब्द की उत्पत्ति किस प्रकार से हुयी ?
- इसे किस ढ़ग से परिभाषित किया गया है ?
- क्या योग का आध्यात्मिक महत्व ही है, या इसे हम अपनी दिन प्रतिदिन की जिन्दगी में भी अपना सकते है ?
- योग विद्या के प्रेणता कौन है? अर्थात् सर्वप्रथम किसके द्वारा इसका प्रतिपादन किया गया। इत्यादि आपकी इन्ही जिज्ञासाओं के समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है –

तो आइये सबसे पहले हम योग क्या है ? इस विषय पर चर्चा करते है –

1.2 उद्देश्य

प्रिय पाठको प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- योग के अर्थ को भली भॅाति स्पष्ट कर सकेगे।
- योग विद्या के उद्धेश्य को स्पष्ट कर सकेगे।
- योग की विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण कर सकेगे।
- व्यवहारिक जीवन में योग का क्या महत्व है ? इसका अध्ययन कर सकेगे।

1.3 योग का अर्थ

विद्यार्थियो योग शब्द पर विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है, कि योग शब्द संस्कृत के 'युज' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है, जोड़ना अर्थात् किसी भी वस्तु से अपने को जोड़ना या किसी कार्य में स्वयं को लगाना। पाणिनिगण पाठ का विस्तृत अध्ययन करें तो उसमें तीन 'युज' धातु हैं।

(क) युज समाधौ–दिवादिगणीय,

(ख) युजिर योगे–रुधादिगणीय,

(ग) युजसंयमने–चुरादिगणीय,

(क) – युज समाधौ – दिवादिगणीय – दिवादीगणीय युज धातु का अर्थ है, समाधि । समाधि का प्रकृति प्रत्यय अर्थ है, सम्यक स्थापन। अर्थात् जब प्रगाढ़ संयोग सुषुम्ना में स्थिर ब्रह्मनाड़ी से होता है। वह स्थिती समाधि की होती है। दूसरे अर्थ में युज समाधौ का अर्थ है – समाघि की सिद्धि के लिए जुड़ना। या समाधि की प्राप्ति के लिए जो भी साधनायें शास्त्रों में बताई गयी हैं, उन साधनाओ को अपने जीवन में अपनाना, ही योग का पहला अर्थ है।

(ख) – युजिर योगे–रुधादिगणीय – रुधादिगणीय युज धातु का अर्थ है, जुड़ना, जोड़ना, मिलना, मेल करना। युजिर योगे का अर्थ है, संयोग करना। अर्थात् इस दुःख रुप संसार से वियोग तथा ईश्वर से संयोग का नाम ही योग है। जिसका वर्णन श्रीमदभगवद्‌गीता में इस प्रकार किया गया है –

'तं विद्याद् दुःख संयोग वियोग योग संज्ञितम्।'

– गीता 6/23

अर्थात् इस दुख रुप संसार के संयोग से रहित होने का नाम ही योग है। वह साधन जिसके द्वारा परमात्मा के साथ ज्ञानपूर्वक संयोग है, जीवात्मा का। इस प्रकार योग का अर्थ जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग हैं।

(ग) – युजसंयमने–चुरादिगणीय – चुरादिगणीय युज् धातु का अर्थ है, संयमन् अर्थात मन का संयम या मन का नियमन। इस प्रकार युज् संयमने का अर्थ है, मन का नियमन करना ही योग है। मन को संयमित करना ही योग है, तथा यह मन को नियन्त्रित करने की विद्या योग ही है। इस प्रकार योग का अर्थ – योग साधनाओं को अपनाते हुए मन को नियन्त्रित कर, संयमित कर, आत्मा का परमात्मा से मिलन ही योग है।

1.4 योग की परिभाषाएॅ

भारतीय दर्शन में योग विद्या का महत्वपूर्ण स्थान है। यह विद्या सभी विद्याओं से सर्वोपरि व विशेष स्थान रखती है। योग विद्या से सम्वन्धित ज्ञान सभी भारतीय ग्रन्थो में अनेक स्थानो पर देखने को मिलता है। वेद, पुराण, उपनिषद, श्रीमद्‌भगवद्‌ गीता आदि प्राचीन

ग्रन्थों में योग विद्या विद्यमान है। प्रिय विद्यार्थियों प्राचीन ग्रन्थों में योग विद्या को किस प्रकार परिभाषित किया गया है । आइये इसका हम अध्ययन करें –

योग सूत्र के प्रेणता महर्षि पतंजलि ने योग की निम्न परिभाषा दी है –

'योगश्चितवृत्तिनिरोधः।'

– पा0 यो0 सूत्र 1/2

अर्थात् चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव ही योग है। चित्त का तात्पर्य यहॉ अन्तःकरण से है। ज्ञानेन्द्रियो द्वारा जब विषयो को ग्रहण किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियो द्वारा अर्जित ज्ञान को मन आत्मा तक पहुॅचाता हैं। आत्मा उसे साक्षी भाव से देखता है, वुद्धि व अहंकार विषय का निश्चय करके उसमें कर्तव्य भाव लाते है। इस सम्पूर्ण क्रिया में चित्त में जो प्रतिबिम्व बनता है, वही वृत्ति कहलाती है। चित्त हमारा दर्पण की भॉति होता है। अतः विषय उसमें आकर प्रतिविबिम्व होता है। अर्थात् चित्त विषयाकार हो जाता है। इस चित्त को विषयाकार होने से रोकना ही योग है।

महर्षि व्यास के अनुसार योग –

'योग समाधिः'।

महर्षि व्यास ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है, योग नाम समाधि का है। जिसका भाव यह है कि समाधि द्वारा जीवात्मा उस सत्–चित्–आनन्द स्वरुप ब्रहम का साक्षात्कार करे और यही योग है।

पण्डित श्री राम शर्मा आचार्य जी के अनुसार – 'जीवन जीने की कला ही योग है।'

मनुस्मृति के अनुसार –

'ध्यान योगेन सम्यश्यदगतिस्यान्तरामनः।' – मनुस्मृति 16/731

ध्यान योग से भी योग आत्मा को जाना जा सकता है। अतः योगपरायण ध्यान होना चाहिए।

कठोपनिषद के अनुसार – जब चेतना निश्चेष्ठ मन शान्त, बुद्धि स्थिर हो जाती है, ज्ञानी इस स्थिति को सर्वोच्च स्थिति मानते है। चेतना और मन के दृढ निश्चय को ही योग कहते है।

यदा पंचावतिष्ठनते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमा गति।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्दा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।''

कठोपनिषद–2/3/10–11

अर्थात् जब पॉचों ज्ञानेन्द्रियॉ मन के साथ स्थिर हो जाती है, और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है, इस अवस्था को परमगति कहते है। इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग है। जिसकी इन्द्रियॉ स्थिर हो जाती है, उसमें शुभ संस्कारों की उत्पत्ति और अशुभ संस्कारों का नाश होने लगता है। यही अवस्था योग की है।

सांख्यशास्त्र में योग की परिभाषा इस प्रकार दी है –

'पुरूष प्रकृत्योतियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते।'
– सांख्यशास्त्र

अर्थात् प्रकृति – पुरुष का प्रथृकत्व स्थापित कर, अर्थात् दोनो का वियोग करके पुरुष के स्वरुप में स्थिर हो जाना योग है।

कैवल्योपनिषद के अनुसार –

'श्रृद्धा भक्ति योगावदेहि।'

अर्थात् श्रृद्धा भक्ति और ध्यान के द्वारा आत्मा को जानना ही योग है।

याज्ञवल्यक स्मृति के अनुसार –

'संयोगो योग इत्यक्तो जीवात्मा – परमात्मनो।'

अर्थात् जीवात्मा परमात्मा के मिलन को योग कहते है। अज्ञानता के कारण यह जीवात्मा संसार चक्र में फंसा रहता है। ज्ञान के उदय होने पर उसका परमात्मा से मिलन हो जाता है। फलस्वरुप उसके सभी दुःख समाप्त हो जाते है। इस प्रकार आत्मा परमात्मा के मिलन की स्थिति ही योग है।

अग्नि पुराण के अनुसार –

''ब्रहम प्रकाशनम् ज्ञानं योगस्थ त्रैचित्तता।
चित्त वृत्ति निरोधश्चः जीवन ब्रहममात्मनो परः।।''
–अग्नि पुराण 183/1–2

अर्थात् ज्ञान का प्रकाश पड़ने पर चित्त ब्रहम में एकाग्र हो जाता है। जिससे जीव का ब्रहम में मिलन हो जाता है। ब्रहम में चित्त की यह एकाग्रता ही योग है।

स्कन्ध पुराण के अनुसार –

''जीवात्मा परमार्थोऽयमविभागः परमतपः
सः एव परोयोगः समासा कथितस्तव।''
–स्कन्ध पुराण

अर्थात् जीवात्मा व परमात्मा का अलग – अलग होना ही दुःख का कारण है। और इस का अपृथक भाव ही योग है। एकत्व की स्थिति ही योग है।

लिंग पुराण के अनुसार –

'योग निरोधो वृत्तेस्तु चितस्य द्विज सत्तमा।'
–लिंग पुराण

अर्थात् चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाना, उसे पूर्ण समाप्त कर देना ही योग है। उसी से परमगति अर्थात् ब्रहम की प्राप्ति होती है।

'वैशेषिक दर्शन' में योग को इस तरह से परिभाषित किया है –

'तदनारम्भ आत्मस्ये मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः।'

–वैशेषिक सूत्र 6/2/16

अर्थात् मन आत्मा में स्थिर होने पर उसके (मन के काय का) अनारम्भ है, वह योग है।

श्रीमद् भगवद्गीता के अनुसार –

''योगस्थ कुरु कर्माणि संगत्यक्त्वा धनंजय।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।''

–गीता 2/48

अर्थात् योग में स्थिर हो कर कर्म फल का त्याग कर, और सिद्ध–असिद्ध में सम होकर कर्मों को कर ; यही समता ही योग है।

''बुद्धि युक्तो जहॉ तीहं उभय सुकृत दुष्कृते।

तस्याद्योगाय युज्जस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।''

–गीता 2/50

अर्थात् कर्मो में कुशलता का नाम ही योग है। कर्मों की कुशलता का तात्पर्य यह है, कि हमे कर्म इस प्रकार से करने चहिए कि वे बन्धन का कारण ना बने। अनासक्त भाव से अपने कर्त्तव्य कर्मों का निर्वहन करना ही कर्म योग है।

''तं विद्याय दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्ताव्यो योगो ऽनिर्विण्णचेतसा।।''

अर्थात् उस योग को उत्साह, श्रद्धा, धैर्य, से समाहित चित्त से निश्चय पूर्वक करना चाहिए। इस दुख रुप संसार के संयोग से रहित है, वह योग है।

महोपनिषद के अनुसार – मन के संवेगो पर नियन्त्रण ही योग है।

महर्षि अरविन्द के अनुसार – जीवन को बिना खोए भगवान की प्राप्ति योग है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – प्राचीन आर्ष ग्रन्थो का अध्ययन ही योग है।

गुरु ग्रन्थ साहिब के अनुसार – निःस्वार्थ भावना से कर्म करना ही सच्चे धर्म का पालन है, और यही वास्तविक योग है।

रागेय राधव अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ और उनका युग' में कहा है। – शिव व शक्ति का मिलन को योग कहते है।

योग वशिष्ठ में योग को इस तरह परिभाषित किया गया है – संसार सागर से पार होने की युक्ति का नाम ही योग है। महर्षि वशिष्ठ का कथन है, कि योग के द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक स्वरुप सद्–चित्–आनन्द का अनुभव कर लेता है।

—वशिष्ठ संहिता 6/1/13/3

महोपनिषद के अनुसार –

'मनः प्रश्मनोपायो योग इत्याभिधीयते।'

– महो0 5/42

अर्थात् मन के प्रशमन का उपाय ही योग है। मन का प्रशमन अर्थात् मन का रम जाना या स्थिर हो जाना ही योग है।

1.5 योग का उद्‌देश्य

योग का उद्धेश्य हमारे जीवन का समग्र विकास करना है। या इसे ऐसे कह सकते है कि जीवन का सर्वांगीण विकास करना। सर्वांगीण विकास से तात्पर्य यहॉ शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक व सामाजिक विकास से है। योग जीवन जीने की कला है। योग एक ऐसा साधना विज्ञान है, जिसके द्वारा जन्म–जन्मो के संस्कार क्षीण हो जाते हैं। शारीरिक, एवं मानसिक निरोगता, स्वस्थता, व कुविचारों, कुसंस्कारों से मुक्ति मिलती है। सुसंस्कारिता, सुविचार के द्वारा अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जीवन उच्च व दिव्य बनता जाता हैं। आत्मदर्शन व आत्मसाक्षात्कार के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

कुछ ग्रन्थों में योग के उद्धेश्य को इस तरह परिभाषित किया गया है–

''द्विजसेवित शाखस्य श्रुति कस्पतरोः फलम्।

शमन भव तापस्य योगं भजत सत्तमाः।।''

–गोरक्ष संहिता

अर्थात् वेद रूपी कल्प वृक्ष के फल योग शास्त्र है। इस योगशास्त्र के सेवन से संसार के तीन प्रकार के ताप का शमन होता हैं।

शिव संहिता में इस प्रकार वर्णित है –

''यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम्।

तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्य भावितम्।।''

– शिव संहिता

जिसके जानने से यह संसार जाना जाता है, ऐसे योग शास्त्र को जानने के लिए परिश्रम करना चाहिए। अन्य शास्त्रो को जानने का प्रयोजन फिर कुछ नहीं रह जाता है।

योग अध्ययन का मुख्य उद्धेश्य ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना है। ऐसे योगियो व ईश्वर भक्तो का निर्माण करना है। जिनका भावनात्मक स्तर दिव्य मानवताओं से, दिव्य योजनाओं से, दिव्य आकॉक्षाओं से उमंगित हो, वे सामान्य – साधारण मनुष्यों की तुलना में कहि अधिक उत्कृष्ट व समर्थ होते है। ऐसे व्यक्तियों की कार्य क्षमता उच्च स्तर की होकर जीवन दिव्य, उच्च होता है।

योग विद्या के अलग – अलग विषयो पर देंखे – यदि हम अष्टॅाग योग के अन्तर्गत देखे तो हम पाते है कि महर्षि पतंजलि ने अष्टॅाग योग के द्वारा शरीर शुद्धि के साथ – साथ चरित्र की शुद्धि का उपाय बताया गया है। अष्टांग योग का उद्धेश्य चरित्र की शुद्धि कर स्थूल शरीर के विकर्षणों को दूर करना है। यम, नियम हमारे व्यवहार को चरित्र को शुद्धि सात्विक व निर्मल बनाते है। व्यवहार शुद्ध हुए बिना किसी भी साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, और मनुष्य का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता है। तब शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति की जा सकती है। चारित्रिक स्वास्थ्य यम – नियम का मूल उद्धेश्य है, और शारीरिक स्वास्थ्य आसन – प्राणायाम का मूल उद्धेश्य है। प्रत्याहार का मूल उद्धेश्य जीवन में संयम हैं। संयमित जीवन शैली प्रत्याहार द्वारा ही किया जा सकता है। धारण ध्यान समाधि का उद्धेश्य मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति है। धारण द्वारा चित्त का विखराव, भटकाव रोक कर एक स्थान विशेष उसको लगााना है, और अपने – अपने नियम लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करना ध्यान का उद्धेश्य है, और समाधि ध्यान की उकृष्ट अवस्था है, जिसके द्वारा आत्म साक्षात्कार प्राप्त किया जा सकता है। समाधि की उच्चतम अवस्था में परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। समाधि का उद्धेश्य मोक्ष की प्राप्ति है, जो कि मनुष्य मात्र का परम लक्ष्य है।

महर्षि पतंजलि कृत योग सूत्र में वर्णित क्रियायोग पर दृष्टि करें तो क्रियायोग का उद्धेश्य कर्मयोग, भक्तियोग, तथा ज्ञानयोग की प्राप्ति हैं। तप को अपनाकर कर्म करने की प्रवृति होती है। मनुष्य कर्मयोगी बनता है, और स्वाध्याय का उद्धेश्य है, ज्ञान की प्राप्ति और ईश्वर प्राणिधान का उद्धेश्य है, भक्ति की प्राप्ति। इस प्रकार कर्म, ज्ञान, भक्ति का समन्वय मनुष्य के लिए आवश्यक है। जो कि मनुष्य जीवन को उच्च व दिव्य बनाता है। क्रियायोग का उद्धेश्य है, क्लेशों जो कि मनुष्य जीवन में कलुषता लाते है, दुख देते है, उन क्लेशों को क्षीर्ण कर सर्वांगीण विकास करना। मनुष्य जीवन की आकुलता, कलुषता, पीड़ा, चिन्ता, तनाव आदि को खत्मकर सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति योग का मुख्य उद्धेश्य है। जिससे कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति दिव्य शान्ति एवं समरसत्ता को प्राप्त कर सकें। वही क्रियायोग क्लेशो को कमजोर कर समाधि की प्राप्ति में सहायक है। जब क्लेशो का पूर्ण रुपेण क्षय हो जाता है, तब समाधि की उच्चतम स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, और चित्त अपने मूल कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। तब आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, और पुरुष के लिए वही स्थिति कैवल्य की है। इस प्रकार क्रियायोग का उद्धेश्य क्लेशो को कम करके कैवल्य की प्राप्ति है।

आधुनिक युग में यदि देखा जाए तो योग का उद्धेश्य शारीरिक स्वास्थ्य या मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करना, धन अर्जित करना, शारीरिक सौन्दर्य की प्राप्ति, यश प्राप्ति तक ही सीमित रह गया है। किन्तु ये सभी गौंण है। योग का उद्धेश्य उस परम तत्व की प्राप्ति है। तीन पुरुषार्थ की पूर्ति करते हुए अन्ततोगत्वा मोक्ष की प्राप्ति ही योग का उद्धेश्य है।

1.6 योग का महत्व

प्रिय विद्यार्थियों यह योग विद्या इस आर्यावृर्त की अति प्राचीनतम विद्या है। यह योग विद्या प्राचीन काल से अब तक योगियों के ह्नदय में पवित्र मंदाकिनी के अविरल प्रवाह की तरह

प्रवाहित होती आ रही है। यह विद्या हमारे ऋषि – मुनियों द्वारा प्रदत्त ऐसा साधन विज्ञान है, जो मानव जाति के उद्धार करने में समर्थ है। योग विद्या द्वारा आत्मा का परमात्मा से मिलन सम्भव है। मस्तिष्क का शरीर का नियन्त्रण हो पाता है। व्यक्तित्व को सुसंस्कृत व सुमन्नत यदि बनाया जा सकता है, तो वह योग विद्या के द्वारा ही सम्भव है, अन्य द्वारा नहीं। यदि योग विद्या को मानव धर्म से अलग कर दिया जाए, तो मानव जाति का उद्वार सम्भव नहीं। योग मानव जाति के लिए वह दिव्य चक्षु है, जिससे प्राप्त योग, दिव्य दृष्टि द्वारा सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों को जाना जा सकता है। इसी योग साधना के द्वारा ही आत्म साक्षत्कार, आत्मदर्शन, तत्वदर्शन, दिव्यदर्शन होता है। इसलिए याज्ञवल्क्य स्मृति में भी कहा गया है –

'अयं तु परमो धर्मो यत्योगेनात्मदर्शनम्।'

अर्थात् जिस साधना द्वारा आत्म दर्शन और ब्रहम साक्षात्कार होता है, वह योग शास्त्र है। वह मानव मात्र का परम धर्म होता है। अतः योग का अनुष्ठान करना चाहिए। आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, से ही मुक्ति मिलती है। आत्मज्ञान के बिना यह सम्भव नहीं है, और आत्मज्ञान भी योग के अनुष्ठान किये दृढ़ अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता है। यह अनुष्ठान दीर्घ काल तक तो और कैसे हो उसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने 1/14 में इस प्रकार किया है –

'सतु दीर्घ कांल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़ भूमि।'

अर्थात् यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार पूर्वक सेवा कर श्रृद्धा के साथ करने से ही सिद्ध होता है। अतः योग साधना की सिद्धि के लिए उत्साह और अटूट साधना और योग्य गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। तभी योग साधना में प्रगति होती है। इस योग साधना में प्रवृत्त ऋषि मुनियों ने वेद ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार दीर्ध सुखी व स्वस्थ जीवन जीने की कला, इस योग विद्या को अपनाया। धीरे – धीरे यह योग विद्या लुप्त हो गयी थी। परन्तु आधुनिक युग के समसामायिक संकटो से उपजे रोग, भय, तनाव, चिन्ता आदि से ग्रस्त मनुष्य ने इस योग का मार्ग अपनाया। और यह योग विद्या अपने प्रभाव से अत्यन्त लोक प्रिय हो गयी। इस योग विद्या पर सम्पूर्ण विश्व में शोध कार्य हो रहे है। यह योग विद्या साधारण मनुष्य के लिए जितना उपयोगी है, उतना ही उपयोगी योग के मुमुक्षु साधको के लिए भी हैं। योग विद्या के द्वारा सम्पूर्ण स्वास्थ्य के साथ – साथ मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। इस योग साधना के द्वारा मनुष्य अटूट स्वास्थ्य, दीर्घायु, दिव्य जीवन, अलौकिक विभूतियॉ, मुक्ति, मोक्ष आदि सभी कुछ प्राप्त कर सकता है। परन्तु आज के आधुनिक युग में भाग दौड़ भरी जिन्दगी में मनुष्य रोगों से ज्यादा ग्रस्त है, और योग ऐसे में मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के साथ – साथ सामाजिक स्वास्थ्य भी प्रदान करता है। विकास के इस युग योग का क्षेत्र अत्सन्त व्यापक है व योग का अनेक क्षेत्रो में महत्व है। मानवीय जीवन के अनेक क्षेत्रों में योग का महत्व है, जिसका वर्णन इस प्रकार है –

1.6.1 – शारीरिक महत्व – योग साधना का शारीरिक स्वास्थ्य में महत्वपूर्ण भूमिका है। योग के आठ अंगों में तीसरा, चौथा अंग आसन व प्राणायाम से शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। योगासनो से शारीरिक शक्तियों को विकसित किया जाता है। जिससे शरीर ह्ष्ट – पुष्ट बनता है। उससे अंग प्रत्यंग की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है, तथा शरीर स्वस्थ व निरोग बनता है। आसन व प्राणायाम के द्वारा सभी अंग सुचारू रूप से कार्य करने लगते

है, तथा अंतस्रावी तन्त्र प्रभावित होता हैं, तथा ग्रन्थियो के स्राव सन्तुलित होते है। जिससे शरीर स्वस्थ होता है। योग एक स्वस्थ जीवन जीने की कला है। जिसे अपनाने से सुव्यवस्थित जीवन हो जाता है व शरीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

वही हठयोग के अभ्यास षट्कर्मो के द्वारा शरीर में व्याप्त मल बाहर निकलते है। शरीर शुद्ध होता है। कुपित हुआ वात, पित्त, कफ सन्तुलित होता है। वमन से कफ की निवृत्ति होती है। व पित्त की निवृत्ति होती है। वस्ति क्रिया से वात की निवृत्ति होती है। इस प्रकार तीनों दोषों की समअवस्था प्राप्त होती हैं। यही साम्यावस्था ही पूर्ण स्वास्थ्य है। जिसे आयुर्वेद में भी मान्यता दी गयी है।

प्राणायाम के अभ्यास से वायु का शुद्ध सात्विक अंश ज्यादा से ज्यादा प्रवेश करता है। जिससे जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है, तथा प्रश्वास के द्वारा अधिक से अधिक मात्रा में विजातीय द्रव्य बाहर निकलते है। रक्त शुद्ध होता हैं, तथा मन एकाग्र तथा शरीर को स्थिरता प्राप्त होती है। इस प्रकार योग साधना से रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। शरीर में स्फूर्ति, मन में उल्लास, बहुमुखी प्रतिभा का उदय व विकास होने लगता है।

योग के अनुष्ठान करने से वर्तमान में फैल रहे मनोदैहिक रोगो पर विजय प्राप्त की जा सकती है। योग एक ऐसी सुव्यवस्थित व वैज्ञानिक जीवन शैली है। जिसे अपनाकर अनेको प्राणघातक रोगो से बचा जा सकता है। आज विश्व स्वास्थ्य संगठन भी इस बात को मान्यता देता है कि वर्तमान में व्याप्त शारीरिक व मानसिक रोगो के उपचारार्थ योग एक अचूक चिकित्सा विधि है। जिसके द्वारा शारीरिक क्षमता में वृद्धि कर शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। श्वेताश्वतर उपनिषद में योग का शारीरिक महत्व इस प्रकार वर्णन किया गया है –

''न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।'' – 2/12

अर्थात् जिसने योग रुपी अग्नि में अपने शरीर को तपा लिया उस मनुष्य के शरीर में न तो कोई रोग होता है, और न ही उसमे बुढ़ापे के लक्षण प्रकट होते है, और न ही असमय उसकी मृत्यु होती है। ब्रहम विद्योपनिषद में कहा गया है –

योग के अभ्यासो के द्वारा जो भी श्रम या तप किया जाता है, वह कभी भी निरर्थक नहीं जाता है। सत्कारपूर्वक यत्नपूर्वक की हुयी साधना मनुष्य को तीनों तापो (दुःखों) से मुक्त करती है।

1.6.2 – मानसिक महत्व – योग के द्वारा शारीरिक के साथ – साथ मानसिक स्वास्थ्य को भी प्राप्त किया जा सकता है। आज के आधुनिक समाज में मानसिक रोगो की वृद्धि होती जा रही है। मानसिक रोग एक भयावहता का रूप लेते जा रहे है। जिनका निराकरण करने में आधुनिक विज्ञान असमर्थ है। इस तनाव जन्य परिस्थितियो और रोगों से निपटने के लिए योगाभ्यास एक सफल व कारगर चिकित्सा पद्धति है। जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त किया जाता है। योग द्वारा चित्त की वृत्तियों पर अंकुश लगाया जाता है। मन की चंचलता को कम कर मानसिक एकाग्रता प्राप्त की जा सकती है। बच्चों के मानसिक विकास की वृद्धि हेतु प्राणायाम के अभ्यास आवश्यक है। स्मरण शक्ति के वृद्धि कर प्रज्ञा का प्रकाश योगाभ्यास द्वारा सम्भव है।

मानसिक रोग मन से उपजते है। यदि मन स्वस्थ हो तो शरीर भी स्वस्थ रहता है। हमारे मन शरीर में धनिष्ठ सम्बन्ध है, मन शरीर को प्रभावित करता है। मन में विषाद होने की स्थिति में शरीर दुर्बल हो जाता है। वही यदि शरीर में रोग होने की स्थिति में मानसिक रोग उत्पन्न होते है। शरीर को यदि रोग धेरते है, तो कहि ना कहि उनका कारण दुर्विचार भी होता है। क्योकि जो हमारे मन में होता है वही शरीर में प्रकट होता है। तीव्र भावावेश कटुता, घृणा, द्वेष, चिन्ता, ईर्ष्या और क्रोध के आवेश से मनुष्य शरीर की ग्रन्थियो से होने वाले स्राव का सन्तुलन बिगड़ जाता है। जिससे कि कई रोग उत्पन्न होते हैं। क्रोध के तीव्र आवेश शरीर के लिए विशेष हानिकारक होते है, जिससे रक्त में विषैले रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होते है। जिससे मनुष्य की शक्ति और ओजस्विता का ह्रास होता है, और अनेको रोगो के साथ – साथ असामायिक ही वृद्धावस्था आने लगती है। जीवनी शक्ति का ह्रास होने लगता है। मन को प्रभावित करने वाली वासनाओ तथा कुविचारो को ही यदि योग साधना के द्वारा नष्ट कर दिया जाए, तो शरीर के सभी मानसिक रोग ठीक हो जाते है। मन के निर्मल होने से शरीर स्वस्थ होता है। महर्षि पतंजलि ने योग साधना के अन्तर्गत ऐसी चित्त प्रसादन की साधना बतायी है, जिससे हमारा मन निर्मल होता है। योगाभ्यास से कुविचार समाप्त होकर सुविचारो का उदय होता है। मनुष्य उर्ध्वरेता यानि ऊँची सोच वाला हो जाता है। मानसिक एकाग्रता की प्राप्ति होती है, तथा जीवन तनाव रहित हो कर, असीम मानसिक शक्ति की प्राप्ति होती है।

1.6.3 – आध्यात्मिक महत्व – प्रिय विद्यार्थियो मनुष्य जीवन का मुख्य उद्धेष्य है, मोक्ष की प्राप्ति। इस महान लक्ष्य की प्राप्ति का माध्यम हमारा मन है। यह मन ही है, जो कि बन्धन और मोक्ष का कारण है। जैसा की शास्त्रों में वर्णित है –

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।'

अर्थात् मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। इसलिए योग साधना में मन को ईश्वरोन्मुख बना कर तत्वज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है। योग के द्वारा अनेको जन्मों के संस्कारो द्वारा मलिन हुए चित्त का निर्मल का आत्मा के यर्थाथ स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है। योग युक्त होते ही हमारी इन्द्रियॉ जो कि स्वभाव से ही चंचल है, वह अर्न्तमुखी होने लगती है। योग साधना के अभ्यास से दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है, और इस योग दृष्टि के द्वारा ही सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों को उजागर किया जा सकता है। इस योग साधना द्वारा तत्वदर्शन, आत्मदर्शन, अतीन्द्रिय दर्शन, दिव्यदर्शन व ब्रहमसाक्षत्कार किया जाता है। अनेको ग्रन्थों में जिनका वर्णन मिलता है। घेरण्ड संहिता में योग के महत्व को निम्न प्रकार से वर्णन किया गया है –

''अभ्यासात्कादिषर्णामां यथाशास्त्राणि बोधयेत्।

तथा योगं समासाद्य तत्वज्ञानं च लभ्यते।।'' – 1/5

जिस प्रकार 'क' 'ख' अक्षारारम्भ का अभ्यास करते – करते शास्त्र का विद्वान बना जाता है। उसी प्रकार योग का अभ्यास करते –करते तत्व ज्ञान प्राप्त हो जाता है। योग वस्तुतः पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का साधन है। मोक्ष पद को प्राप्त करने का श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम साधन है। ऐसा शास्त्रों द्वारा सिद्ध हो चुका है।

1.6.4 – पारिवारिक महत्व – परिवार समाज की एक ईकाइ होती है। व्यक्ति के विकास की नींव एक परिवार ही होती है। परिवार निर्माण एक ऐसी विशिष्ट साधना है, जिसमे

विश्वास, श्रृद्धा, त्याग, संयम, तपस्या आदि प्रतिभा का परिचय देना पड़ता है। लोभ, मोह, अहंकार का त्याग कर सन्तोषी विन्रम व विवेकशील होकर अपने कर्तव्य कर्मों को निभाते हुए योग पथ पर चलता है, आदर्श सदगृहस्थ वही है। भारतीय शास्त्रो में गृहस्थ जीवन को गृहस्थयोग की संज्ञा देकर जीवन में इसका विशेष महत्व बताया गया है। परन्तु वर्तमान समाज में एकल परिवारो का बड़ता चलन तथा पाश्चात्य सभ्यता संस्कृति के अन्धानुकरण ने अनेको समस्याओ को जन्म दिया है। जिसमे नैतिक मूल्यो का ह्रास सा हो गया है। सुसंस्कृत परिवार की जगह उत्श्रृखल व असंगठित परिवार तथा अनैतिक आचरण देखने को मिल रहा है। इन सभी समस्याओ का समाधान योग में निहित है। योग के अन्तर्गत अष्टोग योग यम व नियम हमारे व्यवहारिक पक्ष की शुद्धि करते है, हमारा व्यवहार निर्मल बनाते है। योग युक्त जीवन जीने वाले मनुष्य एक अच्छे परिवार की रचना कर सकता है। क्योकि योग के अन्तर्गत जितनी साधना पद्धतियॉ है, उनके द्वारा सुझाये गये प्रेम, शान्ति, सहयोग, धैर्य, संयम, सहिष्णुता, साधना तथा सत्कर्म के मार्ग से ही जीवन सुखमय, उच्च व दिव्य बनाया जा सकता है। स्वार्थपरता और भौतिक सुखों को प्राप्त करने की चाह को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह के द्वारा नियमित किया जा सकता है। यम, नियम व अनुशासित जीवन पद्धति को अपनाकर पारिवारिक उन्नति की जा सकती है। इस प्रकार परिवार को कुसंस्कारों से मुक्ति तथा सुसंस्कारित तथा श्रेष्ठ जीवन योग द्वारा ही बनाया जा सकता है।

1.6.5 – सामाजिक महत्व – किसी भी समाज के उत्थान स्वस्थ व सुसंस्कारिक परिवार की अहम भूमिका होती है। स्वस्थ एवं सुसंस्कारित परिवार से ही एक आदर्श समाज की स्थापना होती है। इस आदर्श समाज की स्थापना में योग की भूमिका महत्वपूर्ण है। योग मनुष्य को शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ बनाता है, और एक स्वस्थ व्यक्ति ही स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है। आधुनिक समाज में मनुष्य धन कमाने तथा भौतिक संसाधनो को वटोरने तथा विलासिता पूर्ण जीवन विता रहा है। प्रतिस्पर्धा व उच्चतम चाह के लिए वह अनैतिक कार्यों को करता जा रहा है। नकारात्मक चिन्तन को प्रश्रय मिल रहा है। जिससे सामाजिक कुरीतियों या बुराईयों को बड़ावा मिल रहा है। नकारात्मक चिन्तन से अनेको शारीरिक व मानसिक रोग उत्पन्न होते है। योग के अन्तर्गत प्राणायाम का व आसनो का अभ्यास शारीरिक व मानसिक रोगों का निवारण कर उर्ध्वरेता यानि की ऊँची सोच वाला हो जाता है। विचार उच्च हो जाते है। जिसका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है। ज्ञानयोग, कर्मयोग व भक्ति जैसे साधन हमारे समाज पर सीधा प्रभाव डालते है। कर्म, भक्ति, ज्ञान का समन्वय जीवन को उच्च बनाता है। समाज को रचनात्मकता तथा भक्तिमय दिशा प्रदान करता है, जिससे मनुष्य के कर्मों में कुशलता विचारो में उच्चता व विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है। कर्मों में कुशलता तभी आती है, जब भक्ति के द्वारा विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है। तथा कर्म निष्काम भाव से होने लगते है। और इस प्रकार निष्काम भाव से कर्म की प्रेरणा नैतिक मूल्यो की प्रेरणा सत्य अहिंसा की प्रेरणा योग द्वारा मिलती है। जिससे आदर्श समाज की स्थापना की जा सकती है।

1.6.6 – आर्थिक महत्व – मानव जीवन में आर्थिक स्तर और योग विद्या का सीधा सम्बन्ध कहा जा सकता है। मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थ के मूल में आरोग्य की प्राप्ति कर धर्म के साथ – साथ अर्थ का उपार्जन किया जा सकता है। अपने आर्थिक स्तर को वही मनुष्य उच्च स्तर का बना सकता है जो निरोगी होगा। एक

निरोगी मनुष्य, स्वस्थ मनुष्य ही अपने आय के साधनो का विकास कर सकता है, और परिश्रम कर अपनी आय को बड़ा सकता है।

यौगिक अभ्यास के अन्तर्गत कर्मयोग निरन्तर कर्म करने की प्रेरणा देता है। जिससे कर्मयोगी बन मनुष्य अपने व्यवसाय को विस्तृत कर आय अधिक उपार्जित कर सकता है। यौगिक अभ्यास से कार्यक्षमता विकसित कर बड़े –बड़े उद्योगो के अन्तर्गत कार्यकरने वाले श्रमिको कर्मचारियो कार्यकुशलता व कार्यक्षमता को बड़ाया जा सकता है। जिससे आर्थिक क्षेत्र में लाभ व उत्पादकता में वृद्धि की जा सकती है। शरीर में रोग होने की स्थिति में मनुष्य का आर्थिक स्तर प्रभावित होता है। रोगोपचार में होने वाला व्यय व इसके दुष्प्रभाव शारीरिक व मानसिक रुप से भी प्रभावित करते है। और कार्यक्षमता भी प्रभावित होती है। योगाभ्यास के सतत् अभ्यास से मानसिक एकाग्रता तथा प्रतिरोधी क्षमता में वृद्धि होती है। जीवनी शक्ति प्रबल होती है। जिसमें आर्थिक सुसम्पनता लायी जा सकती है। बड़े – बड़े उद्योगपति व फिल्म उद्योग के प्रसिद्ध व्यक्ति योगाभ्यास के द्वारा अपनी कार्यक्षमता बड़ाते हुये देखे जा सकते है। वे आसन प्राणायाम व ध्यान के अभ्यास के द्वारा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करते है, और कार्य कुशलता से सम्पन्न करते है। वही स्कूल व कालेजो में योग प्रशिक्षक नियुक्त किये जा रहे है। जो कि योग विद्या से धन लाभ ले रहे है। आज पूरे भारत वर्ष में तथा अन्य देशों में योग केन्द्र संचालित किये जा रहे है। जिसमें शुल्क लेकर योग प्रशिक्षण दिया जाता है, तथा दूर – दूर से सैकडों सैलानी इस भारतीय विद्या को सीखने आते है। इससे भी आर्थिक लाभ प्राप्त होता है।

1.6.7 – नैतिक महत्व – योग व्यक्ति को नैतिक मूल्य सद्‌गुणों को विकसित करन में सहायक है। योग साधना द्वारा इन्द्रिय संयम कर नैतिक व सद्‌विचारो का और आदतों को विकसित किया जा सकता है। योग के अन्तर्गत यदि हम अष्टॉग योग की बात करे तो देखेगे कि इसके व्यवहारिक व चिकित्सकीय पक्ष है। अष्टॉग योग के अन्तर्गत यम (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रहमचर्य) और नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान) हमारे व्यवहार की शुद्धि करते है, व नैतिक मूल्यो को विकसित करते है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में प्रचलित नैतिक शिक्षा बालको में नैतिक गुणों को विकसित नहीं कर पाती हैं। जबकि योगानुष्ठान के द्वारा बालक व सभी आयु वर्ग के व्यक्ति में नैतिक गुण विकसित किये जा सकते है। योगानुष्ठान के द्वारा मन की शुद्धि होती है। शरीर की शुद्धि होती है। योगानुष्ठान करने वाले साधक की वुद्धि विकारो से रहित हो जाती है। तथा विवेक ज्ञान की प्राप्ति होती हैं। सही गलत का ज्ञान होने लगता है, और इस प्रकार मनुष्य में नैतिक गुणो को विकसित करने में योग की अपनी अहम भूमिका है। योग सूत्र में वर्णित क्रियायोग तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान यह साधना का क्रिया पक्ष है। क्रियायोग के तीन पक्ष है। तीनों पक्ष ऐसे है, जिससे व्यक्ति उत्कृष्ट चिन्तन, कुशल कर्म तथा सालीन व्यवहार वाला हो जाता हैं। योगागो के अभ्यास से इन्द्रिय संयम, समय संयम, विचारो में संयम तथा सुव्यवस्थित, अनुशासित जीवन हो जाता है। नैतिकता के गुण, पुण्य, भलाई, नेकी, सदाचार के मार्ग पर मनुष्य तीव्र गति से अग्रसर होने लगता है।

1.6.8 – चारित्रिक महत्व – योगविद्या एक आदर्श व उच्च चरित्र के निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। योगागो के सतत् अभ्यास से व्यक्तित्व का रुपान्तरण होता है। मात्र भक्ति योग के अभ्यास से ही व्यक्तित्व का रुपान्तरण किया जा सकता है। जिसका समावेश क्रियायोग के अन्तर्गत ईश्वर प्राणिधान में है। ईश्वर प्राणिधान

ईश्वर के प्रति पूर्ण रुपेण सम्पर्ण ईश्वर की उपासना से है। ईश्वर की उपासना से ईश्वरीय गुणो का समावेश होने लगता है। तत्पश्चात् इन्द्रियॉ तेजस्वी तपस्वी होने लगती है। मन एकाग्र व जीवन मर्यादित होने लगता है। तथा चरित्र उत्तम होने लगता है। यम नियम का अनुसरण करने पर सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रहमचर्य तथा तप स्वाध्याय, सन्तोष जैसे गुणो का जीवन में समावेश होने लगता है, तथा मनुष्य को वासना, कुविचारो, लोभ, मोह, प्रमाद आदि से छुटकारा मिलता है। तथा इन्द्रियो में संयम, विचारो में उच्चता, जीवन में उत्साह, सौन्दर्य का प्रवेश होता है, तथा उत्तम चरित्र प्राप्त कर जीवन दिव्य बनता है।

प्रिय विद्यार्थियो आप समझ ही गये होगे कि योग वास्तव में जीवन जीने की ऐसी कला है, जो कि वैज्ञानिक है। जिसका हमारे जीवन के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, पारिवारिक, नैतिक व चारित्रिक प्रत्येक पक्ष पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। हमारे ऋषि मुनियो द्वारा प्रदत्त यह योग विद्या आज केवल योगियो सिद्धो तक ही सीमित नहीं है। बल्कि जन – जन के बीच लोक प्रिय व आदर्श पद्धति बन चुकी है। आज योग के द्वारा सुव्यवस्थित, सुसंस्कारित व वैज्ञानिक जीवन शैली को अपनाकर मनुष्य स्वास्थ्य लाभ ले रहा है। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए शारीरिक व मानसिक रोगो के उपचार हेतु तथा कार्य क्षमता में वृद्धि हेतु, तनाव से मुक्ति हेतु व जीवन को दीर्घ आयुष्य व दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए योग का अनुसरण करते हुए देखा जा सकता है। योग की बड़ती मॉग इस बात को प्रमाणित करती है। योग की महत्ता स्वयं सिद्ध हैं, तथा प्राचीन काल में भी योग महत्ता व लोक प्रियता का वर्णन श्रीमद्भगवद् गीता में श्रीकृष्ण ने इस प्रकार किया है। योग के उत्कर्ष का वर्णन इसमे श्रीकृष्ण ने किया है –

''तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जनः।।'' **– गीता 6/46**

अर्थात् योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, और केवल शास्त्रो के जानने वाले अनुभव रहित ज्ञानियो से भी श्रेष्ठ माना जाता है। कर्म काण्ड़ियो से भी योगी श्रेष्ठ है। ऐसा ज्ञान इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन। शास्त्रों के ज्ञाता से तप से योगी को श्रेष्ठ बताया गया है। अत इस योग विद्या का अनुसरण कर मनुष्य जीवन का मुख्य उद्धेश्य मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

1.7 सारॉश

योग शब्द संस्कृत व्याकरण के 'युज' धातु से बना है। जिसका अर्थ है जुड़ना। जुडना़ एक ऐसी विद्या से जिससे की मनुष्य जीवन का सर्वागीण विकास हो, तथा वह ब्रहम विद्या की प्राप्ति या समाधि की प्राप्ति के लिए अग्रसारित हो सके। योग को महर्षि पतंजलि ने परिभाषित किया है। चित्त वृत्ति निरोध के रुप में चित्त वृत्ति के सर्वथा अभाव की स्थिति ही कैवल्य की स्थिति है। वेदो में पुराणों में योग की महिमा का गुणगान किया है। वही श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में कर्मो की कुशलता के रुप में परिभाषित किया है। इस प्रकार यह योग विद्या प्राचीन ग्रन्थो में महत्वपूर्ण अंग माना गया है।

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ ही गये होगे कि योग क्या है, योग का अर्थ क्या है, योग को किस प्रकार अनेक ग्रन्थो में परिभाषित किया गया है। योग विद्या जीवन जीने की ऐसी कला है। जिसमें मनुष्य अपने जन्म – जन्मान्तरों के कर्म संस्कार का क्षय करके अपना सर्वांगीण विकास कर मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। इस इकाई के

अध्ययन के बाद आप योग के उद्धेश्य व महत्व को समझ कर इस प्राचीनतम विद्या को अपना कर लाभान्वित होगे। इस विद्या को स्वयं तथा समाज में अनुभूत का अभिव्यक्त करेंगे।

1.8 शब्दावली

- पंचमहाभूत – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश।
- युज – जुड़ना।
- आत्मसाक्षात्कार – आत्म प्रबोध आत्मा का ज्ञान।
- योगागों – योग के अंगों के लिए प्रयुक्त शब्द।
- सात्विक – सत्व गुण युक्त।
- सहिष्णुता – सहनशीलता।
- उर्ध्वरेता – ऊँची सोच, उन्नति की ओर।
- ओजस्विता – तेजस्विता, प्रभाव, प्रकाश।
- षट्कर्म – वह 6 कर्म जिनका वर्णन हठयोग में किया गया है।
- गूढ़तम –जटिल, कठिन।
- विकर्षण – आकर्षण वह शास्त्र जिसमें आकर्षण सम्बन्धी तत्वों का वर्णन हो।
- अन्तःकरण – अन्तरात्मा, आत्मा।

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–विज्ञानानन्द सरस्वती। (2003), योग विज्ञानयोग। निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।

2–कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।

3–निरजनानन्द – (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।

4–कुमारी राज पाण्ड़ेय। (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली

5–व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।

6–योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।

7–मिश्र चन्द्र जगदीश (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए योग को परिभाषित कीजिए ?

2. योग का क्या उद्धेश्य है ? तथा मानव जीवन में इसके महत्व को समझाइये ?

3. आधुनिक युग के समसायिक संकटो को समाधान क्या योग द्वारा सम्भव है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई – 2 – योग का संक्षिप्त इतिहास

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्धेश्य
2.3 योग का संक्षिप्त इतिहास
    2.3.1 योग का उद्भव
    2.3.2 वैदिक काल
    2.3.3 उपनिषद काल
    2.3.4 दर्शनों का काल
    2.3.5 टीकाकाल
    2.3.6 भक्ति एवं हठयोग का उत्कर्ष काल
    2.3.7 आधुनिक काल
2.4 सारॉश
2.5 शब्दावली
2.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

योग विद्या अति प्राचीन काल से ही भारतीयमनीषियो के अन्तःकरण में विमल मन्दाकिनी की अविच्छिन्न धारा की तरह प्रवाहित होती आ रही है। योग हमारे पूर्वज व ऋषियो का साधनालब्ध ऐसा आन्तर विज्ञान है, जिसकी उपज हमारे समस्त दर्शन शास्त्र कहे जा सकते है। केवल दर्शन शास्त्र ही नही श्रुत्रि, स्मृति, उपनिषद, पुराण, धर्मशास्त्र तथा ज्योतिष आदि सभी विद्याए इसी योग शास्त्र के द्वारा प्राप्त हुई है। इस योग विद्या की एक कल्पतरू वृक्ष से तुलना की गयी है।योग की अलौकिकता, साक्षात्कृत चमत्कारिक सफलता की हमारे समस्त आर्ष वाग्मय में प्रशंसा की गयी है।इस योग साधना द्वारा आध्यात्मिक सत्ता का यर्थाथ रूप अनुभव तथा साक्षात्कार होता है। प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदाय के साधको ने योग की प्रशंसा की है, तथा इसके अनुसरण की प्रेरणा दी है।

योग वस्तुतः हमारे ऋषि महर्षियों द्वारा प्रतिपादित आर्ष ग्रन्थों से निकला हुआ ऐसा नवीनतम है, जिसे हमारे ऋषि मुनियो ने मानव कल्याण के लिए प्रतिपादित किया है। वेद, पुराण, उपनिषद, दर्शन तथा टीकाओं के योग का प्रचलन अवश्य ही था।

प्रस्तुत इकाई में योग के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन किया जा रहा है।

2.2 उद्धेश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप –

- योग के संक्षिप्त इतिहास का विश्लेषण कर सकेगें।
- वैदिक काल में योग के स्वरूप का अध्ययन कर सकेगें।
- उपनिषद का दर्शन काल में योग के स्वरूप का विश्लेषण कर सकेगें।
- भक्ति काल व हठयोग काल व टीका काल का अध्ययन कर सकेगें।
- योग के आधुनिक स्वरूप को समझ सकेगें।

2.3 योग का संक्षिप्त इतिहास

भारत में ही नहीं वरन् विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेदों में ही सर्वप्रथम योग का संकेत मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम, नवम् मण्डल में यह संकेत मिलता है कि प्रारम्भ में आर्यगण सांसारिक भोगो में ही पूर्णतया लीन थे, तथा इहलौकिक सुख – सम्पत्ति की कामना के लिए ईश्वर की स्तुति एवं दान व यज्ञ आदि कर्म किया करते थे। वेदो के मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रहमज्ञान था। इसके अतिरिक्त कर्मकाण्ड ब्रहमज्ञान को प्रेरित करने में सहायक थे।

वैदिक शिक्षा सभी प्रकार से मनुष्य के लिए उपकारी थी। उन मनुष्यो के लिए भी, जो कि अति मलिन अन्तःकरण वाले थे, तथा जो सांसारिक बन्धनो में बधे हुए थे। उन मलिन चित्त में ज्ञान का उदय नहीं हो सकता था। उनके चित्त की शुद्धि के लिए कर्मकाण्ड पर आधारित यज्ञ, जप, दान आदि कर्म आदि बताये गये। चित्त की शुद्धि के बाद जब उनमें ज्ञान ग्रहण करने की योग्यता उत्पन्न हो गयी तब उन्हें कर्मकाण्ड से हटाकर परमात्मा स्वरूप में लगाया गया है। जिसका स्पष्ट संकेत इस ऋचा में मिलता हैं –

'ऋचो अक्षरे परमे व्योम – समासतेः।'

– ऋग्वेद, 1/64/39

अर्थात् जिसे ब्रहम कहते है। जिसका अधिष्ठान परम् व्योम है। इसी में वेदो की ऋचायें एवं विश्व के समस्त देवो का निवास है, जो इस ब्रहम तत्व को नहीं जानता है। उसके लिए शब्दात्मिका ऋचायें निष्प्रयोज्य है, जो उस अक्षर ब्रहम को जानता है, वही ब्रहम सम्बन्धी चर्चाओ में स्थान पाने योग्य है। वेदो में प्रतिपाद्य विषय ब्रहम ज्ञान ही है, तथा ब्रहमज्ञानी व्यक्ति ही वेदज्ञानी हो सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि योग विद्याा का प्रारम्भ वेदो से ही हुआ।

कुछ विद्वानो का मत है, तथा आधुनिक शोधो से स्पष्ट हुआ है कि योग सिन्धु कालीन सभ्यता से प्रारम्भ हुआ है। पुरातत्वविदो ने कुछ समय पहले जो मोहन जोदड़ो आदि में धार्मिक अवशेष प्राप्त हुए है। उनमें जो नर देवता की मूर्ति मिली है, वह त्रिमुखी है, तथा वह एक योग मुद्रा में बैठी हुई है। इससे प्रतीत होता है कि सैन्धव कालीन सभ्यता में यौगिक विचार धारा का प्रचलन उस समय भी था। आधुनिक शोधो से पता चलता है कि सिन्धु सभ्यता, वैदिक सभ्यता के पश्चात् वैदिक मूलक सभ्यता है। यह सभ्यता भारतीय संस्कृति की प्रबल विशेषता लिये हुए संस्कृति थी जो कि मिश्रित संस्कृति से युक्त थी।

इस प्रकार उत्खनन से प्राप्त देवी – देवताओ की प्रतिमाये, आध्यात्मिक प्रतीक चिन्ह वैदिक कालीन चिन्हो से समानता लिये हुए है। इन्ही कारको के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता से भिन्न नहीं थी, वरन् वैदिक सभ्यता का ही अंग है। इससे यह स्पष्ट होता है कि योग सम्बन्धी विचार धारा का उल्लेख सर्वप्रथम हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है। वैदिक मन्त्रो की रचना योग का ही परिणाम कहा जा सकता है। ऋषि – मुनियो ने वैदिक मन्त्रो में इसे प्रकार प्रकट किया –

तद्यदेनांस्तपस्यमानान्ब्रहमा........

अर्थात् तपस्या परायण व्यक्तियो के हृदय मे स्वयंभू ब्रहमा आविर्भूत हुआ, इसलिए वह ऋषि कहलाए। इसी कारण वेदो को अपोरूषेय एवं ऋषियो को मन्त्र दृष्टा कहा गया है। इससे स्पष्ट होता हैं कि योग का प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल से पूर्व ही हो जाता है। योग को किसी काल से सम्बद्ध करना सही नहीं है। क्योकि यौगिक ज्ञान काल की सीमाओ से परे है, तथा मनुष्य की अन्तरात्मा से सम्बन्ध ज्ञान है।

अतः कहा जा सकता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही योग विद्या प्रचलित थी। इस बात की पुष्टि के लिए हमें योग के प्रथम वक्ता कौन थे, इस बात पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है –

2.3.1 – योग का उद्भव – योग अति प्राचीनतम विज्ञान है। वेद काल से लेकर आधुनिक काल तक के सभी ऋषि, सन्त, विद्वान, साहित्यकार, मनोवैज्ञानिक आदि योग की महिमा को मानते है। विभिन्न प्राचीन साहित्यो में योग के प्रथम वक्ता के सन्दर्भ निम्नलिखित वर्णन मिलता हैं – योग के आदि वक्ता का श्रेय हिरण्यगर्भ को दिया गया हैं। विभिन्न आर्ष ग्रन्थो में हिरण्यगर्भ का वर्णन इस प्रकार किया गया हैं।

- याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार –

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।'

याज्ञवल्क्य स्मृति 12/5

हिरण्यगर्भ योग के आदिवक्ता है अन्य कोई नहीं।

- महाभारत में योग के आदिवक्ता हिरण्यगर्भ का वर्णन इस सुक्ति से ज्ञात होता है –

''सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि स उच्यते।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।।''

महाभारत, 2/394/65

अर्थात् सांख्य के वक्ता परम ऋर्षि कपिल कहे गये हैं, और योग के प्राचीन वक्ता हिरण्यगर्भ कहे गए है।

- अद्भुत रामायण में तो स्पष्ट ही हिरण्यगर्भ को जगत की अन्तरात्मा बताया गया हैं –

'हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा।' – अद्भुत रामायण 5/6

- टीकाकार नीलकण्ठ ने महानिति च योगेषु श्लोकांश के अर्थ में कहा है कि ''योगेषु एष महानिति प्रथम कार्यम्।''

अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराज की यही महान इति है कि आपने वेदो से भी प्रथम योगविद्या अर्थात् पराविद्या का प्रादुर्भाव किया।

- श्रीमदभागवत् में भी इसी अभिप्राय की पुष्टि की गयी हैं –

''इदं हि योगेश्वर योगेनपुणं हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद् यत्।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणमने, भक्त्या दीधितोज्भिक्त दुष्कलेवर।।''

महाभारत 2/394/65।

अर्थात् हे योगेश्वर मनुष्य अनन्तकाल में देहाभिमान त्यागकर आपके निगुण स्वरूप में चित्त लगाए इसी को भगवान हिरण्यगर्भ ने योग की सबसे बड़ी कुशलता बताया हैं।

अतः यहॉ पर हिरण्यगर्भ को योग का प्रवक्ता और परमात्मा दोनो के रूप में माना हैं।

- हिरण्यगर्भ का ब्रहम रूप में वेदो में भी उल्लेख हैं –

''हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सा दाधार पृथिवी घामुतेमां
कस्मै देवाय द्धविषा विधेम्।।''

ऋग्वेद, 1/121/1, यजु0 अ0 13, मन्त्र 4।

अर्थात् सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुए, जो सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र पति है। जिन्होने स्वर्ग और पृथिवी को आधार किया। उन प्रजापति देव का हम ह्रदय द्वारा पूजन करते हैं। इस प्रकार प्राचीनतम वेद भी हिरण्यगर्भ योग के प्रवक्ता मानते है।

जब उपरोक्त साक्ष्य को पढ़कर यह प्रश्न मन में उठता है कि हिरण्यगर्भ से क्या आश्रय है ? हिरण्यगर्भ कौन है ?

हिरण्यगर्भ दो शब्दो से हिरण्यं और गर्भ से मिलकर बना है :–

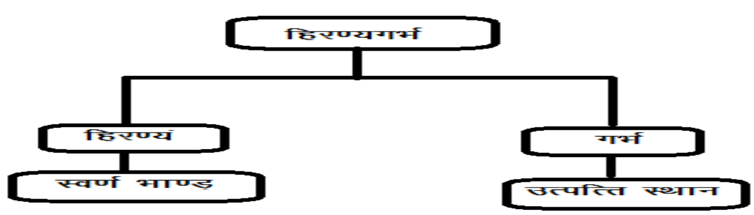

हिरण्यं से तात्पर्य स्वर्णभाण्ड़ से और गर्भ से तात्पर्य उत्पत्ति स्थान से है। अतः हिरण्यगर्भ को सोने के अण्ड़े से निकला हुआ चौमुखी ब्रहम माना जाता हैं। योग के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ को माना गया है। व्यक्ति रूप में संहिता काल में वे मन्त्र दृष्टा ऋर्षि थे, तो वही इस बारे में अभी विचार किया जाना है कि याज्ञवक्य तथा व्यास ऋर्षि द्वारा रचित हिरण्यगर्भ कौन हैं ?

सामान्यतः सात हिरण्यगर्भो का वर्णन आता हैं, जो निम्न है :–

- पहले हिरण्यगर्भ – सूर्य, – 1.तत्व रूप में, 2.ऋर्षि रूप में,
- दूसरे हिरण्यगर्भ – बुद्धि या महत्तत्व
- तीसरे हिरण्यगर्भ – आचार्य हिरण्यगर्भ
- चौथे हिरण्यगर्भ – शिव के शिष्य
- पॉचवे हिरण्यगर्भ – ऊर्जा ऋर्षि के पिता
- छठे हिरण्यगर्भ – ऋर्षि परमेष्ठी प्रजापति के पुत्र
- सतवें हिरण्यगर्भ – प्रजापति ब्रहमा जी

(1). पहले हिरण्यगर्भ – सूर्य को पहला हिरण्यगर्भ माना गया है। यहॉ सूर्य को दो रूपो में माना गया है। एक सूर्य देवता के रूप में और दूसरा आचार्य सूर्य के रूप में। तत्व रूप सूर्य देवता योग के आदिवक्ता है। यह किसी भी काल में प्रमाणित नही हो सका हैं। वही आचार्य सूर्य द्वारा रचित ग्रन्थ 'योगमार्तण्ड' का वर्णन भलई स्वर्गीय धनराज शास्त्री ने 'स्मृति संग्रह' नामक ग्रन्थ में किया है। परन्तु योगमार्तण्ड़ उपलब्ध नही है। प्रमाण के अभाव में आचार्य सूर्य भी आदिवक्ता नही कहे जा सकते हैं।

(2). दूसरे हिरण्यगर्भ – दूसरे हिरण्यगर्भ भौतिक तत्व महतत्व या बुद्धि तत्व को माना गया है। महाभारत में वर्णित हैं :– 'हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।' यहॉ बुद्धि या महतत्व को ही हिरण्यगर्भ कहा गया हैं। बुद्धि एक भौतिक तत्व है, योग जैसी विद्या का आदिवक्ता तत्वात्मक नही हो सकता है। अतः दूसरे हिरण्यगर्भ को योग का उपदेष्टा नही माना जा सकता है।

(3). तीसरे हिरण्यगर्भ – योगी अहिर्बध्न्यु ने तीसरे हिरण्यगर्भ का वर्णन किया है। महान योगी अहिर्बध्न्यु अपनी संहिता 'अहिर्बध्न्यु संहिता' में लिखते है कि आचार्य हिरण्यगर्भ ने दो योग संहिताओ, 'निरोध संहिता' और 'कर्मयोग संहिता' की रचना की थी। निरोध संहिता के नाम से अनुमानित है कि यह चित्त वृत्ति निरोध से सम्बन्धित होगा। परन्तु यह वर्तमान में उपलब्ध नही है। अहिर्बध्न्यु संहिता में वर्णित हिरण्यगर्भ योग का आदिवक्ता नही हो सकता, क्योकि योग का विस्तृत वर्णन और प्रचलन आहिर्बध्न्यु संहिता सं भी पहले श्रुति, स्मृति, ब्राहमण, आरण्यक तथा पुराणो में है। अतः इसमे वर्णित हिरण्यगर्भ को आदिवक्ता मानना तर्कसंगत नही है।

(4). चौथे हिरण्यगर्भ – चौथे हिरण्यगर्भ को योगशिखोपनिषद में कल्याणकारी शिव का शिष्य माना गया हैं। परन्तु उसके द्वारा बनाये गये किसी भी योग शास्त्र का प्रमाण नही मिलता, अतः योग के आदिवक्ता हिरण्यगर्भ ये नही हैं।

(5). पॉचवें हिरण्यगर्भ – पॉचवे हिरण्यगर्भ को ऋर्षि रूप में माना गया है। यह उत्तम नामक मन्वनतर के ऊर्जा ऋषि के पिता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके द्वारा वर्णित कोई भी मन्त्र या इनका सूक्त वेदो में उपलब्ध नही है, और साथ ही साथ उनकी योग सम्बन्धी कोई कृति उपलब्ध नही हैं। अतः ये भी योग के आदिवक्ता या उपदेष्टा हिरण्यगर्भ है ही नही।

(6). छठे हिरण्यगर्भ – छठे हिरण्यगर्भ ऋषि परमेष्ठी प्रजापति के पुत्र थे। इनकी एक कन्या और आठ पुत्र सहित नौ सन्ताने थी। सभी सन्ताने ऋग्वेदीय मन्त्रदृष्टा ऋषि हुयी। इनकी सन्तानो में 127 मन्त्र दिये, इनमें हिरण्यगर्भ के केवल 10 मन्त्र थे, जिनका वर्णन 10वे मण्डल के 121वे सूक्त के 1–10वे मन्त्र तक मिलता हैं। इन मन्त्रो में कही पर भी योग सम्बन्धी कोई वर्णन नही मिलता हैं।

(7). सातवें हिरण्यगर्भ – सातवे हिरण्यगर्भ स्वयं प्रजापति ब्रहमा जी हैं। सृष्टि निर्माण के लिए प्रजापति ब्रहमा जी ने सर्वप्रथम योग रूप तप किया और जीवसृष्टि रचित की थी। ब्रहमा जी ने ब्रहम संहिता नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वेदो में अनेक ऐसे मन्त्र जो योग का प्रतिपादन करते है, और प्रजापति ब्रहमा ही चारो वेदो के ज्ञाता हैं।

अतः सृष्टि के आदिकालिक देव और वेदज्ञ होने के कारण ब्रहमा जी (सातवें हिरण्यगर्भ) को ही योग का वक्ता या आदि उपदेष्टा मानना स्पष्ट ही न्यायसंगत एवं तर्कसंगत हैं।

पूर्व में वर्णित उपरोक्त तथ्यो के आधार पर हम कह सकते है कि एक दूरदर्शी, वैज्ञानिक, तत्वदर्शी ऋषि हुए जिन्होने मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्रदान करने वाली योग विद्या को सूत्र रूप में महर्षि पतंजलि ने समेटा और योगसूत्र नामक महान ग्रन्थ की रचना की। सृष्टि के प्रारम्भ के साथ ही मनुष्य के दुःखो के शमन हेतू योग विद्या सहज ही प्राप्त रही है। मावन के अलग – अलग कालो में योग के अलग – अलग स्वरूपो को आत्म सार किया जिसका वर्णन निम्न हैं :–

2.3.2 – वैदिक काल – वेद को सभी सत्य विद्याओ की पुस्तक कहा जाता हैं। यह मान्यता है कि वेदो में मानव जीवन की समस्त समस्याओ का समाधान निहित है। सत्यविधा के अन्तर्गत ब्रहम के स्वरूप का बोध कराने वाली ब्रहमविद्या अर्थात् योगविद्या प्रमुख है।

वेदो में ऋग्वेद की 21 शाखाएँ, यजुर्वेद की 101 शाखाएँ, सामवेद की 1000 शाखाएँ और अर्थवेद की 6 शाखाओ सहित कुल 1131 शाखाएँ वर्तमान में उपलब्ध हैं। वेद की इन सभी शाखाओ में योग परक मन्त्र मिलते है। यजुर्वेद के इस मन्त्र में योगाभ्यास करने का उपदेश मिलता हैं, जिनका वर्णन निम्न है :–

''युजे वॉ ब्रहम पूर्व्य नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्याति तस्थुः।''

– यजुर्वेद 11/5

वही ऋग्वेद में :– 'तं पाकेन मनसा अपश्यम्।'' ऋ0 1/16/17 में पवित्र मन का वर्णन है। 'ऋतधीतय आ गत सत्यधम्मीणा' के मन्त्र द्वारा ऋग्वेद में सत्य, अहिंसा के व्यवहार को

आदर्श व्यवहार बतलाया गया है। सत्य, अहिंसा योग के यम के अंग है। वेदो में यम एवं नियम के सभी अंगो का वर्णन है। हठ योग में वर्णित अंगो का भी वर्णन है :–

''अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।''

– अथर्ववेद 10/1/2/31

इसमें मावन देह को आठ चक्रो नव द्वारो से युक्त एक अपराजेय देव नगरी कहा है। योग की ही भॉति वेदो में ओंकार को ब्रहम का स्वरूप माना गया हैं :– ''ओम् खं ब्रहम।'' 40/17। योग में ब्रहम का साक्षात्कार करना अपने स्वरूप में स्थिति होना मावन जीवन का परम लक्ष्य माना गया हैं, और इस स्थिति को समाधि की संज्ञा दी गयी है। वेदो में भी समाधि का वर्णन इस प्रकार मिलता है।

''स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् गमद् बाजे भिरा स नः।''

– ऋ0 1/5/3/1, सा0 30/2/1011 अथर्व0 20/26/9

अर्थात् इसमें ब्रहम का समाधि की स्थिति में दर्शन हेतू आह्वान किया गया है, और ऋतरम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति की इच्छा की गयी है। इसमें ॠद्धि – सिद्धि सहित ईश्वर प्राप्ति की इच्छा की गयी है।

अतः उपरोक्त विवरणो के आधार पर हम कह सकते है कि योग विद्या के विभिन्न अंगो का चारो वेदो में भिन्न – भिन्न स्थानो पर वर्णन मिलता है।

2.3.3 – उपनिषद का काल – भारतीय आध्यात्मिक वाङ•मय में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उपनिषद वैदिक साहित्य और दार्शनिक चिन्तन की विचारधारा से युक्त है।

'उपनिषद' शब्द 'उप' नि उपसर्गक सद् धातु से क्लिप प्रत्यय जोड़ने से निष्पन्न हुआ हैं। सद् धातु के तीन अर्थ– प्रथम विशरण अर्थात् नाश होना। द्वितीय गति अर्थात् प्राप्त होना एवं तृतीय अवसादन शिथिल करना है। अतः उपनिषद वह आध्यात्मिक विद्या है, जो तृष्णा, अविद्यादि का नाश करके ब्रहम की प्राप्ति का ज्ञान देती है। जिससे सभी दुःखो का सर्वथा शिथिलिकरण हो जाता हैं। मुक्तिकोपनिषद में 108 उपनिषद का वर्णन है, जिसमें 10 उपनिषद ऋग्वेद से, 19 शुक्लयजुर्वेद से, 32 कृष्णयजुर्वेद से, 16 सामवेद से तथा 31 अथर्ववेद से सम्बन्ध है। कही – कही पर 223 उपनिषदो का उल्लेख हैं।

उपनिषदो में शंकराचार्य के भाष्य युक्त उपनिषद ईश, केन, कठ, प्रश्न, मण्डुक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक आदि उपनिषदो में योग विद्या का विस्तार से वर्णन हैं। उपनिषदो का प्रमुख प्रतिपादन विषय ब्रहमविद्या ही है।

- कैवल्योउपनिषद में ऋद्धा, भक्ति और ध्यान के द्वारा आत्मा को जानने को योग कहा हैं। यथा – ''ऋद्धा भक्ति योगादवेहि।''
- अमृतनादोपनिषद में प्रत्याहार, धारणा, प्राणायाम, तर्क और समाधि इन छः अंगो को योग कहा गया है। यथा – ''प्रत्याहारस्तथा ध्यान प्राणायामौऽथ धारणा।

तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगोयोग उच्यते।।''

- वही योगशिखोउनिषद में मन्त्र योग, लय योग, हठ योग और राज योग इन चारो को चतुर्विध योग बताया है। इसे महा योग की संज्ञा दी गयी है।
- वही मण्डुक उपनिषद में कहा गया है कि ब्रहम हृदय में ज्योतिषमान रूप में विद्यमान हैं। उसके स्वरूप व स्थिति को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही योग है।

यथा – ''अन्तः शरीर ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्चन्तियतयः क्षीण दोषाः।''

– मण्डुक 3/1/5

2.3.4 – दर्शनों का काल – प्राचीन भारतीय दर्शनो में षड्दर्शन (छः दर्शन) महत्वपूर्ण है, वे है – सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, योग और वेदान्त महत्वपूर्ण है। जैन एवं बौद्ध दर्शन भी यौगिगक विचारधारा से सम्बन्धित दर्शनशास्त्र है। सांख्य दार्शन के वक्ता महर्षि कपिल, मीमांसा के वक्ता जैमिनी, न्याय के वक्ता महर्षि गौतम, योग दर्शन के वक्ता महर्षि पतंजलि, वेदान्त के वक्ता आचार्य शंकर, जैन दर्शन के वक्ता महावीर और भगवान बुद्ध बौद्ध दर्शन के प्रणियता हैं। कणदि ने वैशेषिक दर्शन की रचना की।

- जैन दर्शन में ऋद्धा को 'सम्यक दर्शन' की संज्ञा देते हुए इससे तत्व प्राप्ति बतलायी है। यथा – ''तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग दर्शनम्।'' – तत्वार्थ सूत्र 1–2
- जैन दर्शन में यमो (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह) को पंचव्रतो की संज्ञा देते हुए इन्हे धारण करने का निर्देश दिया गया है। ''ब्रहमचर्येण तपसा देवाः मृत्युमपाहनता।''
- जैन मत के अनुसार ब्रहमचर्य के तप के द्वारा ही देवताओ को मृत्यु पर विजय प्राप्त की है। ब्रहमचर्य का वर्णन तत्वार्थसूत्राधिगमभाष्य 9•6 में भी मिलता है।
- जैन आचार्य हरिभ्रद सूरि में योग की आठ दृष्टियॉ बतायी है। यथा :– ''मित्रा तारा बला दीप्ता स्थिरा कान्ता प्रथा परा नामानि योगदृष्टिनां।''
- योग की ही भॉति जैन दर्शन में मिथ्यादर्शन (अविद्या) को बंधन बताते हुए समग्र कर्मो से मुक्त होकर मोक्ष द्वार अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का वर्णन है।
- मैत्रायण्युपनिषद (6/25) में भी प्राण मन, इन्द्रियो को वाह्य विषयो विमुख कर इन्द्रियो को मन में और मन को आत्मा में लगाकर प्राण को साधने को कहा गया है। यथा :–

  ''एकत्वं प्राण मनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
  सर्वभाव परित्यागों योग इत्याभिधीयते।।''

  – मैत्रायण्युपनिषद 6/25

- उपनिषदो में यम – नियम के विभिन्न अंगो का वर्णन मिलता है। बृहदारण्यकोपनिषद में यज्ञ, दान एवं तप से ब्रहम (आत्मतत्व) को जानने को कहा गया है।

  यथा :– ''ब्रहमण विविदषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा।''

— बृहदारण्यकोपनिषद 4/4/22।

- वही शाण्डिल्योपनिषद (1/1) में आठ आसनो स्वस्तिकासन, पद्यमासन, गोमुखासन, सिद्वासन, सिंहासन, भद्र और मयूर को परिभाषित किया है, और इन्हें आसानान्यष्टौ की संज्ञा दी है।
- मण्डुकपनिषद (2/2/3) में 101 नाड़ियो का वर्णन है तथा दर्शनोपनिषद तीन में 7200 नाड़ियो का वर्णन है। जिसमें 14 नाड़ियो को प्रमुख बतालाया गया है। दर्शनोपनिषद (6/11/12) में नाड़ी शुद्धि को महत्वपूर्ण बताया गया है।
- ध्यानबिन्दुपनिषद श्लोक 65 — 68 में कुण्डिलिनी के उर्ध्वगमन द्वारा सुषुम्ना का भेदन काके मोक्ष प्राप्त करने की बात कही गयी है।

अतः उपनिषद में योग का बोधगम्य एवं अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। उपनिषद यह संदेश देते है कि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को जानना और उसे अपने जीवन में उतारना मानव जीवन का परम धर्म है।

''बन्धहेत्वभावनिर्जरायाम।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।।''

— तत्वार्थसूत्र 10.5.3।

- **बौद्ध दर्शन —** इस प्रकार बौद्ध दर्शन में अष्टांग योग के समान ही अर्याष्टिगिक मार्ग का वर्णन है, और यम के समान पंचशील के सिद्धान्त का वर्णन है। बौद दर्शन में योगागो को आसन, प्राणायाम, ध्यान का भी वर्णन प्राप्त होता हैं। जिस प्रकार विभूतियॉ योग मार्ग का उन्नति में बॉधक है, ठीक उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में शिष्यो के चमत्कारिक प्रदर्शन उनके निर्वाण में बॉधक माने गये है। बौद्ध दर्शन में योग की ही भॉति ही ब्रहम तत्व का ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश है, और इसे निर्वाण की संज्ञा दी गयी हैं।
- **वेदान्त दर्शन —** योग की भॉति ही वेदान्त में ब्रहम को सीमारहित माना गया हैं।

''नात्मा शरीरसम्बन्धो शरीरमपि नात्मनि।
मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा।।''

— योग वशिष्ठ 6.1.6.6।

अर्थात् आत्मा शरीर से कोई सम्बन्ध नही होता, वह सामान्य और विशेष से रहित है। जब व्यक्ति यह भेद जान लेता है। तो वह ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त कर लेता हैं। वेदान्त के साधन चतुष्टय (नित्य–अनित्य, वस्तु विवेक, वेराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षत्व) को साधन बनाकर ब्रहम ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश दिया है। ये साधन योग में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग के समान है।

ब्रहम सूत्र (4/1/7) में 'आसीनः सम्भवात।' में आसन में बैठकर उपासना करने को कहा गया है। वही ब्रहम सूत्र में 'ध्यानाच्च' में चेष्टारहित होकर चित्त को एकाग्र करने का निर्देश हैं।

- **सांख्य दर्शन** – सांख्य वक्ता महर्षि कपिल ने सांख्य सूत्र 3/30 में 'रागोपहितिध्यनिम्' में ध्यान का वर्णन किया है।

'धारणासनस्वकर्मणातत्सिद्धि' (सांख्य सूत्र 3/32) में धारणा और अन्य यौगिक कर्मो द्वारा वृत्ति निरोध समाधि को प्राप्त करने का आदेश दिया है।

'निरोछदिविधारणाभ्याम्।' (सांख्य सूत्र 3/33) इस सूत्र में प्राणायाम की उपयोगिता सिद्ध होती है।

- **न्याय दर्शन** – न्याय दर्शन में यम, नियमो और अन्य आध्यात्मिक विधि द्वारा आत्मा के संस्कार की बात कही है। यथा –

  'तदर्थ यमनियमाभ्यात्मसंस्कारो योगाक्चाध्यात्म विध्युपाये।' – न्याय सूत्र 4/2/46।

इस प्रकार अभ्यास द्वारा समाधि की प्राप्ति का निर्देश हैं।

यथा – 'समाधि विषेषाभ्यासात।' – न्याय सूत्र 4/2/38।

- **वैशेषिक दर्शन** – वैशेषिक दर्शन में महर्षि कर्णाद योग से मन के संयोग द्वारा आत्मासाक्षात्कार का वर्णन करते है। यथा – 'तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्।' वैशेषिक सूत्र 9/1/12। वही योग सूत्र में महर्षि पतंजलि योग हेतू अभ्यास और वैराग्य, क्रियायोग और अष्टांग योग का वर्णन क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के साधको हेतु प्रशस्त है।

दर्शनो का काल चौथी शताब्दी तक चला। चौथी शताब्दी के बाद से टीका ग्रन्थो का काल आरम्भ हुआ।

2.3.5 – टीकाकाल – टीका काल का समय चौथी शताब्दी से 10वीं शताब्दी तक माना गया है। इस काल पर विभिन्न दर्शो से सम्बन्धित अनेक भाष्य, व्याख्या, वार्तिक और टीकाएँ लिखी गयी। इसके द्वारा सूत्रों की जटिलता दूर हुई। इस काल में मीमांशा दर्शन में कुमारिलभट्ट और प्रभाकर ने मीमांशा भाष्य लिखा। इसी तरह वेदान्त दर्शन में शंकर और रामानुजप्रभृति ने वेदान्त भाष्य लिखा। सांख्य दर्शन में विज्ञान भिक्षु ने सांख्य प्रवचन भाष्य लिखा। न्याय सूत्र पर वात्स्यायन ने न्याय भाष्य लिखा। इसी तरह योग से सम्बन्धित महत्वपूर्ण दर्शन योग दर्शन पर भाष्य ने योगभाष्य लिखा। ये भाष्य सूत्रो के समान ही महत्वपूर्ण स्थान रखते है। क्योकि सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त रूप में होने के कारण सामान्य व्यक्तियो के लिए इसके उचित अर्थ को समझना आसान नहीं था। परन्तु भाष्य सूत्र के उपयुक्त अर्थ को अत्यन्त सरल रूप में प्रस्तुत करता है।

विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति मिश्र, भोजदेव, नागोजी भट्ट आदि ने ही टीका काल में ही अपनी महत्वपूर्ण भाष्य एवं टीकाएँ लिखी। इसके अन्य दार्शनिक विचारको द्वारा अनेक उपयोगी ग्रन्थ, टीकाएँ और भाष्य की रचना इसी काल में की गयी। इसी कारण इसे भारतीय दर्शन का स्वर्णयुग भी कहा जाता है।

2.3.6 – भक्ति एवं हठयोग का उत्कर्ष काल – लगभग 10वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक भक्ति एवं हठयोग के उत्कर्ष का काल माना गया है। भक्ति द्वारा ब्रहम प्राप्ति और हठयोग की विभिन्न क्रियाओ का प्रचलन इसी काल में हुआ। भक्ति से तात्पर्य ईश्वर के

प्रति उत्कट प्रेम से है। इसी काल मे मीरा, रसखान, चैतन्य महाप्रभु, कबीर दास, तुलसीदास, सूरदास की भक्ति की धारा अत्यन्त प्रचलित हुई।

हठ योग में चन्द्र स्वर और सूर्य स्वर के मिलन से सुषुम्ना द्वारा सोई हुई कुण्डिलिनी को उर्ध्वगमित किया जाता है। कुण्डलिनी जागरण हेतू हठ योग के सप्तांगो का प्रचार – प्रसार इसी काल में हुआ। इसी काल में नाथ परम्परा प्रचलित हुई तथा नव नाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धर नाथ, गोरक्ष नाथ, चर्पटी नाथ, कानिफा नाथ भर्तृहरि नाथ, गोपीचन्द्र नाथ को नाथ सम्प्रदाय का महान प्रतिनिधि माना गया। तन्त्र योग का उदय भी इसी काल में हुआ। इसी काल में अनेक कुप्रथाएँ अन्धविश्वास आदि समाज में व्याप्त हो गये। भारत के आश्रमो, संस्थानो, ग्रन्थो, परम्पराओ का इस्लाम और ईसाई आक्रमणों द्वारा विध्वन्स हो गया।

2.3.7 – आधुनिक काल – यह पुनरूत्थान का काल माना जाता है। इस काल का आरम्भ 19वीं शताब्दी से हुआ। यद्यपि भारत अति प्रीन काल से ही अपनी एक विशिष्ट आध्यात्मिक छवि आध्यात्म के कारण ही बनाये रखने में सफल रहा है। प्राचीन काल से ही अनेको छोटे –बड़े आध्यात्मिक सम्प्रदाय यहॉ पुष्पित व पल्लवित होते रहे है। ये सम्प्रदाय बहुत कम सिद्ध योगियो या तपस्वियो के संरक्षण में योग शिक्षा के प्रचार – प्रसार में लगे रहते थे।

14वीं व 15वीं शताब्दी में योग के सन्दर्भ में अनेको भ्रान्तियॉ फैलाने की कोशिश की गयी। परन्तु भारत वर्ष ऐसा सौभाग्यशाली देश है, जब – जब यहॉ धर्म की हानि हुई या यहॉ विकृतियॉ उत्पन्न हुई (विशेषतः योग या आध्यात्म के क्षेत्र में) तब कोई ना कोई महापुरूष उत्पन्न होते रहे, और सही मार्गदर्शन करते रहे। इन्ही महापुरूषो की श्रेणी में स्वामी कुवल्यानन्द जी, स्वात्माराम जी, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी लक्ष्मणानन्द जी आदि ने योग परम्परा को आगे बढ़ाया। स्वामी कुवल्यानन्द जी ने कैवल्य धाम नामक संस्था का निर्माण किया। स्वामी शिवानन्द जी ने दिव्य जीवन संघ की संस्थापना की। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी ने, 1956 में अन्तर्राष्टीय योग मित्र मण्डल की स्थापना कर योग संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने का, व योग शिक्षा के प्रचार –प्रसार का बीड़ा उठाया। विश्व के मानव को योग परम्परा से अवगत कराने के लिए परमहंस सत्यानन्द जी द्वारा ही 1963 में बिहार योग विद्यालय की स्थापना की। अपनी विशिष्ट योग प्रशिक्षण पद्धति के कारण यह एक ख्याति प्राप्त संस्था है, जो देश विदेशो में योग विद्या को वैज्ञानिक कसौटियों पर अनुसन्धान करके योग विद्या को नयी दिशा दे रही है। इसी प्रकार योगी श्यामाचरण लाहिड़ी जी ने क्रियायोग विधि के माध्यम से प्रचार – प्रसार किया।

आचार्य श्रीराम शर्मा जी ने हरिद्वार में शान्तिकुंज व देवसंस्कृति विश्वविद्यालय व ब्रहमवर्चस्य की स्थापना कर योग के ज्ञान व विज्ञान को विश्वव्यापी पहचान दी। योग की विविध प्रक्रियाओं कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मन्त्रयोग, नादयोग, हठयोग के साथ – साथ यज्ञ चिकित्सा, जड़ी – बूटी चिकित्सा पर अनेको अनुसन्धान ब्रहमवर्चस्व व देव संस्कृति विश्वविद्यालय में हो रहे है। आज अनेको विश्वविद्यालयो व संस्थानो में योग शिक्षा विभिन्न पाठ्यक्रम चल रहे है। जिसमे योग में प्रमाण पत्र, डिप्लोमा, स्नात्कोत्तर व पी0 एच0 डी0 आदि पाठ्यक्रम संचालित हो रहे है। अब योग विषय को अध्ययन, अध्यापन हेतू विश्व विद्यालय अनुदान आयोग (यू0 जी0 सी0) ने भी स्वीकृति प्रदान कर दी है।

स्वामी रामदेव जी ने योग का प्रचार – प्रसार विश्व में जन – जन तक पहुॅचाकर स्वास्थ्य के क्षेत्र में जन मानस को जागरूक किया हैं। उन्होने पतंजलि योगपीठ की स्थापना कर ऋषिकुल पद्धति पर आधारित शिक्षा पद्धति का प्रारम्भ किया है। वर्तमान में योग के प्रचार – प्रसार में तथा योग शिक्षा के द्वारा शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतू अनेको संस्थान अनवरत चल रहे है, जो निम्न है। कैवल्यधाम, विहार योग भारती, योगदासंत्संग सोसाइटी, पतंजलि योगपीठ, विवेकानन्द योग संस्थान, मोराजी देसाई, राष्ट्रीय योग संस्थान दिल्ली, अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी, गुरूकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय, देव संस्कृति विश्व विद्यालय, उत्तराखण्ड मुक्त विश्व विद्यालय, कुमॉऊ विश्व विद्यालय, गड़वाल विश्व विद्यालय आदि।

अभ्यास प्रश्न –

क. योग के आदि वक्ता कौन है ?

अ. महर्षि पतंजलि — ब. हिरण्यगर्भ

स. महर्षि कपिल — द. स्वामी सत्यानन्द

ख. षड्दर्शनो की संख्या कितनी है ?

अ. 6 — ब. 7

स. 10 — द. 11

ग. सातवे हिरण्यगर्भ कौन है ?

अ. प्रजापति ब्रहमा — ब. ऊर्जा ऋषि

स. सूर्य — द. इनमें से कोई नहीं

घ. आधुनिक काल का आरम्भ कब हुआ ?

अ. 10वीं शताब्दी — ब. 19वीं शताब्दी

स. 5वीं शताब्दी — द. 12वीं शताब्दी

2.4 सारांश

प्रिय विद्यार्थियो प्रस्तुत ईकाई का अध्ययन करने के बाद आप समझ गये होगें कि योग विद्या वह ब्रहम विद्या है। जो सातवे हिरण्यगर्भ स्वयंभू ब्रहमा जी द्वारा प्रणीत है। वेदो में योग का विस्तृत वर्णन किया गया है। वेदो में वर्णित योग को ही सरल भाषा में उपनिषद में ही वर्णन किया गया है। स्मृति में, पुराणों में, दर्शन में योग का विस्तृत वर्णन मिलता है। दर्शन में समाधि की सिद्धि के लिए कहिं अभ्यास व कहिं यम, नियमो व आध्यात्म विधि के उपायो का वर्णन किया गया है।

2.5 शब्दावली

- अविच्छिन्न – सतत्, निरन्तर

- आर्ष – प्राचीन ग्रन्थो के लिए उपयुक्त शब्द
- वाग्मय – वचन सम्बन्धी, वचन से किया हुआ साहित्य
- अपौरूषेय – पुरूष की सामर्थ्य से बाहर
- सप्तांग – सात अंग, सप्तसाधन
- अपराजेय – जो पराजित ना हो
- महत् तत्व – बुद्धितत्व, जीवात्मा
- आरण्य – जंगलो में लिखे साहित्य
- स्मृति – स्मृति पर आधारित साहित्य
- श्रुति – सुन कर लिखे गये साहित्य

2.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

1. क– ब, ख– अ ग– अ घ– ब।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सरस्वती विज्ञानानन्द(2003), योग विज्ञान।योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।
2. कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।
3. निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।
4. पाण्ड़ेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली
5. व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।
6. योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।
7. मिश्र चन्द्र जगदीश (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।
8. योगांक – गीता प्रेस गोरखपुर।
9. पाण्डेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

2.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. योग के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ का जीवन परिचय दीजिए।
2. योग के वैदिक काल व उपनिषद काल का विस्तृत वर्णन करें।
3. जैन दर्शन व वौद्ध दर्शन में योग के स्वरूप की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. उपनिषदो का मुख्य विषय योग विद्या है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

इकाई – 3 योग के प्रकार – ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 योग के प्रकार – ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग

3.4 ज्ञानयोग क्या है

3.4.1 ज्ञानयोग का उद्देश्य

3.4.2 ज्ञानयोग की साधना

3.5 कर्मयोग

3.5.1 कर्मयोग का उद्धेश्य

3.5.2 कर्मयोग के भेद

3.6 भक्तियोग

3.6.1 भक्तियोग का उद्धेश्य

3.6.2 भक्ति के विविघ रूप

3.6.3 भक्त के प्रकार

3.7 सारॉश

3.8 शब्दावली

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों इससे पूर्व की इकाईयों में आपने योग का अर्थ परिभाषा व संक्षिप्त इतिहास का अध्ययन किया। आप योग का अर्थ व इतिहास से भलीभॉति परिचित हो चुके होंगे। अब आप समझ गये होगें कि हमारे जीवन के सर्वांगीण विकास में योग की क्या उपयोगिता है। योग द्वारा किस प्रकार मनुष्य सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति के साथ – साथ मोक्ष तक की प्राप्ति कर सकता है। उन साधन पद्धतियो को अपना कर जीवन की उत्कृष्टता को प्राप्त कर सकता है। जिन साधन पद्धतियो को अपना कर हमारे श्रषि मुनियों ने आत्मोत्कर्ष कर समाधि, कैवल्य की प्राप्ति की। इस योग विद्या का और विस्तृत अध्ययन करने के लिए योग के प्रकारो का अध्ययन करना आवश्यक है। योग के कई प्रकार हैं। इनमें से कुछ महत्तवपूर्ण प्रकार है। ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग। आइये इनका अध्ययन करें।

जिज्ञासु पाठको प्रस्तुत इकाई में हमारे अध्ययन का विषय है, योग के प्रकार – ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। योग के विभिन्न प्रकार या योग के विभिन्न मार्ग परन्तु सभी का लक्ष्य है। उस परम तत्व की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति। किसी भी मार्ग को अपनाया जाए, सभी मार्ग वही पहुॅचते है। ज्ञानयोग, ज्ञानमार्ग द्वारा सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति है। तथा कर्मयोग निष्काम कर्म द्वारा ईश्वर की प्राप्ति तथा ईश्वर के प्रति उत्कृष्ट प्रेम ही भक्तियोग है। प्रिय पाठको कर्म, भक्ति ज्ञान का समन्वय हमारे जीवन को उत्कृष्ट व दिव्य बनाता है। आइये इसका विस्तृत अध्ययन कर जीवन में उत्कृष्टता लाने का प्रयास करें –

प्रिय विद्यार्थियो ंपूर्वोक्त कथन का अध्ययन करने के पश्चात् आपके मन में विभिन्न प्रकार की जिज्ञासायें उत्पन्न हो रही होगी –

- ज्ञानयोग की साधना क्या है?
- कर्मयोग की साधना क्या है?
- भक्तियोग की साधना क्या है?
- क्या इन साधनाओं को हम भी अपने जीवन में अपना कर जीवन को उत्कृष्ट बना सकते है?

आदि आपकी इन्हीं जिज्ञासाओं का समाधान इस इकाई में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आइये सर्वप्रथम योग के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन करें –

3.2 उद्धेश्य

प्रिय पाठको प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- योग के विभिन्न प्रकारो को समझ पायेगें।
- ज्ञानयोग को स्पष्ट कर सकेगें।
- कर्मयोग, भक्तियोग को स्पष्ट कर सकेगें।
- कर्म, भक्ति, ज्ञान की महत्ता को समझ सकेगें।

3.3 योग के प्रकार

प्राचीन काल से ही भारतीय मनीषियों के अन्तःकरण में योग की विमल मन्दाकिनी परम्परागत रूप से पवित्र धारा के रूप में अविरल अनवरत प्रवाहित होती आ रही है। यह योग विद्या ब्रहम विद्या ब्रहमा द्वारा निर्दिष्ट तथा हमारे ऋषियों तपस्वियों तथा दार्शनिकों के द्वारा अपनायी गयी श्रेष्ठ साधना पद्धति है।

महर्षि पतंजलि कृत योग सूत्र का प्रथम सूत्र 'अथयोगानुशासनम्'। – पा0 यो0 सू0 1/1

जिसका अर्थ है, कि आपके जीवन का वह मंगल वाचक क्षण आ गया है। जिसमें कि शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के साथ – साथ मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। या इसको इस तरह से समझ सकते है, कि अब आपको एक निश्चित कार्य व्यवस्था का अनुसरण करना होगा और वह निश्चित कार्य व्यवस्था योग है, और इस योग पद्धति को अपनाने के लिए हमे सबसे पहले अनुशासित जीवन की आवश्यकता होती है। अनुशासन स्वयं पर शासन स्वयं के प्रति कठोरता। यही कठोरता हमें स्थिरता देती है। योग के द्वारा चित्त की शुद्धि, इन्द्रिय संयम तथा स्थिरता, लधुता, शारीरिक व मानसिक शान्ति की प्राप्ति होती है।

प्रिय विद्यार्थियो योग के मार्ग में साधन प्रणालियॉ भिन्न है। भिन्न – भिन्न होने पर सभी का लक्ष्य या ध्येय है मोक्ष की प्राप्ति। या कह सकते है कि सभी के द्वारा समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति के साथ – साथ मोक्ष प्रदायी है। प्रिय विद्यार्थियों इसको इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे एक पर्वत के शिखर पर चढ़ने के कई मार्ग होते है। सभी का लक्ष्य है पर्वत का शिखर। हम जिस भी मार्ग से जाऐगे वह चोटी पर अवश्य पहॅुच जाता है। जो जिस मार्ग को अपनाता है। वही मार्ग से उसका नाम जुड़ जाता है। ठीक उसी प्रकार जिस साधना मार्ग को अपनाते है, उसी के अनुसार भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग या कर्मयोग साधनाए निर्धारित होती है। परन्तु लक्ष्य सभी का एक ही है। योग साधना के इन्ही विभिन्न मार्गो के नाम है – ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, राजयोग आदि। इनमें से प्रमुख का वर्णन इस प्रकार है। आइये हम ज्ञानयोग, भक्तियोग व कर्मयोग का विस्तृत अध्ययन करे।

3.4 ज्ञानयोग क्या है

प्रिय विद्यार्थियों हम इससे पूर्व में भी वर्णन कर चुके है। कि योग के क्षेत्र में साधक का जो भी मार्ग होता है। अर्थात् वह जिस प्रकार के साधनो को अपनाता है। उनका प्रयोग करता है। उन्ही के अनुरूप उसकी साधना का नाम होता है। अतः प्रिय पाठको यदि ज्ञान साधना के साधनो का प्रयोग किया जाए तो वह मार्ग ज्ञानयोग कहलायेगा। ज्ञानयोग वह साधना है जिसमें सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति ज्ञान मार्ग द्वारा होती है। वह सभी साधनाए जिसमें ज्ञान को माध्यम बनाकर लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है, उन्हे ज्ञानयोग कहते है।

श्रीमद्भगवद् गीता में ज्ञानयोग को ही सांख्ययोग कहा गया है। गीता में मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान की महत्ता का वर्णन किया गया है।

ज्ञानयोग द्वारा ब्रहम से साक्षात्कार हो जाता है। यह ज्ञान की अन्तिम व उच्चतम अवस्था है। जिससे साधक में 'अहं ब्रहमास्मि' का भाव जाग्रत होने लगता है।

ज्ञानयोग के अनुसार – ब्रहम ही सत्य है। ब्रहम के अतिरिक्त अन्य किसी की महत्ता इस संसार में नहीं है। ज्ञानयोग के अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप ब्रहम है। और एक ब्रहम ही सत्य स्वरूप है। ज्ञानयोग के सिद्धान्तो के अनुसार आत्मा शुद्ध, बुद्ध, सत्य, नित्य, आनन्दस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप है।

3.4.1 – ज्ञानयोग का उद्धेश्य – ज्ञानयोग की साधना का उद्धेश्य है ब्रहमभाव की स्थिति को प्राप्त करना तथा यह ब्रहम भाव की स्थिति ही मोक्ष है। ज्ञानयोग के अनुसार जीव तथा ब्रहम की एकता का ज्ञान होना ही मोक्ष है। ज्ञानयोग विवेक ज्ञान की प्राप्ति है। जिसके द्वारा सही – गलत का ज्ञान होता है। नित्य – अनित्य का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य जीवन के उद्धेश्य को प्राप्त करना ही ज्ञानयोग का उद्धेश्य है। ज्ञान द्वारा ही मनुष्य देह देवालय बन जाती है। मनुष्य जन्म सफल हो जाता है। क्योकि मनुष्य जन्म साधना के लिए मिला है। साधना मनुष्य योनि में ही की जा सकती है। अन्य योनियों में नही, ज्ञानयोग द्वारा मनुष्य जन्म सार्थक बनाया जा सकता है। नित्य – अनित्य, पाप – पुण्य, सुख – दुख, खाद्य – अखाद्य पर विचार कर शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्वास्थ्य की प्राप्ति की जा सकती है। अतः ज्ञानयोग का उद्धेश्य है, समग्र स्वास्थ्य के साथ – साथ मोक्ष की प्राप्ति। अतः आइये हम ज्ञानयोग साधना है क्यॉ ? यह कितने प्रकार की है। इनके दोनों बर्हिरंग व अन्तरंग साधना का विस्तृत अध्ययन करें।

3.4.2 – ज्ञानयोग की साधना – ज्ञानयोग की साधना ज्ञान मार्ग के द्वारा सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति है। ज्ञानयोग का वर्णन उपनिषदो में ध्यानात्मक अवस्था के रूप तथा अर्न्तज्ञान क्षमता को विकसित करने वाले साधनो के रूप में किया गया है। ज्ञानयोग एक विद्या है, एक ऐसा विवेक ज्ञान है। जिसके द्वारा मनुष्य को सही गलत का ज्ञान प्राप्त होता है। अर्न्तज्ञान प्राप्त होता है। अतः कहा जा सकता है, ज्ञानयोग ध्यान द्वारा सजगता की प्राप्ति है। ज्ञानयोग ऐसी सजगता की प्राप्ति है, जो मनुष्य को अपने अन्तर में उतार देती है। अर्न्तज्ञान की ऐसी प्राप्ति है, जो उस अवस्था तक पहॅुचा देती हैं। जहॉ यह भाव जाग्रत होता है। 'अहं ब्रहमास्मि' इस अवस्था में साधक स्वयं को ईश्वर (ब्रहम) के रूप में जान पाता है। और ईश्वर (ब्रहम) का बोध होते ही वह उन सभी बन्धनो से मुक्त हो जाता है। ज्ञानयोग हमे अपनी अर्न्तज्ञान, विशिष्टता के प्रति सजग होने की योग्यता है। इस अर्न्तज्ञान के पाते ही मन के बन्धन टूट जाते है। और अपने स्त्रोत के निकट आते है। ज्ञानयोग का यौगिक दृष्टिकोण अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करना है। तथा इस प्रक्रिया का आरम्भ शरीर तथा मन की आवश्यकताओं से होकर आध्यात्मिक में परिवर्तित हो जाता है। ज्ञानयोग की साधना में अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मुख्यतः दो साधनो का वर्णन किया गया है। स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती ने इसे इस प्रकार बताया है –

- बर्हिरंग साधना
- अन्तरंग साधना

बर्हिरंग साधना –ज्ञानयोग की साधना में कुछ बातो का पालन आवश्यक बताया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में जिन बातो का पालन आवश्यक है। उसे बर्हिरंग साधन कहा गया है।

बर्हिरंग साधनो को साधन चतुष्टय का नाम दिया गया है। बर्हिरंग साधन चार है। ये साधन निम्न लिखित है –

(क) – विवेक

(ख) – वैराग्य

(ग) – षट्सम्पत्ति

(घ) – मुमुक्षुत्व

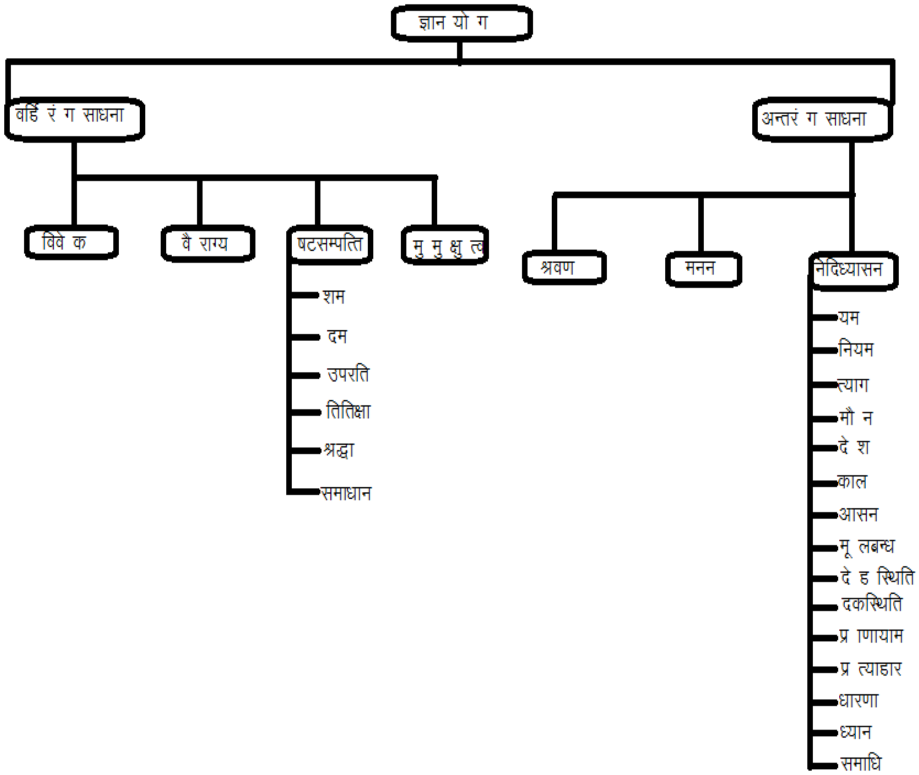

(क). विवेक – प्रिय पाठको ज्ञानयोग के बर्हिरंग साधन में पहला साधन है विवेक। विवेक एक दिव्य शक्ति है। उस मनुष्य का कभी पतन नही हो सकता है। जिसने विवेक का सहारा लिया। विवेक द्वारा अपने कार्य किये हो, यह एक ऐसा दिव्य शक्ति है। जिससे मनुष्य जीवन में सकारात्मक परिवर्तन होते देखे गये है। और विवेकहीन मनुष्य ही हमेशा दुखी व अस्वस्थ देखे जाते है। लौकिक दृष्टिकोण से सही – गलत का ज्ञान होना ही विवेक है। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यदि देखे तो विवेक का तात्पर्य नित्य, अनित्य का ज्ञान है।

तत्वबोध में वर्णन मिलता है –

''नित्यवस्त्वेकं ब्रह्म तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम्।
अयमेव नित्यानित्यवस्तु विवेकः।।''

अर्थात् एकमात्र ब्रहम ही नित्य है। और समस्त जगत् अनित्य है। ब्रहम के सिवा यह जगत मिथ्या हैं। कहा भी गया है, कि 'ब्रहम सत्यं जगतमिथ्या'।

प्रिय पाठको विवेक ज्ञान वह ज्ञान है। कि एक ब्रहम ही सत्य है, अजर है, अमर है, तथा यह संसार नश्वर है। अतः जागतिक विषयों या इस संसार के प्रति राग न रखते हुए उस ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधना करनी चाहिए। उस ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधक को विवेक की आवश्यकता होती है, कि इस मार्ग में चलने के लिए आहार, विहार, व्यवहार की शुद्धि होना आवश्यक है। शरीर संशुद्धि के लिए आहार रूपी विवेक ज्ञान आवश्यक है, कि क्या खाना चाहिए क्या नही। शास्त्रों में कहा भी गया है। कि 'जैसा खाये मन वैसा होवे मन'। अर्थात् जैसा हम अन्न खाते है वैसा ही हमारा मन हो जाता है। अतः उन्नति के लिए सात्विक आहार ग्रहण करना चाहिए। शास्त्रों में आहार संशुद्धि पर बल देते हुए कहा गया है कि भोजन किस प्रकार का है, तामसिक खाद्यपदार्थ तमोगुणी बनाते है। तथा अच्छे मन से या अच्छी भावनाओ से न बनाया गया भोज्य पदार्थ तामसिक वृत्ति उत्पन्न करता है। खाद्य – अखाद्य का ज्ञान साधक को रखना चाहिए। इस प्रकार संसारी वृत्तियो में आसक्ति न रखते हुए खाद्य – अखाद्य तथा सत्य – असत्य के सही गलत का ज्ञान, को रखकर, ईश्वर को प्राप्त करना विवेक ज्ञान है।

(ख). वैराग्य – वैराग्य शब्द का सामान्य अर्थ है, बिना राग के। अर्थात् जिस मनुष्य को राग नहीं है, वह वैराग्य है। वैराग्य वह अवस्था है, जिसमे मनुष्य को विवेक ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् संसार के भोगों के प्रति आसक्ति नही रहती है, तथा पारलौकिक सुख ऐश्वर्य की भी आसक्ति नही रहती, इन दोनों इहं लौकिक तथा पारलौकिक सुख भोग की ईच्छा का परित्याग कर देना ही वैराग्य है। मनुष्य देखे गये तथा सुने गये दिव्य सुख भोगों से इच्छा रहित हो जाता हैं। तथा इन लोको के भोगो के प्रति वासना का उदय न होना ही वैराग्य है।

(ग). षट्सम्पत्ति – षट् सम्पत्ति का अर्थ है, छः साधन। ज्ञानयोग की साधना में ये छः साधनो का साधक को अवश्य पालन करना होता है। जब वह इन्हे जीवन में अपना लेता हैं, तब इन्हे साधक की षट्सम्पत्ति माना जाता है। ये षट्सम्पत्ति ऐसी है, जिनके सहारे ही योग साधना में आगे बड़ा जा सकता है। ये षट्सम्पत्तियॉ है –

1. शम
2. दम
3. तितिक्षा
4. उपरति
5. श्रृद्धा
6. समाधान

1.शम – इन्द्रिय निग्रह कर आत्मा को परमात्मा में लगाना शम है। ज्ञान द्वारा इन्द्रियो को संयमित कर अपने चित्त को आत्मा में लगाना शम है। इन्द्रिय संयम ज्ञान द्वारा किया जा सकता है। मनुष्य की 11 (इग्यारह) इन्द्रियॉ है। उसमें पॉच ज्ञानेन्द्रिया, पॉच क्रमेन्द्रियॉ और एक मन है। मन ही एक ऐसी इन्द्रिय है। जो सबसे अधिक चंचल है। वायु से भी तेज गति वाले इस मन को नियन्त्रित करना बढ़ा ही मुस्किल हैं। इस लिए इस मन का नाम

अतेन्द्रिय है। जैसा की शास्त्रो में भी कहा गया है – 'समो नाम अन्तरिन्द्रिनिग्रहः अन्तरिन्द्रिय नाम मनः तस्य निग्रहः'।।

अर्थात् शम का तात्पर्य यहॉ अन्तरिन्द्रिय निग्रह कहा गया है। और वह अन्तरिन्द्रिय मन है। ओर इस मन के नियन्त्रित होते ही इन्द्रिय निग्रह सम्भव है। अतः इस मन को वश में करने के लिए अन्य शास्त्रो के साथ – साथ गीता में भी साधना बताई गयी है –

"असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहंचलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते।।"

अर्थात् ये महावाहो अर्जुन निश्चय ही यह मन बड़ा चंचल है। परन्तु इस मन को वश में करने के दो साधन है। 'अभ्यास' और 'वैराग्य'। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को अवश्य ही वश में किया जा सकता है। इन्द्रियो को इस प्रकार से निग्रह कर लेना ही 'शम' है।

2.दम – दम का अर्थ है, दमन करना। बाह्य विषयो से इन्द्रियो को निग्रह कर लेना दम है। मनुस्मृति में कहा गया है –

"इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिशु।

संयमेयत्वमातिष्ठेद् विद्वान यत्नेश वाजिनाम्।।"

अर्थात् विवेकी पुरूष अनुचित कार्यो तथा विषयो में भागी जाने वाली इन्द्रियो को बड़े यत्न से नियन्त्रित कर लेता है। जैसे एक दक्ष सारथी पशु को लगभग खींच कर काबू कर लेता है तथा अपने अनुसार उसे मार्ग पर ले जाता है। ठीक उसी प्रकार दम रूपी लगाम से अनुचित मार्ग मे जाने वाली इन्द्रियो का निग्रह करके ब्रहम के चिन्तन में लगाये रखने वाली विद्या दम है।

3.उपरति – उपरति का तात्पर्य विरति हो जाना है। अर्थात् किसी भी वस्तु की प्राप्ति ही जाने पर भी उसमे आसक्त न होना उदासीन बने रहना उपरति है। उपरति सभी जागतिय, सासारिक वस्तुओं में अनासक्ति का भाव है। तथा कामनाओ को समाप्त कर इन्द्रियो के विषयो से हटाना ही अविरति है। आचार्य शंकर के अनुसार –

'जागतिक विषयो से राग रहित होकर तथा अपने – अपने धर्म का पालन कर अपने चित्त को निर्मल बनाकर अन्तरात्मा में लगाये रखना ही उपरति है।'

4.तितिक्षा – अपने ध्येय या लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के द्वन्द्वो को सहन कर लेना तथा साधना में तत्पर रहने का नाम तितिक्षा है।

तितिक्षा का शाब्दिक अर्थ है सहनशीलता। अपने साधना के मार्ग में आने वाले द्वन्द जय पराजय, लाभ हानि, सुख दुख तथा शीत व उष्ण को सहर्ष सहन करना ही तितिक्षा है। तितिक्षा व तप करने के लिए सभी द्वन्दो को सहन करने के लिए कहा गया है। जैसा कि वर्णन मिलता है –'तपो द्वन्द सहनम्।'

अर्थात् सभी प्रकार के शारीरिक व मानसिक द्वन्दो को सहन करना तप है। योग सूत्र में महर्षि पतंजलि ने वर्णन किया है – यही तितिक्षा है।

'कायेन्द्रियशिद्धिर शुद्धिक्षयात्तपसः।'

– 2/43 पा0 यो0 सू0

अर्थात् तप के प्रभाव से अशुद्धि का क्षय हो जाता है। शरीर शुद्ध तथा इन्द्रियॉ संयमित हो जाती है।

5.श्रद्धा – श्रद्धा नाम विश्वास का है। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों तथा वेद वाक्यो तथा गुरू वाक्यों में दृढ़ निष्ठा व विश्वास ही श्रद्धा है। शास्त्रों में कहा भी गया है –

'गुरूवेदान्तवाक्यादिशु विश्वासः श्रद्धा।'

अर्थात् अपने गुरू तथा वेद, पुराण, शास्त्रों के वाक्यों में दृढ़ विश्वास व आस्था ही श्रद्धा है। प्रिय विद्यार्थियो शास्त्रो में ही वर्णन मिलता है। कि जिस मनुष्य को गुरू वाक्य, वेद वाक्य में श्रद्धा नही रहती, संशय रहता है। उनका कभी भी उत्थान नही हो सकता है, पतन अवश्य होता है। अतः गुरू वाक्य और वेद वाक्य, शास्त्रो में श्रद्धा का होना अति आवश्यक है। ब्रहम ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा आत्मोत्थान के लिए।

6.समाधान – चित्त की एकाग्र अवस्था ही समाधान है। चित्त स्वभाव से चंचल है, परन्तु साधना तथा अपने ईष्ट की उपासना, जप, ध्यान के द्वारा चित्त को एकाग्र किया जा सकता है। तथा एकाग्र चित्त के द्वारा आत्मानुसन्धान में लगे रहना ही समाधान है। अपने चित्त को सदा ब्रहम चिन्तन में ही रत रखना ही समाधान है।

(घ). मुमुक्षुत्व – जागातिय विषयों से वैराग्य होने पर उस नित्य सुख की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति की तीव्र इच्छा मुमुक्षुत्व कहलाता है। तथा मुमुक्ष पुरूष परमात्मा से इस प्रकार के भाव व्यक्त करता है –

'संसार बन्धनिर्मुक्तः कथमेस्यात्कदाविभो।'

अर्थात् हे ईश्वर इस संसार चक्र रूपी बन्धन जिसमें कि बार – बार जन्म तथा मृत्यु होती है, से कब मुझे मुक्ति मिलेगी। इस प्रकार जन्म – मरण के बन्धन से मुक्त होकर परम् पद मोक्ष की प्राप्ति के लिए तीव्र उत्कण्ठा का होना ही मुमुक्षुत्व है।

अन्तरंग साधना –

ज्ञानयोग साधना में साधक चतुष्टय को बर्हिरंग साधना माना गया है। तथा अन्तरंग साधन श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को माना गया है। यह साधन तीन हैं – 1.श्रवण 2. मनन 3.निदिध्यासन।

1.श्रवण – श्रवण का अर्थ है सुनना। सुनने से तात्पर्य जो सनने लायक हो उसे सुनना। अर्थात ब्रहम ज्ञान के विषय में सुनना संशय रहित सुनना। तथा उसे गुरूमुख से संशय की निवृत्ति के लिए सुनना। इस प्रकार गुरूमुख से संशय रहित ब्रहमज्ञान के विषय में श्रवण करना 'श्रवण' कहलाता है।

2.मनन – ब्रहमविषयक श्रवण किया हुआ ज्ञान यथार्थ रूप में अपने अन्तःकरण में उतार लेना मनन है, या उस ब्रहम का निरन्तर चिन्तन, मनन कहलाता है। मनन से अस्पष्ट विषयों को स्पष्ट कर तथा संशय से रहित चिन्तन दृढ निश्चयात्मक हो जाता है। इस

प्रकार गुरूमुख से सुने हुए ज्ञान निश्चयात्मक ज्ञान का बार – बार चिन्तन करना मनन कहलाता है।

3.निदिध्यासन – वेदान्त के अनुसार निदिध्यासन ही योग है। निदिध्यासन का अर्थ है, अनुभव प्राप्त ज्ञान या आत्मसाक्षात्कार। ज्ञानयोग में योगी ज्ञान अर्जित करने के साथ – साथ उसे अपने जीवन पर लागू भी करते है। वे ऐसे किसी ज्ञान को व्यर्थ मानते है जिन्हें वह अपने जीवन में उपयोग न कर सके। ऐसा ज्ञान जिसे वह अपने जीवन में उपयोग कर अनुभव कर सके ओर ऐसा अनुभवात्मक ज्ञान तथा बोध प्राप्त करना ही आधार है।

स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती ने निदिध्यासन के 15 अंगों का वर्णन किया है। जिनका वर्णन निम्न प्रकार है –

1.यम – विषयो के वशीभूत इन्द्रियों को अपने वश में करके ब्रहम चिन्तन में लगा देना यम है।

2.नियम – वह वृत्ति जो हमे परमात्मा से दूर करे उसे विजातीय वृत्ति कहा जाता है। विषयों से लिप्त वृत्ति विजातीय वृत्ति है। तथा ईश्वरोन्मुख वृत्ति सजातीय वृत्ति है। अतः विजातीय वृत्ति का निरोध करना ही नियम है।

3.त्याग – समस्त संसार के पदार्थ क्षण भंगुर है। यह जगत एक प्रपंच है। एक मायाजाल है, अनित्य है। तथा ब्रहम ही सत्य है। तीनों कालो से परे है अविनाशी है। इस प्रकार के ज्ञान से इस संसार के मायाजाल का, प्रपंच का त्याग हो जाता है। इसी को महापुरूष त्याग कहते हैं।

4.मौन – योग साधना में प्रजल्प (अत्यधिक वार्तालाप) को बाधक तत्व के रूप में बताया गया है। अतः अत्यधिक वार्तालाप न कर मौन धारण करना ही योगियों का मौन है। तथा इन्द्रियो को संयमित कर अपनी आन्तरिक ऊर्जा को ब्रहम चिन्तन में रमण कर देना ही मौन है।

5.देश – अपने अन्तकरण में किसी एक क्षेत्र (देश) में मन को लगा देना।

6.काल – यह ज्ञान रखना कि वह ईश्वर तीनो कालों से परे है। तीनो कालों में उनका नाश सम्भव नहीं है। वह अजर, अमर, अविनाशी है। वही कालों में महाकाल है।

7.आसन – वह अवस्था जिसमे सुखपूर्वक, निरन्तर बैठकर ब्रहम चिन्तन किया जा सके, वह आसन है। जिन आसनो में ध्यान के लिए सुखपूर्वक बैठा जा सके, वह ध्यान के आसन निम्न है – सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकआसन, सुखासन आदि।

8.मूलबन्ध – हठयोग के विपरीत यह ईश्वर के साथ चित्त का लगने वाला बन्ध है। क्योकि वह ब्रहम समस्त भूतो का मूल है। अतः उस ब्रहम के साथ चित्त का बन्ध ही यर्थाथ मूलबन्ध है। यह राजयोगियो के द्वारा अपनाया गया बन्ध है।

9.देहस्थिति – चित्त का ब्रहम में एकाग्र व निश्चल हो जाने पर देह व अंगो की स्थिति भी निश्चल व एकाग्र हो जाती है। यही चित्त व देह की साम्यता की स्थिति है।

10.दृक्स्थिति – दृष्टि को ज्ञानमय बनाकर समस्त संसार को ब्रहममय देखना। यह दृष्टि की उत्तम दृष्टि है। इस प्रकार 'ब्रहमौवेदं सर्वम्' वाली दृष्टि ही उत्तम दृष्टि है।

11.प्राणायाम – ज्ञानयोगियो द्वारा अपनाया गया प्राणायाम इस प्रकार है – श्वास भरते समय यह चिन्तन 'मैं ही ब्रहम हूँ' करना पूरक प्राणायाम है, उस वृत्ति की निश्चल स्थिति का नाम कुम्भक प्राणायाम है। तथा श्वास का रेचक करते समय इस जगत के प्रपंच का अभाव का भाव का नाम रेचक प्राणायाम है।

12.प्रत्याहार – प्रत्याहार का अर्थ है, इन्द्रिय संयम। इस संसार के विषयो में क्षणभंगुरता का निश्चय करके मन को अन्तर्मुखी बना लेना प्रत्याहार है।

13.धारणा – किसी भी देश में चित्त को एकाग्र करना या बाधना धारणा है। धारणा का वर्णन योगसूत्र में इस प्रकार है –

'देशबन्धश्चित्तश्य धारणा।'

– पा0 यो0 सू0 3/1

अर्थात् किसी भी देश (बाहय अथवा भीतर) में चित्त को बाध देना धारणा है। यह धारणा मध्यम व निम्न कोटि के साधको के लिए बताई गयी है। उत्तम अधिकारियो के लिए किसी भी अनात्म वस्तु में चित्त को न लगाकर चेतन तत्व में चित्त को लगाना ही धारणा है। वेदान्त सार के अनुसार –

'उस अद्वितीय वस्तु (ब्रहम) में मन, बुद्धि, चित्त आदि को बाध देना या लगा देना ही धारणा है।'

14.ध्यान – धारणा की परिपक्व अवस्था ही ध्यान है। ध्यान का वर्णन करते हुए योगी 'सदानन्द यति' ने वेदान्त सार में कहा है –

'तत्राद्वितीयवस्तुनिविच्छद्यान्तरिन्द्रिय वृत्ति प्रवाहोध्यानम्।'

– वेदान्तसार

अर्थात् उस अद्वितीय ब्रहमतत्व का चित्त का विभिन्न अवस्थाओं का होने पर भी लगातार एकतानता पूर्वक, एक समान वृत्ति का प्रवाहित होते रहना ध्यान कहा जाता है। अर्थात् ध्येय वस्तु में तेल की धारा के समान वृत्ति का प्रवाह चलते रहना ही ध्यान है।

15.समाधि – समाधि ध्यान की परिपक्व अवस्था है। योगदर्शन में समाधि का वर्णन करते हुए कहा गया है –

ध्यान में जब ध्येय मात्र की प्रतीति रहती है। तथा चित्त स्वरूप शून्य हो जाता है। वह अवस्था समाधि की अवस्था होती है। समाधि की परिभाषा करते हुए 'विद्यारण्य स्वामी' जी ने लिखा है –

'निर्वातद्वीपवच्वितं समाधिरभिधियते।'

अर्थात् वायु रहित स्थान के दीपक की तरह अचंचल चित्त की निश्चल अवस्था का नाम ही समाधि है।

अभ्यासार्थ प्रश्न –

(क) – ज्ञानयोग क्या है?

(ख) – विवेकज्ञान क्या है।

(ग) – तितिक्षा व मुमुक्षुत्व से क्या अभिप्राय है।

(घ) – निदिध्यासन से क्या समझते है?

3.5 कर्मयोग

प्रिय विद्यार्थियो यह सर्व विदित ही है। कि मनुष्य जैसा कर्म करता है। वैसा ही फल उसको भोगने को मिलता है। यह बात निश्चित है। इसी लिए संसार में वैषम्यता दिखाई देती है। कोई सुखी है, कोई दुखी। कोई अमीर, कोई गरीब। यह सब पूर्व जन्म संस्कारों के कारण होता है। कि मनुष्य को पूर्व जन्म के संस्कारों के फल भोगने को मिलते है। उसके पश्चात् ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। इसका वर्णन महर्षि पतंजति ने योगसूत्र में इस प्रकार किया है –

'सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।'

– पा0 यो0 सू0 2/13

अर्थात् मनुष्य को क्लेशों के मूल, कर्म संस्कार के विध्यमान रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। तथा मनुष्य को जाति, आयु और भोग पूर्व जन्म में किए गये कर्मों के आधार पर ही प्राप्त होते है। यदि मनुष्य पूर्व जन्म में अच्छे कर्म करेगा तब वह इस जन्म में उच्च कुल, दीर्घायु व भोग (वैभव) को प्राप्त करता हैं। इस संसार में जो भी विषमता है। वह कर्म संस्कारों के कारण ही है, तथा कर्म संस्कारों के अनुसार ही मनुष्य सुख व दुख आदि क्लेश भोगते रहते है। अब प्रश्न ये उठता है कर्म है क्या ?

कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना हैं। 'कृ' धातु से बना है। 'क' धातु में 'मन' प्रत्यय लगाने पर कर्म शब्द की उत्पत्ति होती हैं। जिसका अर्थ है – क्रिया, हलचल, प्रारब्ध, भाग्य आदि है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस कर्म में कर्ता की क्रिया का फल निहित है वही कर्म कहलाते है। कर्म शब्द का तात्पर्य कार्य या अनुष्ठान से है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति कर्म करता है। संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो जो कार्य ना करे। संसार में प्रत्येक व्यक्ति कर्म करता है, तथा यही कर्म शब्द के साथ योग जोड़ देने से कर्मयोग बन जाता है। या इसे इस तरह से कह सकते है, जब कर्म कुशलतापूर्वक होने लगे तब समझना चाहिए कि कर्मों में योग साधना का प्रवेश हो चुका है। श्रीमद् भगवद् गीता में कहा गया है कि कर्मो में कुशलता ही योग है। कर्मो में योग ही कुशलता है। जब कर्म कुशलता पूर्वक होने लगे तब समझना चाहिए कि कर्मो में योग सन्निहित है। जिसका वर्णन 2/50 में किया गया है –

'योगः कर्मसु कौशलम्।'

– गीता 2/50

अर्थात् कर्मो में कुशलता ही योग है। कर्मयोग साधना में मनुष्य कर्म बन्धन में बधने वाले कर्म नही करता है। वह निष्काम भाव से कर्त्तव्य कर्म करते हुए फलासक्ति का त्याग करता है। इसलिए इस प्रकार के कर्म मुक्तिदायक होते है। गीता का मुख्य विषय निष्काम कर्म योग है। जिसे कर्मयोग कहा गया है। निष्काम कर्म योग का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण

कहते हैं । आसक्ति रहित होकर कर्म का पालन करना चाहिए। कर्म करने के बाद में सफलता या असफलता मिले उसमें समता का भाव रखना चाहिए। यही समता का भाव ही कर्मयोग है। – 2/48 गीता

कर्मयोग की साधना में साधक सभी कर्मो को भगवान को समर्पित कर देता है। वह जो भी कर्म करता है। भक्ति भावपूर्वक वह परमात्मा को अर्पित करते हुए करता है। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है –

'यत्करोशि यद्श्रासि यज्जुहोसि ददासियत्।

– गीता 9/27

अर्थात् हे अर्जुन तू जो भी कर्म करता हैं। जो खाता है, हवन करता है, दान आदि देता है, जो भी तप करता है। वह सब मेरे अर्पण कर। श्रीमद् भगवद् गीता में निष्काम कर्म योग की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है। कि निष्काम भाव से कर्म करने वाला योगी परम् ब्रहम परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

3.5.1 – कर्मयोग का उद्धेश्य – कर्मयोग का उद्धेश्य है, श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति। श्रेष्ठ कर्म – प्रखर स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए विशिष्ट शारीरिक व मानसिक क्रियाओ का साग्रह अभ्यास ही कर्मयोग साधना है। कर्मयोग की साधना एक ऐसा मार्ग है, जिससे मनुष्य का लौकिक तथा पारलौकिक दोनो पक्षो का उत्थान सम्भव है। कर्मयोग की साधना अपने कर्त्तव्य कर्म को करते हुए फलेच्छा का त्याग कर मुक्ति की प्राप्ति है। यही मुक्ति की प्राप्ति साधक कर्मो को कुशलता पूर्वक करते हुए प्राप्त कर सकता है। जिसका वर्णन करते हुए गीता में कहा गया है –

''बुद्धियुक्तो जहातींह उभे सुकृत दुष्कृते।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।'' – 2/50

अर्थात् बुद्धि से युक्त मनुष्य अच्छे व बुरे दोनो प्रकार के कर्मो में आसक्ति का त्याग कर देता है। ऐसे ही कर्म कुशल कर्म कहलाते है। कर्मो में कुशलता का यहॉ कर्मो को इस प्रकार करने से है, कि वे हमारे बन्धन का कारण ना हो बल्कि मुक्ति दिलाने वाले हो। कर्मयोग की साधना से नितान्त मलिन व कलुषित चित्त भी शुद्ध व निर्दुष्ट हो कर योगमय होकर मुक्ति को प्राप्त होता है। कर्मयोग की साधना के द्वारा अपने – अपने नियत कर्म करते हुए मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

3.5.2 – कर्मयोग के भेद – प्रिय विद्यार्थियों अभी तक आपने कर्म शब्द के अर्थ के साथ – साथ कर्मों की कुशलता, निष्काम कर्म के बारे में जाना तथा समझा साथ ही यह भी समझा लिया होगा कि ईश्वर को अपने समस्त कर्म अर्पण कर देने से परम गति की प्राप्ति होती है। अब शास्त्रों व गीता में वर्णित कर्म कितने प्रकार के है? उनका अध्ययन करें –

- कर्म मुख्य रूप से शास्त्रों के अनुसार दो प्रकार के होते है –

क – विहित कर्म (सुकृत)

ख – निषिद्ध कर्म (दुष्कृत कर्म)

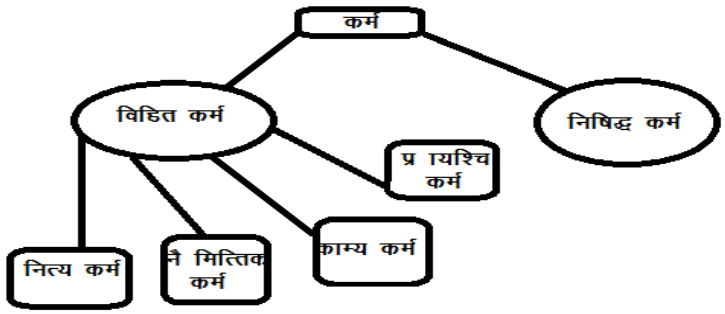

(क). विहित कर्म— विहित कर्म को सुष्कृत कर्म अर्थात् अच्छे कर्म भी कहा जाता है। विहित कर्म के भी चार भेद है — नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म, प्रायश्चित कर्म।

(अ). नित्य कर्म — नित्य कर्म से तात्पर्य नित्य प्रति किये जाने वाले अनिवार्य कर्म। अर्थात् वह कर्म जो प्रतिदिन अनिवार्य रूप से किये जाते है। जैसे — पूजा, सन्ध्या, वन्दना आदि। नित्य कर्म साधारण भाषा में यदि कहे तो वह कर्म है जो प्रतिदिन प्रातः से रात्रि निद्रा तक किये जाते है।

(ब). नैमित्तिक कर्म — ऐसे संस्कार (कर्म) जो किसी के निमित्त किये जाते है, नैमित्तिक कर्म कहते है। जैसे — किसी त्यौहार व पर्व पर विधि पूर्वक अनुष्ठान करना, पुत्र जन्म पर जातकर्म संस्कार तथा उपनयन संस्कार तथा किसी की मृत्यु होने पर दाह संस्कार, श्राद्ध कर्म, तर्पण इत्यादि।

(स). काम्य कर्म — कामना पूर्ति के लिए अनुष्ठान करना काम्य कर्म कहलाते है। ऐसे कर्म अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए किये जाते है। जैसे — पुत्र प्राप्ति के लिए पुत्रेष्ठि यज्ञ तथा धन वैभव व स्वर्ग की प्राप्ति हेतु, दान व यज्ञ किये जाते है। साथ ही प्राकृतिक आपदा, अतिवृष्टि रोकने हेतु, अकाल पड़ने पर वर्षा हेतु, यज्ञ, हवन, दान आदि कर्म काम्य कर्म हैं।

(द). प्रायश्चित कर्म — अज्ञानता वश या जानवूझ कर कोई भी अनैतिक कर्म या पाप हो जाये तो उसके प्रायश्चित के लिए जो कर्म किये जाते है, प्रायश्चित कर्म कहलाते है। जो इस जन्म में किये गये गलत कार्यो के प्रायश्चित स्वरूप किये गये कर्म है, वह साधारण प्रायश्चित कर्म है। जन्म — जन्मान्तरो के पापों को क्षीण करने के लिए तप व अन्य अनुष्ठान पूर्वक जो कर्म किये जाते है। वह असाधारण प्रायश्चित कर्म कहलाते है।

(ख). निषिद्ध कर्म — जिन कर्मो का शास्त्रों मे निषेद्ध है। निषिद्ध कर्म कहलाते है। अर्थात् जो कर्म शास्त्रों के अनुकूल नहीं है, वह निषिद्ध कर्म कहलाते है। निषिद्ध कर्म ऐसे गलत कर्म है जिन्हे करने पर हमारी अन्तर आत्मा भी स्वीकृति नही देती है। पर मनुष्य इस अन्तर आत्मा (ईश्वर) की उस आवाज को अनसुना कर वह कर्म करता है, तथा यही कर्म निषिद्ध कर्म कहलाते है। इन कर्मो के अन्तर्गत — झूठ बोलना, व्यभिचार, हिंसा, चोरी इत्यादि गलत कर्म (निषिद्ध कर्म) आते है।

वेदान्त के अनुसार कर्म – वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्मों के तीन प्रकार हैं।

(क). संचित कर्म – संचित कर्म वे कर्म है। जो पूर्व जन्म में हमने अनेको शरीरों धारण किये थे। उनके द्वारा किये गये कर्मो के फल। संचित कर्म अनेको जन्मों के कर्म संस्कार है जो हमारे चित्त में संचित हुए हैं। इन्ही चित्त के संस्कारो के समूह को संचित कर्म कहते है।

(ख). प्रारब्ध कर्म – ऐसे कर्म जो संचित कर्म संस्कार से अति बलवान कर्म संस्कार है। ऐसे बलवान कर्म संस्कार भोग दिलाने के लिए आगे आते है, तथा भोग दिलाने के लिए भोगान्मुख होते है। तब उन्हे प्रारब्ध कहते है। जीवन में सुख व दुःख हमे प्रारब्ध कर्मो के फलभोग ही प्राप्त होते हैं।

(ग). क्रियमान कर्म – क्रियमान कर्म जिन्हे आगामी कर्म भी कहा जाता है। आगामी कर्म से अभिप्राय जो आगे किये जाने वाले कर्मो से है। जिन कर्मो का अभी आरम्भ नही हुआ हो। वही कर्म आगामी कर्म है। आगामी कर्म के भविष्य में फल प्राप्त होगे।

यहॉ यह बात ध्यान देने योग्य है कि संचित व प्रारब्ध कर्म पर हमारा वश नही है। क्योकि वे तो पूर्व में ही किये जा चुके है। परन्तु आगामी कर्म जो हम वर्तमान में कर रहे है या आगे करेगें, उन कर्मों को विवेक ज्ञान के द्वारा बना भी सकते है तथा बिगााड़ भी सकते है। यह हमारे अधीन होता है। श्रीमद् भगवद् गीता में भी कहा गया है –

प्रारब्ध कर्मो का क्षय फलभोग के द्वारा होता है। परन्तु विवेक ज्ञान से हम कर्मों का नाश कर सकते है।

'ज्ञानाग्नि दग्ध्यकर्माणि।'

– गीता 4/19

अर्थात् ज्ञान रूप अग्नि जब उत्पन्न हो जाती है, तब समस्त कर्म संस्कारो के समूह उस अग्नि में भस्म हो जाते है। अर्थात् दग्ध्यबीज हो जाते हैं।

गीता के अनुसार कर्म – श्रीमद् भगवद् गीता में तीन प्रकार के कर्म बताये गये है। जो इस प्रकार है –

(क). कर्म – गीता के अनुसार, शास्त्रो के अनुसार व वेदो के अनुसार किये गये कर्म वेद विहित कर्म है। वेद विहित कर्मों को ही गीता में कर्म की संज्ञा दी है।

(ख). अकर्म – अकर्म से अभिप्राय कर्म का अभाव ही अकर्मण्य यानि खाली बैठना।

(ग). विकर्म – विकर्म से तात्पर्य अविहित कर्म से है। जिन कर्मो से विहित निकल गया हो वह विकर्म कहलाते है। अर्थात् वे कर्म जो शास्त्र सम्मत नहीं है, अविहित कर्म है। निषिद्ध (पाप) कर्म है, विकर्म कहलाते है।

योगसूत्र के अनुसार कर्म – महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के कैवल्य पाद में कर्मो का वर्णन इस प्रकार किया है –

'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेशाम।'

– पा0 यो0 सू0 – 4/7

अर्थात् शुक्ल कर्म, कृष्ण कर्म, शुक्ल के कृष्ण कर्म तथा अशुक्ल कृष्ण कर्म ये कर्म के चार भेद हैं।

(क). शुक्ल कर्म – वेदो में बताई गई विद्या के अनुसार श्रेष्ठ कर्म शुक्ल कर्म है। शुक्ल कर्म वो श्रेष्ठ कर्म होते है, जिन कर्मों से सुख तथा स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है।

(ख). कृष्ण कर्म – कृष्ण कर्मों को निषिद्ध कर्म (पाप कर्म) भी कहा जाता है। इन पाप कर्मो से दुख तथा नरक की प्राप्ति होती है। तथा पाप कर्मो से ही पशु योनि मिलती है।

(ग). शुक्लकृष्ण कर्म – ऐसे कर्म जिसमे कुछ पुण्य कर्म हो तथा कुछ पाप कर्म का मिश्रण हो शुक्लकृष्ण कर्म भी कहलाते है। इन मिश्रित कर्मो से ही पुनः मनुष्य जन्म मिलता है।

(घ). अशुक्लाकृष्ण कर्म – पाप कर्म व पुण्य कर्म तथा मिश्रित कर्म से अलग अशुक्लाकृष्ण कर्म है। जिन्हे निष्काम कर्म कहा जाता है। निष्काम कर्म किसी कामना के लिए नही किये जाते है। निष्काम कर्मो से अन्तःकरण शुद्ध होता है। निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। तथा ऐसे साधक को शीघ्र ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न –

1. सत्य/असत्य बताइये।

(क) – मनुष्य को पूर्व जन्म के कर्मो के आधार पर जाति, आयु, भोग प्राप्त होते है।

(ख) – विहित कर्मो को सुकृत कर्म कहा जाता है।

(ग) – योगसूत्र के अनुसार कर्म 6 प्रकार के है।

(घ) – 'यद्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि' यह योगसूत्र से लिया गया है।

3.6 भक्तियोग

प्रिय विद्यार्थियो ज्ञानयोग एवं कर्मयोग का अध्ययन आपने किया। उस ईश्वर तक पहुॅचने के मार्गो में एक मार्ग भक्तियोग का मार्ग भी है। भक्तियोग भक्ति भाव द्वारा ब्रह्म सत्ता से जुड़े रहने की जीवन पद्धति है।

भक्तियोग की साधना, साधना जगत में एक अन्यतम साधना है। भाव प्रधान साधको के लिए भक्तियोग की साधना सबसे सरल साधना है। यह मार्ग ईश्वर प्राप्ति का सबसे सरल साधना है। भक्तियोग का अधिकारी किसी भी आयु वर्ग के व्यक्ति बन सकते है। बालक, वृद्ध, स्त्री व पुरूष इसमें किसी प्रकार का संदेह नही किया जा सकता है।

भक्तियोग प्रेम की उच्च पराकाष्टा है। ईश्वर के अनन्य प्रेम ही भक्ति है।

- **भक्ति का अर्थ –**

भक्ति शब्द 'भज सेवायाम्' धातु में तिन् प्रत्यय लगकर बनता है। जिसका अर्थ है – पूजा, सेवा, उपासना आदि। इस प्रकार भक्ति सेवा द्वारा उपासना द्वारा ईष्वर से तादात्म्य भाव स्थापित करना है। या इसे इस तरह से समझा जा सकता है, कि भक्ति उस भावना का नाम है, जिसमे भक्त (उपासक) ईश्वर के भाव में भावित होकर सर्वतोभवेन तद्रूपता का अनुभव करता है।

- **भक्तियोग की परिभाषा –**

भक्तियोग की परिभाषा देते हुए नारद भक्तिसूत्र – 16 में कहा गया है –

'पूजा दिष्टनुराग इति पराशर्यः।'

अर्थात् भगवान की पूजा अर्चना व उपासना में अनुराग होना ही भक्ति है।

नारद भक्तिसूत्र – 18 में महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार –

'आत्मप्रेम के अविरोध साधनों में अनुराग का होना ही भक्ति है।'

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – 'सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज करना भक्ति है।'

आचार्य गर्ग के अनुसार – 'ईश्वर के दिव्य गुण व कथा आदि के श्रवण में अनुराग का होना ही भक्ति है।'

सामान्य रूप से देखा जाए तो ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है। ईश्वर के प्रति पूर्ण सर्मपण का भाव ही भक्ति है।

शाण्ड़िल्य सूत्र में भक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है – 'सा प्रानुरक्ति ईश्वरे।' अर्थात् ईश्वर के प्रति परम् अनुरक्ति रखना ही भक्ति है।

भक्त प्रहलाद भक्ति योग की परिभाषा देते हुए कहते है – कि हे ईश्वर जैसी प्रीति इन्द्रियो के नाशवान, क्षण भंगुर, भोग्य पदार्थो के प्रति अज्ञानी जनो की रहती है। वैसी ही प्रीति मेरी तुममे हो, और हे भगवान् तेरी सतत् कामना करते हुए मेरे ह्रदय से वह कभी कम ना हो।

भक्त प्रहलाद की इस परिभाषा में ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम उन्हे प्राप्त करने की उत्कट इच्छा दिखाई देती है। यह भक्तियोग की सर्वोच्च परिभाषा है।

3.6.1 – भक्तियोग का उद्धेश्य – भक्तियोग का उद्धेश्य अनन्य भक्ति भाव से ईश्वर के प्रति समर्पण व मोक्ष की प्राप्ति। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण भाव के साथ ईश्वरमय ही हो जाना भक्तियोग का उद्धेश्य है। भक्तियोग सबसे सरल व सहज मार्ग है। जिसमें साधक ईश्वर के गुणानुवाद के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त कर सकता है। भक्तियोग का उद्धेश्य अपने पराये का भेद मिट कर सर्वतोभावेन उस ईश्वर को ही देखना है।

एक उत्तम भक्त की भी यही पहचान है। भक्तियोग का साधक सभी पदार्थो में, मनुष्यों में ईश्वर का साक्षात्कार करता है। वह मन, वचन कर्म से ईश्वर के प्रति समर्पित होता है, और वह समस्त प्राणियो को ईश्वर की सत्ता मानकर उनसे निच्छल प्रेम करता है। ईश्वर के प्रति पूर्ण सर्म्पण भाव ही उसे निन्दा – स्तुति में भी सम बनाये रखते है। ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास ही उसे अदम्य साहस, पराक्रम और विपरित परिस्थितियो में भी धीरता के साथ आगे बढ़ने की सामर्थ्य देता है। ईश्वर विश्वासी कभी भी अवसादग्रस्त नहीं होता, उसे कोई दुःख नही सताते। इन सभी संकटो का समाधान वह अन्तः प्रेरणा कर लेता है।

अतः भक्तियोग का उद्धेश्य एक प्रकार से सम्पूर्ण जगत के प्राणियो के प्रति निच्छल प्रेम भाव है। सभी के प्रति समता का भाव है। इन्ही उत्तम भावो को धारण कर ईश्वरमय हो जाना ही भक्तियोग है।

3.6.2 – भक्ति के विविध रूप – (भक्ति के भेद) – भक्ति के विविध रूप होते हुए भी मुख्य रूप से दो प्रकार है / दो भेद है –

(1) हैतुकी या गौणी भक्ति (2) अहैतुकी या पराभक्ति

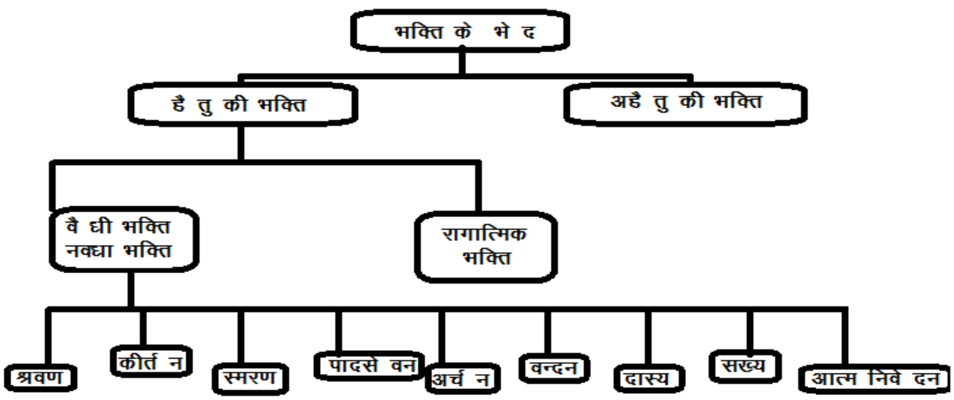

(1) हैतुकी या गौणी भक्ति – सकाम भक्ति को ही हैतुकी भक्ति कहते है। हैतुकी भक्ति सप्रयोजन भक्ति है। इसलिए इसे हैतुकी भक्ति कहा गया हैं। सासारिक विषयो को प्राप्त करने के लिए यह भक्ति की जाती है। यह भक्ति अहैतुकी भक्ति की प्रथम सीढ़ी कही जा सकती हैं। गौणी भक्ति, हैतुकी भक्ति या इसे अपरा भक्ति भी कहते है। गौणी भक्ति से भक्ति के वास्तविक स्वरूप प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

इस प्रकार की भक्ति में भक्त सांसारिक वस्तुओ की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है। वही संकट में घिरने पर भी ईश्वर को पुकारने वाले भक्त भी इसी प्रकार की श्रेणी में आते है। हैतुकी भक्ति दो प्रकार की है – (क). वैधी भक्ति (ख). रागत्मिक भक्ति

(क). वैधी भक्ति – वैधी भक्ति के शास्त्रो में नौ भेद बताये गये है। जिसे नवधा भक्ति कहा जाता है। शास्त्रों में नवधा भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। श्रीमद् भगवत् में नवधा भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया हैं –

''श्रवण कीर्तनं विश्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चन वन्दनं दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्।।''

– भागवत 7/5/23

अर्थात् श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, साख्य व आत्मनिवेदन ये भक्ति के नौ भेद है।

1.श्रवण भक्ति – चित्त को एकाग्र कर ईश्वर के प्रति श्रद्धा व विश्वास कर, उनके दिव्य गुण, चरित्र लीला आदि का श्रवण करना श्रवण भक्ति है।

2.कीर्तन भक्ति – कीर्तन भक्ति, ईश्वर के दिव्य गुणो, चरित्र, लीला, कथा आदि का गीतो के माध्यम से कथन करना कीर्तन भक्ति है। इसे इस प्रकार समझ सकते है। भगवान की भक्ति के भजन करना, गीत गाना कीर्तन भक्ति है। उदाहणार्थ – चैतन्य महाप्रभु।

3.स्मरण भक्ति – भगवन नाम का श्रवण, उनके दिव्य गुणो का बार – बार चिन्तन करना स्मरण भक्ति है। व ध्यान करना स्मरण भक्ति है। उदाहणार्थ – भक्त प्रहलाद।

4.पादसेवन – ईश्वर के दिव्य चरण कमलो का सेवा करना पादसेवन भक्ति है। यह भक्ति दो प्रकार से होती है।

प्रथम – अपने अराध्य, ईष्ट या गुरूदेव के पादयुगल का हृदय में श्रद्धा भक्ति पूर्वक ध्यान करना ही पादसेवन भक्ति है।

द्वितीय – अपने ईष्ट आराध्य देव की प्रतिमा के चरणो को धोकर नित्य श्रद्धाभाव से साधना करना पादसेवन भक्ति है। उदाहणार्थ – लक्ष्मी जी या गुरू चरणों की वन्दना करने वाले शिष्य।

5.अर्चन भक्ति – अर्चन का तात्पर्य है, पूजन अतः भगवान का विधि विधान पूर्वक व नैवेद्य आदि द्वारा पूजन करना अर्चन भक्ति है। इसमें बाह्य सामाग्री द्वारा भक्त भगवान का पूजन करता है। अथवा मन ही मन कल्पित सामाग्री द्वारा भी भगवान का श्रद्धा पूर्वक पूजन करता है। उदाहणार्थ – राजा पृथु।

6.वन्दन भक्ति – वैदिक रीति व वैदिक मन्त्रो के द्वारा उत्तम स्त्रोतो द्वारा भगवान की पूजा अर्चना करना वन्दन भक्ति है। उदाहणार्थ – अक्रूर।

7.दास्य भक्ति – ईश्वर की उपासना करते हुए सेवा करते हुए अपने प्रति उपासक का भाव व सेवक का भाव बनाये रखना ही दास्य भक्ति है। उदाहणार्थ – जैसा हनुमान जी श्रीराम जी के प्रति रखते थे।

8.साख्य भक्ति – भगवान के प्रति मित्रता का भाव रखना तथा उन्हे अपना आराध्य मान कर भक्ति करना सख्य भक्ति है। उदाहणार्थ – अर्जुन, उद्धव और सुदामा आदि।

9.आत्मनिवेदन भक्ति – आत्मनिवेदन वह भक्ति है, जिससे भक्त भगवान के स्वरूप में स्वयं को सर्वतोभावेन समर्पण कर देता है। उदाहणार्थ – प्रहलाद पौत्र राजा बलि ने वामन भगवान को अपना सर्वस्य अर्पण कर दिया था।

(ख). रागात्मिक भक्ति – रागात्मिक भक्ति नवधा भक्ति की चरम अवस्था कही जा सकती है। जब नवधा भक्ति अपनी चरम अवस्था को पार कर जाती है। उस स्थिति में हृदय में आलौकिक भगवत् प्रेम प्रवाहित होने लगता है। शास्त्रो में इसका वर्णन इस प्रकार है –

'रसानुभाविका आनन्दशक्तिदा रागात्मिका।'

अर्थात् दिव्य भगवत् प्रेम रस यानी आनन्द रस का अनुभव कराने वाली भक्ति विशेष को रागात्मिक भक्ति कहते है। रागात्मिक भक्ति नवधा भक्ति की साधना के पश्चात् प्राप्त दिव्य अलौकिक आनन्द की आनुभूतिक अवस्था है।

इस अनुभव गम्य अवस्था में भक्त को ईश्वर की झलक यत्र – तत्र (जहॉ – तहॉ) ही मिल जाती है। भगवान की झलक उसे कभी जल में, कभी थल में, कभी आकाश में, कभी मेघों में, कभी पेड़ों में, कभी पत्तो में, कभी बाहर, कभी अपने अन्तःस्थल (हृदय) में उनकी झलक देखेने को मिलती है। भक्त का चित्त उन्ही रूपों में रमने लगता है। इसी आनुभूति की अवस्था का नाम रागात्मिक भक्ति है।

(2) अहैतुकी या पराभक्ति – साधक की उत्कृष्ट और अन्तिम पराकाष्टा ही पराभक्ति हैं। पराभक्ति के उपासक और उपास्य एक हो जाता हैं। द्वैतभाव समाप्त हो जाता हैं। अतः कहा जा सकता है कि पराभक्ति में अराध्य व अराधक एक हो जाते है तथा द्वैत का भाव मिट जाता है। केवल ध्येय मात्र की प्रतीति रहती है। साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

प्रिय विद्यार्थियो अभी तक आपने भक्ति का अर्थ, परिभाषा, भक्ति की विविध रूप का अध्ययन किया। क्या भक्त के भी विविध रूप है? यह प्रश्न आपके मन में आ रहे होगे आइये अब भक्त कितने प्रकार के होते है, और वह किस प्रकार की भक्ति करते है। इसका अध्ययन करें –

3.6.3 – भक्त के प्रकार – जैसा कि पूर्व विदित है कि ईश्वर में परम् अनुरक्ति ही भक्ति है। इस प्रकार प्रभु के प्रति अनन्य प्रम में डूब जाना भक्ति है। भगवान के भजन करना भक्ति है। और जो भगवान का भजन, पूजा, अराधना, जप, ध्यान आदि करता है। वह भक्त कहलाता है।

भक्त ईश्वर की भक्ति किसी प्रयोजन से करता है। और सभी भक्तो का प्रयोजन भिन्न – भिन्न होता है। तथा भिन्न प्रयोजन होने से भक्त भी भिन्न प्रकार के है। इन भगवत् भक्तो को श्रीमद् भगवत् गीता में इस प्रकार वर्णन किया गया है –

''चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्शभ।।''

– गीता 7/16

हे अर्जुन चार प्रकार के पुण्यशाली मनुष्य मेरा भजन करते है। उपासना करते है। वे है आर्त, जिज्ञासु, अर्थाथी और ज्ञानी।

1.आर्त भक्त – प्रथम श्रेणी के भक्त है आर्त भक्त। ये वे भक्त है, जब संसारिक विपदाओं और कष्टो में घिर जाते है। तब उस समय ईश्वर को पुकारते है। उसकी भक्ति करते है तथा उसको आर्त भाव से पुकारते हैं। जैसे – गजराज, द्रौपदी।

2.जिज्ञासु भक्त – जिज्ञासु भक्त वह है। जो आत्म तत्व को जानने की जिज्ञासा रखता हो। जिज्ञासु भक्त ब्रहम तत्व के यर्थाथ रूप से जानने की ईच्छा रखने वाला होता है। वह इसी ईच्छा से ईश्वर को भजता है। जैसे उद्धव, राजा जनक।

3.अर्थाथी भक्त – अर्थाथी भक्त वे भक्त होते है। जो संसारिक वस्तु, धन, वैभव, मान एवं प्रतिष्ठा एवं स्त्री व पुरूष आदि प्राप्ति की ईच्छा से ईश्वर की उपासना करते हैं। समस्त मानव व दानव इसी श्रेणी में आते है।

4.ज्ञानी भक्त – ज्ञानी भक्त ऐसे भक्तो को कहा जाता हैं। जो ब्रहम ज्ञान की प्राप्ति के लिए आत्म कल्याण की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करते है। ऐसे भक्त ब्रहम में चित्त को लगाये रखने के लिए ध्यान – समाधि का अभ्यास आवश्यक समझ कर ब्रहम के ध्यान – समाधि में चित्त को लगाये रहते है। श्रीकृष्ण ने श्रीमद् भगवद् गीता में कहा है कि ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरूप है। ऐसा मेरा मत है। इस प्रकार सभी भक्तो में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं।

श्रीमद् भगवत पुराण में भक्तो को तीन श्रेणियो में विभाजित किया गया है –

(1).साधारण भक्त – साधारण भक्त के भक्त है जो ईश्वर की की अराधना केवल मूर्ति के रूप में करते है।
(2).मध्यम भक्त – जो भक्त ईश्वर के प्रति उत्कृष्ट प्रेम, अनुराग रखने वाला तथा ईश्वर के भक्तो के प्रति मित्रता का भाव रखने वाला तथा अज्ञानीजनो के प्रति दया का भाव तथा शत्रुओ के प्रति उदासीनता का भाव रखने वाला होता है। वह मध्यम श्रेणी का भक्त है।
(3).उत्तम भक्त – उत्तम भक्त वह है। जिनके अन्दर समत्व का भाव हो। जिसके लिए अपने पराये में कोई भेद ना हो। अपनी तथा दूसरो की सम्पत्ति में अन्तर नही रहता हो। अहंकार व अभिमान से दूर रहकर समत्व बुद्धि वाला ही उत्तम भक्त है।

उत्तम भक्त मन, वचन, कर्म से ईश्वर के प्रति समर्पित होता है। तथा सभी प्राणियो मे ईश्वर का स्वरूप देखता है। तीा उनसे निश्चल प्रेम करता है। उसे सर्वत्र ईश्वर के ही दर्शन होते है। जो ईश्वर का एक निष्ट ध्यान करते हुए निंदा तथा स्तुति में सम रहता है। वही उत्तम भक्त है।

इस प्रकार भक्तियोग के साधक की एक स्थिति यह आ जाती है। जिसमें अपने पराये का भी ज्ञान नही रहता हैं। उपासक और उपास्य एक ही हो जाते है। यही पराभक्ति है। श्रीमद्भगवत् गीता में श्रीकृष्ण नं स्वयं कहा है –

''सन्तुष्टः सततः योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मथ्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मभ्दक्तः समे प्रियः।।'' – 12/14

अर्थात् जो सदा सन्तुष्ट चित्त कां अपने वश में रखने वाला अपने में ब्रहम मात्र का दृढ़निश्चय करने वाला, मुझ (परमात्मा) मन तथा बुद्धि को समर्पित करने वाला योगी मेरा भक्त मुझे सबसे प्रिय है। इस प्रकार आनन्द स्वरूप ब्रहम को प्राप्त कर साधक स्वयं भी आनन्दी बन जाता है।

श्रुति का कथन है – 'आत्मैवेद् सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेव मन्वान एवं विजानन्ना .... भवति।'' – छान्दोग्य उपनिषद 7/25/2

अर्थात् यह सब कुछ परमात्मा ही है, जो ऐसा देखता है, मानता है, ऐसा समझता है, वह परमात्मा में ही अनुराग तथा उसके स्वरूप में सुख तथा आनन्द का अनुभव करता हुआ परमात्मा स्वरूप हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न –

1.बहुविकल्पीय प्रश्न –

क. ज्ञान मार्ग द्वारा सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति है –

अ. ज्ञानयोग ब. कर्मयोग

स. भक्तियोग द.लययोग

ख. ज्ञानयोग में बर्हिरंग साधना के कितने साधन है?

अ. 2 ब. 3

स. 4 द. 5

ग. मोक्ष प्राप्ति की तीव्र इच्छा है –

अ. भक्तियोग ब. मुमुक्षुत्व

स. कर्मयोग द. षट्सम्पत्ति

क. गीता के अनुसार कर्म कितने प्रकार के है?

अ. 3 ब. 4

स. 6 द. 5

ड़. नवधा भक्ति में पहली भक्ति है।

अ. कीर्तन ब. पादसेवन

स. स्मरण द. श्रवण

च. कष्टो से घिर कर ईश्वर को पुकारने वाला भक्त है।

अ. अर्थाथी भक्त ब. ज्ञानी भक्त

स. आर्त भक्त द. इनमें से कोई नहीं

छ. 'योगः कर्मसु कौशलम्' यह श्लोक है –

अ. योगसूत्र ब. श्रीमद्भगवत् गीता

स. धेरण्ड संहिता द. शिव संहिता

3.7 सारॉश

योग विद्या हमारे प्राचीन ऋषियो द्वारा अपनायी गयी ऐसी साधना पद्धति है, जिन साधना पद्धति को अपनाकर जीवन के लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। योग के किसी भी मार्ग ज्ञान, कर्म, भक्ति को अपनाकर लक्ष्य तक पहुॅचा जा सकता है। ज्ञानमार्ग को अपनाकर सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति को ज्ञानयोग कहते है। अपने कर्त्तव्य कर्म करते हुए कुशलता पूर्वक कर्मो को करना कर्मयोग है, तथा भक्ति मार्ग द्वारा ईश्वरीय सत्ता की दिव्य अनुभूति ही भक्ति योग है। प्रिय विद्यार्थियो इन तीनो को हमारे जीवन में अत्यन्त महत्व है। भक्ति मार्ग का अनुसरण करते हुए ज्ञान की प्राप्ति होती है, और विवेक ज्ञान द्वारा मनुष्य के कर्म स्वयं ही कुशल होने लगते है। इस प्रकार इन तीनो का हमारे जीवन में अत्यधिक महत्व है। भक्तियोग, कर्मयोग व ज्ञानयोग का समन्वय जीवन को उच्च व दिव्य बनाता है। दिव्य व उत्कृष्ट जीवन द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

3.8 शब्दावली

- अन्तःकरण – अन्तरात्मा
- अविरत – अनवरत
- लघुता – हल्कापन
- सांख्य योग – महर्षि कपिल कृत दर्शन
- विवेक ज्ञान – सही – गलत का ज्ञान

- विशिष्टता – विलक्षण, अद्भूत, अधिक शिष्ट, यशस्वी
- अर्न्तज्ञान – अन्तःकरण, अन्तबोध, भीतरी ज्ञान
- मुमुक्षुत्व – मोक्ष प्राप्ति की ईच्छा
- आत्मानुसन्धान – आत्मा की खोज, आत्म तत्व का अन्वेषण
- उत्कण्ठा – तीव्र इच्छा

3.9 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

1.क – अ ख – स ग – ब घ – अ

ड़ – द च – स छ – ब

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 – विज्ञानानन्द सरस्वती (2003), योग विज्ञानयोग। निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।

2 – कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।

3 – निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।

4 – पाण्ड़ेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली

5 – व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।

6 – योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।

7 – मिश्र चन्द्र जगदीश (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ज्ञानयोग को परिभाषित करते हुए ज्ञानयोग के बहिरंग साधनो की व्याख्या कीजिए।
2. ज्ञानयोग के अन्तरंग साधनो के अन्तर्गत निदिध्यासन को विस्तार पूर्वक समझाइए।
3. भक्तियोग का अर्थ, परिभाषा क्या है? नवधा भक्ति का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. कर्म के प्रकारो का विस्तृत वर्णन कीजिए।
5. कर्म, भक्ति, ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है, स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4 अष्टांग योग

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्धेश्य

4.3 अष्टांग योग

4.4.1 बहिरंग योग

- यम
- नियम
- आसन
- प्राणायाम
- प्रत्याहार

4.4.2 अन्तरंग योग

- धारणा
- ध्यान
- समाधि

4.4 सारांश

4.5 शब्दावली

4.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठको इससे की पूर्व इकाई से आपने योग के प्रकार ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग का ज्ञान प्राप्त किया। आप ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग से भलीभॉति परिचित हो चुके होंगे। अब आप समझ गये होंगे कि साधक अपनी इच्छा के अनुसार जो भी साधन अपनाये सभी का अन्तिम लक्ष्य एक ही है। जिस भी मार्ग को अपनायेगें लक्ष्य तक अवश्य पहॅुच जायेंगे। आपने अध्ययन किया होगा कि इन साधना पद्धतियो को अपनाकर किस प्रकार उत्कृष्ट जीवन किया जा सकता हैं। कर्म, भक्ति, ज्ञान का समन्वय हमारे जीवन को उच्च व दिव्य बना देता है। जिज्ञासु पाठको प्रस्तुत इकाई में हमारे अध्ययन का विषय योग का अष्टांगिक मार्ग, यानि अष्टांग योग। अष्टांग योग जो कि योग के आठ अंग है। महर्षि

पतंजलि ने तीन श्रेणियॉ साधको के लिए बनायी है, उच्च कोटि, मध्यम कोटि, निम्न कोटि। अष्टांग योग की साधना महर्षि ने निम्न कोटि के साधको के लिए उपयुक्त बतायी है। निम्न कोटि के साधक वे साधक है, जिन्होने अभी तक अपनी साधना शुरू नहीं की है। उन्हें अष्टांग योग साधना का अभ्यास करना आवश्यक है। अष्टांग योग की साधना से चित्त शुद्धि तथा विवेकख्याति की प्राप्ति होती हैं। अष्टांग योग साधना के आठ अंग है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इन आठ अंगों में प्रथम दो यम व नियम मनुष्य के व्यवहार की शुद्धि करते है। हमारे अन्दर दिव्य गुणों का अवतरण होता है। यदि यम व नियम का पालन न किया जाए तो साधक की स्थिती वैसी ही हो जाती है, जैसे कमजोर बुनियाद वाली इमारत ज्यादा दिन तक नहीं रहती हैं। उसी प्रकार साधक की स्थिती आसन व प्राणायाम शारीरिक शुद्धि तथा प्रत्याहार धारणा, ध्यान के सतत् अभ्यास इन्द्रियो की शुद्धि व अन्तः प्रज्ञा जाग्रत ही समाधि की प्राप्ति होती है।

प्रिय विद्यार्थियों पूर्वोन्त कथन का अध्ययन कर लेने के बाद आप के मन में विभिन्न प्रश्नो की जिज्ञासा हुई होगी जैसे –

- अष्टांग योग क्या है ?
- यम, नियम क्या है ?
- अन्तरंग योग क्या है, बहिरंग योग क्या है ?
- अष्टांग योग साधना साधारण जन मानस के लिए सरल, सहज में अपनायी जाने बाली साधना है या कठिन, श्रम साध्य है आदि।

आइये आपकी इन्हीं जिज्ञासाओं का समाधान इस इकाई में करने का प्रयास किया गया है। जिससे कि इच्छुक पाठक इन योगागों का अनुसरण कर अपने जीवन लक्ष्य की प्राप्ति कर सकें।

4.2 उद्धेश्य

प्रिय विद्यार्थियों प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- अष्टांग योग के विभिन्न अंगो को समझ सकेगें।
- यम और नियम कैसे व्यवहार की शुद्धि करने में समर्थ है, समझ पायेगें।
- आसन, प्राणायाम शरीर की शुद्धि में किस प्रकार सहायक हो समझ सकेगें।
- अष्टांग योग के महत्व को समझ सकेगें।

4.3 अष्टांग योग

अष्टांग योग महर्षि पतंजलि द्वारा रचित पतंजलि योगसूत्र में वर्णित ऐसी साधना पद्धति है। जिसके द्वारा मनुष्य जीवन का एकमात्र उद्धेश्य में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। महर्षि पतंजलि ने साधन पाद में अष्टांग योग का वर्णन किया है। अष्टांग योग जैसा कि नाम से विदित हो रहा है। अष्टांग योग, आठ अंगों वाला योग। महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगो को अष्टांग योग का नाम दिया है। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में साधको की श्रेणी निर्धारित की है। इनमें सामान्य कोटि के साधको के लिए अष्टांग योग की साधना बताई गयी है। वे साधक जिनकी न तो शरीर शुद्ध है, और न ही चित्त शुद्ध है। ऐसे साधको के लिए अष्टांग योग का मार्ग बताया गया हैं।

महर्षि पतंजलि ने दूसरी श्रेणि मध्यम कोटि के साधको के लिए बताई हैं। जिसके लिए क्रिया योग की साधना बताई गयी है। उच्च कोटि के साधको के लिए अभ्यास – वैराग्य की साधना बताई गयी है, व ईश्वर प्राणिधान के द्वारा उच्च कोटि के साधक समाधि की अवस्था को प्राप्त कर सकते है। महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार तीनो श्रेणियो के लिए साधनाए बताई गयी है। निम्न कोटि के साधको के लिए अष्टांग योग की साधना बताई है। अष्टांग योग की साधना से ज्ञान की प्राप्ति होती हैं, और अज्ञानता छूटता जाता है। इस साधना से चित्त शुद्ध होता है। चित्त शुद्ध होने पर ही विवेक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अध्यात्म विद्या में योग का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसके माध्यम से मोक्ष सम्भव है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए योग के अनेक स्वरूपो की चर्चा शास्त्रो व आर्ष ग्रन्थों में की गयी है। इनमें कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि है। इन्ही उपायों में से महर्षि पतंजलि ने चित्त की शुद्धि के लिए व विवेक ख्याति की प्राप्ति के लिए अष्टांग योग का मार्ग बताया है। जिसका वर्णन उन्होने साधन पाद में इस प्रकार किया हैं –

योगाडग्•नुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवकेख्यातेः। पा0 यो0 सू0 2/28

अर्थात् योग के आठ अंगो का अनुष्ठान करने (उनको आचरण में लाने) से चित्त के मल का अभाव होकर वह सर्वथा निर्मल हो जाता है। उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति तक हो जाता है। अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियो से सवर्था भिन्न प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अष्टांग योग के साधनो से चित्त शुद्ध होने पर विवेक ज्ञान प्राप्ति होता है। महर्षि पतंजलि ने समाधि पाद के अगले सूत्र में अष्टांग योग का वर्णन इस प्रकार किया हैं –

यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहारधारणा ध्यान समाधयोऽष्टॅावंगानि । यो0सू02/29

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि ये योग के आठ अंग हैं। जिसे अष्टांग योग कहते है। इन आठ अंगो का अनुष्ठान करने से चित्त की शुद्धि होकर विवेक ज्ञान का प्रकाश होता है। इन साधनो को कर्म से साधने पर चित्त शुद्ध हो जाता हैं। यम के साधने से व्यवहारिक आचरण शुद्धि होती है। नियमो के साधने से आन्तरिक अनुशासन व व्यवहार की शुद्धि होती हैं। आसन व प्राणायाम के अभ्यास से शरीर की शुद्धि होती हैं। श्वासो व नाड़ियो की शुद्धि होती है। प्रत्याहार से इन्द्रियों की शुद्धि होती है। धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास से चित्त निर्मल होकर सत्य स्वरूप आत्मा का ज्ञान हो जाता है। अष्टांग योग, योग की आठ वह सीढ़ियॉ है, जिन पर क्रम से चलकर समाधि की प्राप्ति होती है।

अष्टांग योग की साधना के निम्न भेद इस प्रकार है –

4.3.1 – बर्हिरंग योग – महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग में से यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ये पॉच योगांग बर्हिरंग साधन कहलाते हैं। ये पॉच योगांग बाह्रय क्रिया कलापो से सम्बन्धित होने के कारण तथा विभूति प्राप्त करने के लिए बाह्रय साधनों के रूप में प्रयुक्त होने व अन्तरंग साधनो की सिद्धि के लिए दृढ़ आधार रूप भूमिका तैयार करने के कारण इन्हें बर्हिरंग साधन कहते हैं। इसके अतिरिक्त योग साधना में नवदीक्षित साधको के सामान्य अभ्यास के लिए ये महत्वपूर्ण होते है। इसलिए इन्हें बर्हिरंग साधन कहा गया हैं। ये साधन निम्न प्रकार है –

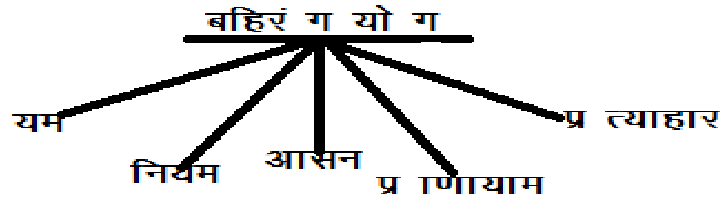

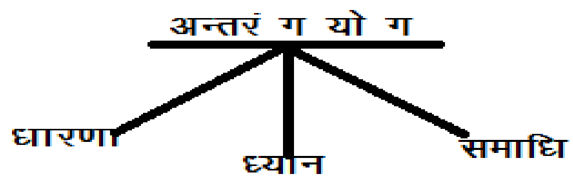

(1) यम – अष्टांग योग का पहला अंग 'यम' है। यम वाह्य आचरण की शुद्धि करता है। मनुष्य का चरित्र शुद्ध होने पर ही वह साधना में प्रवृत हो सकता है, अन्यथा नहीं। यम द्वारा अच्छे संस्कारों का उदय होता हैं। शास्त्रों में यम को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

यम शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की दो धातुओं से मानी गयी है –

(अ)– यम उप्रमे

यम उप्रमे का अर्थ है – ब्रहम में रमण करना

(ब)– यम बन्धने

यम बन्धने का अर्थ है – सामाजिक बंधन

यमयन्ति निवतयन्ति (निवर्त्यन्ति) इतियमा।

अर्थात् जो अवांछनीय कार्यो से मुक्ति दिलाता हैं। निवृत्ति दिलाता है। वह यम कहलाता है।

त्रिशिखी ब्रहमणोपनिषद के अनुसार –

'देह इन्द्रियसु वैराग्यं यम इति उच्यते बुधैः।'

अर्थात् यम शरीर और इन्द्रियों में वैराग्य की स्थिती है। ऐसा बुद्धिमान लोग मानते है।

यमयते नियम्यते चित्त अनेन इति यमः।

अर्थात् चित्त को नियम पूर्वक चलाना यम कहलाता है। इस प्रकार यम एक प्रकार का संयम है। कायिक, मानसिक व वाचिक संयम को यम कहा जा सकता है। यम के

अन्तर्गत पॉच तत्व आते है। महर्षि पतंजलि ने पतंजलि योगसूत्र में पॉच प्रकार के यमो का वर्णन किया है।

'अहिंसा सत्यास्तेय ब्रहमचर्यपरिग्रहा यमाः।'

– पा0 यो0 सू0 2/30

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह ये पॉच यम है। यम से मनुष्य के बाह्य आचरण की शुद्धि होती है। ये निम्न प्रकार है –

(क) – अहिंसा – अहिंसा का अर्थ है, मन वचन कर्म से किसी भी प्राणी को कभी भी किसी प्रकार से दुःख ना देना, उनका अपकार न करना अहिंसा हैं। किसी से द्वेष भाव रखना, दूसरों की भलाई न देख सकना, शत्रुता का भाव रखना, ये सब हिंसा है। ऐसा न करना ही अहिंसा हैं। योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने अहिंसा का वर्णन करते हुए लिखा है 'वितर्का हिंसादयः कृतकारितनुमोदिता लोभ क्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष भावनम्।' – पा0 यो0 सू0 2/34

इस पाद से वितर्को के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार हिंसा तीन प्रकार की होती है – कृत, कारित, अनुमोदित ।

- कृत – स्वयं की हुयी
- कारित – आज्ञा देकर कराई हुयी
- अनुमोदित – अनुमोदित की हुई (बहुत अच्छा किया, ठीक किया)

इस प्रकार हिंसा तीन प्रकार की होती है। यह हिंसा भी अज्ञान के कारण ही होती है। जबकि परमब्रहम परमात्मा को जानने वाले ज्ञानी पुरूष सभी प्राणियो में उसी ईश्वर का स्वरूप देखता है। सभी में एकतत्व के दर्शन करने वाले सत्पुरूषों का किससे बैर व किससे मोह अर्थात् वह ज्ञान प्राप्त होने पर भेद बुद्धि समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जब योगी पूर्णतया अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाता है, तब हिंसक से हिंसक प्राणी भी उससे बैर त्याग देता है। अहिंसक हो जाता है, जिसका वर्णन महर्षि ने इस प्रकार किया है।

'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ बैरत्यागः।'

– पा0 यो0 सू0 2/35

अर्थात् अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी के निकट हिंसक प्राणी भी बैर त्याग कर मित्रवत हो जाते है। अभिप्राय यह है कि योगी के हिंसा भाव का सर्वथा अभाव हो जाने पर केवल मनुष्य ही नहीं वरन् हिंसक वन्य पशु – पक्षी भी हिंसा का त्याग कर देते है। योगी को अभयता प्राप्त हो जाती है।

(ख) – सत्य – सत्य का अर्थ है। मन वचन कर्म में एक रूपता अर्थात् मन और वाणी का व्यवहार अर्थानुकूल होना। इन्द्रियों और मन से जैसा देखा वैसा ही दूसरो के समक्ष प्रकट करते समय मन और वाणी से प्रकट करना ही सत्य है। शास्त्रो में कहा बया है –

'सत्यं ब्रुयात् प्रियं ब्रुंयात् नसत्यम प्रियम्।'

अर्थात् सदा सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसा वचन न बोले जो कि सुनने में कटु हो, अप्रिय हो, ऐसा सत्य न बोले जैसे नेत्र हिन को अन्धा कह देना सत्य है। परन्तु अप्रिय (कटु) सत्य है।

मण्डूकोपनिषद कहता है –

'सत्यमेवजयते नानृतं।'

अर्थात् – सत्य की जीत होती हैं, असत्य की नहीं। योग के साधक को सत्य का तीन प्रकार से पालन करना चाहिए। जैसा कि वेदों में भी कहा गया है – मानसिक सत्य, वाचिक सत्य, कायिक सत्य।

- **मानसिक सत्य** – लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि से रहित हुआ मन, शुद्ध मन से तथा वाणी से व्यवहार करना मानसिक सत्य है। मानसिक सत्य का सर्वाधिक महत्व स्वीकार किया गया है। जैसा कि ऋग्वेद में वर्णन किया गया है –

  'नि गव्यता मनसा।'

  – ऋग्वेद 3/31/9

अर्थात् जो साधक मन के अनुसार वाणी का व्यवहार करता हैं वही अमरत्व की भूमिका तैयार करता है। वही यज्ञ के महत्व को जानता है।

- **वाचिक सत्य –** अहंकार, क्रोध के वशीभूत होकर बोले जाने वाले असत्य वचनो को (कटु वचनो) को त्याग कर सत्य एवं मधुर वचन बोलना वाचिक सत्य है। सत्य के साथ – साथ वेदों में भी प्रिय वाणी, मधुर वाणी का प्रयोग पर बल दिया गया है। वाणी से सत्य भाषण करने पर जब अमोघ शक्ति प्राप्त होती है। ये ही अन्त में ब्रहम प्राप्ति में सहायक है। जिसका वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार से है –

  'ऋतं येमान ऋतमिद् वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उगव्यु।– ऋग्वेद 4/23/10

- **कायिक सत्य** – मन एवं वाणी के अनुरूप सत्याचरण करना कायिक सत्य है। अर्थात शरीर के द्वारा सत्य धर्म युक्त कार्यों को करना ही सत्य आचरण कहलाता है। सत्य के आचरण के लिए वेदों में निर्देश दिये गये है। वेदों में सत्य को स्वभाव में उतारने के लिए वेदों में निर्देश दिया गया है –

'इदं द्यावापृथिवी सत्यमस्तु पितर्मातर्यदिहोपब्रुवेवाम्।' ऋग्वेद 1/185/11 (भावार्थः)

अर्थात् माता – पिता बाल्यावस्था से ही सन्तानों को सदाचार की शिक्षा दें, तथा सन्तान उनका सदाचरण के लिए अनुकरण करें। इस प्रकार सत्य का मन, वचन, कर्म से पालन करने वाला मनुष्य साधना के पथ पर आगे बढ़ता है। तथा उसका जीवन उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होता है। सत्य की प्रतिष्ठा होने पर अर्थात् सत्य के फल के बारे में महर्षि पतंजलि ने कहा है –

'सत्य प्रतिष्ठायां कियाफलाश्रयत्वम्।'

– 2/36 पा0 यो0 सू0

अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा होने पर वाणी और विचारों में क्रिया फलदान की शक्ति उत्पन्न ही जाती है। ऐसा व्यक्ति जो भी कुछ बोलता है, वह फलित होने लगता है। अर्थात उसकी वाणी में अमोघ शक्ति आ जाती है।

(ग) – अस्तेय – यमो में तीसरा स्थान अस्तेय का है। स्तेय का अर्थ है, स्वामी की आज्ञा के बिना, अनाधिकृत पदार्थ को अपना लेना या ग्रहण कर लेना इसके विपरीत अस्तेय का अर्थ है – मन, वचन, कर्म से परद्रव्य के प्रति लालसा की प्रवृति का त्याग कर देना है। विना आज्ञा किसी की वस्तु लेने से जो उस मनुष्य को कष्ट होता है। वह भी एक प्रकार की हिंसा है। और परद्रव्य (वस्तु) का अपहरण न करना ही अहिंसा है। इस प्रकार की अहिंसा का पालन ही अस्तेय है। शाडिल्योपनिषद में कहा गया है –

'अस्तेयं नाम मनोवाक् कायकर्मभिः परद्रव्येशु निस्पृहता।'

अर्थात् मन, शरीर और वाणी से दूसरो के द्रव्य (वस्तु) की इच्छा न करना अस्तेय है। याज्ञवल्क्य संहिता में कहा गया है –

''मनसा वाचा कर्मणां परद्रव्येशु निस्पृहः।
अस्तेयनिति सम्प्रोक्तं ऋषिभ्झिः तत्व दर्शिभिः।।''

अर्थात् मन, वचन, और कर्म स दूसरे के द्रव्य की इच्छा न करना अस्तेय है। व्यास भाष में महर्षि व्यास का कथन है –

'स्तेयमशस्त्रपर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः।
पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।।''

– यो0 व्यास भाष्य 2/30

अर्थात् शास्त्र निषिद्ध रीति से दूसरे के द्रव्यों का लेना स्तेय है। तथा इसके विपरीत उन वस्तुओं में किसी प्रकार का राग ना होना, पर द्रव्य में राग का प्रतिशेध ही अस्तेय है। इसलिए छोटी से बड़ी वस्तु, मिट्टी से लेकर सोना, चॉदी, हीरा, मोती आदि कितनी भी मूल्यवान वस्तु क्यों ना हो, उन वस्तुओ को पूछे बिना, अनीतिपूर्वक, मन, वचन तथा शरीर से ग्रहण करने की इच्छा का अभाव होना अस्तेय है। अस्तेय सिद्धि के विषय में योगसूत्र में महर्षि पतंजलि ने वर्णन किया है –

'अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।'

– पा0 यो0 सू0 2/37

अर्थात् अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर सभी प्रकार के द्रव्य पदार्थ, रतन आदि बिना इच्छा के प्राप्त होने लगते हैं। उस मनुष्य को किसी भी प्रकार के धन, रत्न का प्रभाव नहीं रहता है। श्री मद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दो में कहा है –

'अनन्याष्चिन्तयन्तो मा ये जनाः पर्युपासते।
तेशां नित्याभियुक्तानां योगश्रेम वहाम्यहम्।।''

– गीता 9/22

अर्थात् जो उपासक ईश्वर को अनन्य भक्ति भाव से भजते है, व इच्छा का त्याग व आसक्ति रहित जीवन जीते हुए निरन्तर ध्यान व चिन्तन करते रहते है। उन भक्तों का मैं योगश्रेम मैं स्वयं वहन करता हूॅ। इस प्रकार पर द्रव्य की इच्छा न रखने वाले अस्तेय

प्रतिष्ठित पुरूषों को में किसी भी प्रकार के द्रव्यों की व भौतिक सुख सुविधाओ का कदापि अभाव नहीं रहता है। यह वस्तु उन्हें उनकी इच्छाओं से पूर्व ही उपलब्ध हो जाती है।

(घ) – ब्रहमचर्य – योग के साधनों में उपयोगिता की दृष्टि से ब्रहमचर्य का प्रथम स्थान है। यमो में इसकी गणना चतुर्थ स्थान पर है। ब्रहमचर्य मन को ब्रहम में आचरण या ईश्वर परायण बनाये रखना ही है। जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है –

'वीर्य धारणं ब्रहमचर्यम्।'

अर्थात् शरीरस्थ वीर्य शक्ति की अविचल रूप में रक्षा करना या धारण करना ब्रहमचर्य है।

व्यास भाष्य में महर्षि व्यास ने लिख है –

'ब्रहमचर्य गुप्तेन्द्रिस्योपस्थस्य संयमः।'

अर्थात् गुप्त इन्द्रिय (उपस्थेन्द्रिय) के संयम का नाम ब्रहमचर्य है। याज्ञवल्क्य संहिता में ब्रहमचर्य का वर्णन इस प्रकार है –

'कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागो ब्रहमचर्य प्रचक्षते।।''

– याज्ञवल्क्य संहिता

अर्थात् योगी को मन, वचन तथा कर्म से वाणी से सर्वदा मैथुन का त्याग कर देना चाहिए। क्योकि मन, वाणी तथा शारीरिक चेष्टाओं से मैथुन की इच्छा का त्याग ही वास्तविक ब्रहमचर्य है। ब्रहमचर्य की प्रतिष्ठा होने पर या ब्रहमचर्य सिद्ध साधक के सम्बन्ध में पतंजलि योगसूत्र में कहा गया है –

'ब्रहमचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।'–पा0 यो0 सू0 2/38

अर्थात् ब्रहमचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को वीर्य लाभ होता है। अर्थात् तेज प्राप्त होता है। साधक का शरीर तेजस्वी, सुन्दर व अपरिमित शक्ति सामर्थ्य प्राप्त होती है।

(ड़) – अपरिग्रह – महर्षि पतंजलि ने पंचम स्थान पर अपरिग्रह का परिगणन किया है। महर्षि व्यास ने अपरिग्रह को इस प्रकार परिभाषित किया है –

'अवशयाणामर्जनरक्षणक्षयसंग्ड़ हिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।' यो0 व्या0 भा0 2/30

अर्थात् विषयो को संग्रह करने में, उनकी रक्षा व नाश से सर्वत्र हिंसारूप दोष को देखकर स्वीकार ना करना अपरिग्रह कहलाता है। भोज वृत्तिकार ने इसको संक्षेप में कहा है –

'अपरिग्रहो भोगसाधनानामङ्गीकारः।'

– भो0 वृ0 2/30

अर्थात् भोग साधना को स्वीकार ना करना अपरिग्रह है। संचय वृत्ति का त्याग अपरिग्रह है। अर्थात् आवश्यकता से अधिक धन का संगह न करना, अपने जीविकोपार्जन के लिए जितना आवश्यक हो उतना संचय करना। अतः साधको व योगियो के लिए कहा गया है, कि देह रक्षा के अतिरिक्त भोग साधनो का परित्याग कर देना चाहिए। महर्षि पतंजलि ने अपरिग्रह का फल बताते हुए योगशास्त्र में कहा है –

'अपरिग्रहस्थैर्य जन्मकथन्ता सम्बोधः।'

– पा0 यो0 सू0 2/39

अर्थात् अपरिग्रह के दृढ़ प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को पूर्व जन्म में क्या थे, कैसे थे, की स्मृति हो जाती है। पूर्ण अपरिग्रह प्राप्त होने पर जन्म वृतान्त का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अर्थात् पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तथा अगला जन्म में क्या होने वाला है, इसका ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है।

(2) नियम – यमों के साथ नियमो का पालन भी आवश्यक हैं। यमों में मानसिक भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। यह मनुष्य की सामाजिक एवं वाह्य क्रियाओं सामजस्यपूर्ण बनाते है। तो नियम से मनुष्य जीवन का नियमन होता हैं। यम और नियम साधक के लिए क्रमशः सामाजिक और वैयक्तिक उपलब्धि है।

वेदों में यम ओर नियम को पक्षी के दो पंखो के समान कहा है। जिस प्रकार पक्षी अपने दोनों पखो के फड़फड़ाने पर ही आकाश में विचरण करते है, उसी प्रकार योगी को भी यम, नियम का समान भाव से पालन करना अनिवार्य है। तथा इसके पालन से ही वह योग साधना के पथ पर अग्रसर होता है। वैदिक मतानुसार पॉच प्रकार के नियमो का उल्लेख संहिताओं में मिलता है। जिनका उल्लेख महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में इस प्रकार किया है –

'शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।' पा0 यो0 सू0 2/32

अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान ये पॉच नियम है।

(क) – शौच – शौच शब्द की निष्पत्ति शुचि शब्द में अण् प्रत्यय लगाकर होती है। जिसका अर्थ है, पवित्रता, परिशुद्धि, सफाई। शौच से तात्पर्य शारीरिक, मानसिक व वाचिक शुद्धि से है। जिसमें निन्दितो का संग ना करना आदि है। शौच या शुद्धि को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है –

(अ) – वाह्य शुद्धि – (1) – शारीरिक शुद्धि –
(2) – वाचिक शुद्धि –
(ब) – आन्तरिक शुद्धि – मानसिक शुद्धि –

(अ) – वाह्य शुद्धि – वाह्य शुद्धि जिसके अन्तर्गत शारीरिक शुद्धि तथा वाचिक शुद्धि आते है।

'आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तुः।'

– यजु0 वेद 4/2

शारीरिक शुद्धि के अन्तर्गत सत्याचरण से मानव व्यवहार की शुद्धि, विद्या व तप से पंचमहाभूतो की शुद्धि ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि आदि होती है। शारीरिक शुद्धि पवित्र जल से स्नान आदि द्वारा होती है। शारीरिक शुद्धि के लिए जल अत्यन्त उपयोगी, रोगनाशक व पुष्टिकारक व ब्रहमचर्य में सहायक प्राणों को धारण करने वाला माता पिता के समान पालन करने वाला है।

वाचिक शुद्धि के अन्तर्गत सत्याचरण, स्पष्ट व्यवहार व वाणी को पवित्र करने के लिए मन्त्रोचारण एवं शुद्ध शब्दोचारण आदि आता है। मधुर भाषा द्वारा ही वाणी की शुद्धि सम्भव है। अतः योग साधना में तत्पर साधको के लिए वाणी का शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।

(ब) – आन्तरिक शुद्धि – अन्तकरण में उठने वाले भावो की शुद्धि आन्तरिक शुद्धि कहलाती है। दूषित भावनाओं को समाप्त करने के लिए तथा पवित्र मानसिक भावनाओ को जाग्रत करने के लिए सत्संग, साधना, प्रणायाम, ध्यान आदि साधना करना ही आन्तरिक शुद्धि है। धर्म में कमाया धन, कर्मो तथा सात्विक खान – पान से मानसिक भावो का परिष्कार होता है।

मानसिक शुद्धि ईर्ष्या, अभिमान, घृणा आदि मन के मलो को योगसूत्र में वताये गये उपाय (मैत्री, करूणा, मुदिता, उपेक्षा – 1/31) द्वारा दूर करना, तथा मन में आने वाले बुरे विचारों को अच्छे विचारों से दूर करना तथा शुद्ध व्यवहार द्वारा दुर्व्यहार को हटाना ही मानसिक (शौच) शुद्धि है। योगसूत्र में शौच के फल के विषय में कहा गया है –

'शौचत्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।'

– पा0 यो0 सू0 2/40

अर्थात् शौच (पवित्रता) के पालन से अपने अंगो में वैराग्य (घृणा) और दूसरो से संसर्ग न करने की इच्छा होती है। महर्षि पतंजलि ने अगले सूत्र में वर्णन किया है –

'सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्म दर्शन योग्यत्वानि च।'– पा0 यो0 सू0 2/41

अर्थात् इसके सिवाय शौच से 'अन्तकरण' की शुद्धि होती है। तथा चित्त एकाग्र होता है, मन में प्रसन्नता, इन्द्रिया वश में होती है। तथा आत्म दर्शन की योग्यता आती है।

(ख) – सन्तोष – सन्तोष शब्द तुष शब्दौ एवं तुष प्रीतौ धातु से निर्मित हुआ है। सन्तोष का अर्थ है – सम्यक प्रकार से तुष्टि एवं प्रीति। अर्थात् शरीर द्वारा पूर्ण पुरूषार्थ कर उससे प्राप्त धन से अधिक का लालच ना करना तथा न्यूनाधिक (कम –ज्यादा) की प्राप्ति पर शोक और हर्ष ना करना।

सन्तोष का पालन मन, वचन तथा कर्म से करना अनिवार्य है, व साधक के लिए हितकारी है। सामान्य अर्थ में अन्तःकरण में संतुष्टि का भाव जाग्रत होना ही सन्तोष है। अपने कर्तव्य कर्मो को करते हुए हमे प्रारब्ध कर्मो के कारण जो भी अर्थ लाभ हो उसी में संतुष्ट बने रहना सन्तोष है। हर परिस्थिति में सुख में, दुख में, सदा सम बने रहना अपना धैर्य ना खोना तथा प्रसन्नचित्त बने रहना सन्तोष है। इसके विपरित असन्तोष या तृष्णा ही दुःख का मूल है। सन्तोष का पालन मन, वचन एवं कर्म तीन प्रकार से पालनीय है –

(1) – मानसिक सन्तोष – मानसिक सन्तोष वह है। धन, सम्पत्ति व भोग सामाग्री की न्यूनता होने पर भी सन्तुष्ट रहना, समाज या ईश्वर या प्रारब्ध पर क्रोध, रोष या अधैर्य न करना, मानसिक सन्तोष है। वेदों में सन्तोष के पालन का आदेश इस प्रकार दिये गये है –

'तेन व्यक्तेन भुज्जीथा मा गृधः कस्थस्विद्धनम्।'

– युज0 40/1

अर्थात् 'सन्तोष बुद्धि उत्पन्न करने के लिए त्यागपूर्वक भोग करो किसी के धन की लालसा मत करो'। वेद का यह आदेश पालनीय है।

(2) – वाचिक सन्तोष – अत्यधिक बोलने का त्याग कर परिमित बोलना ही वाचिक सन्तोष है। किसी के कठोर वचन सुनकर, या अपमानित होने पर भी आवेग में ना आना, विवाद ना करना, गुरूजनो व श्रेष्ठजनो के द्वारा प्रताड़ित होने पर प्रत्युतर ना देना तथा मौन धारण

करना वाचिक सन्तोष के अन्तर्गत आता है। वेदों में वाचिक सन्तोष का वर्णन इस प्रकार किया है –

''वाचं वददु शन्तिवाम्।
वचं वदत भद्रया।।''

– अर्थ0 3/30/2–3

अर्थात् मधुर वाणी व भद्र वाणी तथा शान्तिमय वचन बोलने चाहिए, यहि वाचिक सन्तोष है।

(3) – शारीरिक सन्तोष – ब्रहमचर्य का पालन करना, सत्कर्मों का अनुष्ठान करना, दीन दुखियो की सेवा करते हुए, काम, क्रोध आदि दोषो से प्रभावित न होना, हिंसा, चोरी, आदि गलत कृत्य ना करना ही शारीरिक सन्तोष है।

इस प्रकार धन तथा भोग विलास को अनित्य जानकर सभी सांसारिक सुखों को गौण मानकर साधक का लक्ष्य ब्रहमप्राप्ति का होना ही सन्तोष है। ध्यान देने योग्य यह तथ्य है। कि सन्तोष का अर्थ जहॉ जो कुछ भी मिले उसी में संन्तुष्ट रहना है। तो इसका अर्थ यह नहीं कि आलसी व भाग्य के भरोसे बैठे रहना सन्तोश है। शास्त्रो व वेदो में ऐसे आलसी व प्रमादी व परिश्रम ना करने वालो का विरोध किया गया है। योग सूत्र में सन्तोष का फल बताते हुए कहा गया है –

'संतोषादनुत्तमसुख लाभः।'

– पा0 यो0 सू0 2/42

चित्त में सन्तोष भाव प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को उत्तम सुख आनन्द की प्राप्ति होती है।

(ग) – तप – तप का तात्पर्य है। उचित रीति से ओर उचित अभ्यास से शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन को वश में करना। जिससे योग साधना काल में सर्दी – गर्मी, भूख – प्यास, हर्ष – शोक, मान –अपमान आदि द्वन्दो को सहन करते हुए साधना में डटा रहा जा सके, यही तप है।

योग मार्ग में अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसक पालन में जो भी शारीरिक, मानसिक अधिक से अधिक कष्ट प्राप्त हो उसे सहर्ष सहन करना, इसका नाम तप है। परन्तु योग मार्ग में शरीर को कष्ट देकर, पीड़ा देकर इन्द्रियो में विकार उत्पन्न होने या चित्त में अप्रसन्नता हो तो ऐसे तप को तामसी तप कहा गया है, और उसका निषेध किया गया है। वैदिक संहिताओ के अनुसार तप को तीन भागो में विभक्त किया जा सकता है – मानसिक तप, वाचिक तप तथा शारीरिक तप।

(1) – मानसिक तप – मानसिक तप वह है। जब काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या आदि आन्तरिक अन्तर्द्वन्द से प्रभावित होने पर उनसे उत्पन्न दुर्भावो को दैवीय गुणो से युक्त भावो या सुविचारो से नष्ट करते रहना ही मानसिक तप है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कुविचार (आसुरी प्रवृत्तियो) को सुविचारों द्वारा नष्ट कर देना ही मानसिक तप है।

(2) – वाचिक तप – सत्य बोलना, प्रिय बोलना, शास्त्रों के अनुसार शुद्ध विचारो से युक्त वाणी, व्याकरण युक्त शुद्ध भाषा का प्रयोग करना तथा हास्यास्पद या छलयुक्त वचन का

प्रयोग ना करना वाणी के तप कहलाते है। श्रीमद् भगवद् गीता में वाणी के तप या वाचिक तप के विषय में इस प्रकार कहा गया है –

''अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाड्.मयं तप उच्यते।।''

– गीता 17/15

अर्थात् उद्वेग व आक्रोश ना करने वाला वाक्य तथा जो प्रिय एवं हितकारी हो सत्य हो और स्वाध्याय का अभ्यास ये सभी वाणी के तप है। इस प्रकार वाणी के तप द्वारा साधक को अमोध शक्ति प्राप्त होती है।

(3) – शारीरिक तप – शारीरिक द्वन्दों को सहन करना शरीर से शीत तथा उष्ण, भूख – प्यास सहन करना, ब्रहमचर्य का पालन करना तथा योगानुष्ठान आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि करना शारीरिक तप है। शारीरिक तप से मानसिक पापो का क्षय होता है। अतः शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक तीनो तपो का साधक के जीवन में अत्यधिक महत्व है। तीनो पालनीय है। श्रीमद् भगवद् गीता में शारीरिक तप का वर्णन करते हुए कहा गया है

''देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रहमचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।''

– गीता 17/14

अर्थात् देव तुल्य आत्मदर्शियो, द्विजातियो, गुरूजनो तथा प्रज्ञाविवेक वाले साधको का सत्कार करना व पवित्र आचरण सरलता का व्यवहार तथा अहिंसा का पालन करना आदि शारीरिक तप कहे जाते है। महर्षि पतंजलि ने वर्णन किया है कि तप के सिद्ध हो जाने पर या तप प्रतिष्ठित हो जाने पर शरीर में अशुद्धियो का नाश हो जाता है –

'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।'

– पा0 यो0 सू0 2/43

अर्थात् तप से अशुद्धि का नाश हो जाने पर शरीर और इन्द्रियो की सिद्धि हो जाती है। तप के द्वारा क्लेशो तथा पापो का क्षय होने पर शरीर में अणिमा, महिमा, आदि सिद्धिया आ जाती है। और इन्द्रियो में दूर दर्शन, दूर श्रवण, दिव्य गन्ध, दिव्य रस आदि सूक्ष्म विषयो को ग्रहण करने की शक्ति आ जाती है।

(घ) – स्वाध्याय – स्वाध्याय का तात्पर्य वेद, उपनिषद, दर्शन आदि मोक्ष शास्त्रों का गुरूजनो , विद्वान तथा आचार्य से अध्ययन करना। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है। 'स्वस्थ अध्ययनं स्वाध्यायः' अर्थात् यह भी स्वाध्याय है। आत्म चिन्तन भी स्वाध्याय है। योग भाष्यकार व्यास जी ने लिखा है –

'स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्यनं प्रणव जपो वा।' यो0 व्यास भाश्य 2/32

अर्थात् जिन शास्त्रो में मोक्ष प्राप्ति का उपाय वताया गया है। उनका पुनः – पुनः अध्ययन करना स्वाध्याय है। योग भाष्य में कहा गया है –

'स्वाध्यायः प्रणव श्रीरूद्रपुरूषसुक्तादि मन्त्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्यय च।'

– यो0 भाष्य 2/1

अर्थात् प्रणव अर्थात् ओंकार मन्त्र का विधिपूर्वक जप करना, रूद्रसूक्त तथा पुरूषसूक्त आदि मन्त्रों का अनुष्ठान पूर्वक जप करना, दर्शन उपनिषद एवं पुराण आदि आध्यात्मिक मोक्ष शास्त्रों का गुरू वाणी से श्रवण करना अर्थात् अध्ययन करना स्वाध्याय है।

पं0 श्री राम शर्मा जी के अनुसार – 'अच्छी पुस्तके जीवन्त देव प्रतिमायें है। जिनकी आराधना से तत्काल प्रकाश और उल्लास मिलता है'।

अतः स्वाध्याय का अभिप्राय केवल मात्र पुस्तको, ग्रन्थों का अध्ययन मात्र नहीं हैं। साधक को चाहिए कि उनको समझा कर सार भाव को ग्रहण करना चाहिए। तथा योग साधना में प्रयास रत रहे। क्योकि स्वाध्याय से ही योग मार्ग का ज्ञान होता है। तथा मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है। स्वाध्याय से ही उच्च विचारो का समावेश जीवन में होता है। स्वाध्याय का फल बताते हुए महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार लिखा है –

'स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः।'

– पा0 यो0 सू0 2/44

अर्थात् स्वाध्याय या प्रणव आदि मन्त्रो के उच्चारण से व साधना व जप करने से इच्छित देवता या ईष्ट देवता का दर्शन साक्षात्कार हो जाता है।

(ड़) – ईश्वर प्रणिधान – नियम का अन्तिम अंग है, ईश्वर प्राणिधान। ईश्वर की उपासना या विशेष भक्ति भाव को ईश्वर प्रणिधान कहते है। महर्षि पतंजलि ने सामान्य श्रेणि (कोटि) के साधको के लिए अष्टांग योग का वर्णन किया है। यम और नियम प्रथम व दूसरे अंगो के रूप में है। नियम का अन्तिम अंग है, ईश्वर प्रणिधान। इससे यह भाव परिलक्षित होता हैं। कि जब सामान्य कोटि का साधक यम, नियम का पूर्ण रूप से पालन करता है, तभी ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित हो पाता है। तब उसे ईश्वरीय कृपा प्राप्त होती है। ईश्वर प्रणिधान को व्यास भाष्य में इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

'ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन्यरमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।'

– व्यास भाष्य 2/32

अर्थात् उस परम गुरू परमेश्वर सभी कर्मो को अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान है। अतः मन, वचन से, बुद्धि से ईश्वर के प्रति समर्पण ही ईश्वर प्रणिधान है। अथर्ववेद में वर्णन है – हे वरणीय परमेश्वर हम जिस शुभ संकल्प ईच्छा के साथ आप की उपासना में लगे हुए है, आप उसमें पूर्णता प्रदान करें। सिद्धि दे और हमारे समस्त कर्म तथा कर्म फल आप के निर्मित्त अर्पित हैं। इसी का नाम ईश्वर प्रणिधान है। महर्षि पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान के फल बताते हुए कहा है –

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'

– पा0 यो0 सू0 1/23

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि शीघ्र ही हो जाती है। सूत्र 2/45 में भी महर्षि पतंजलि ने यही बात कही है – 'समाधि सिद्धिश्वर प्रणिधानात्।'

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् समाधि की सिद्धि प्राप्त हो जाने पर ईश्वरीय कृपा हो जाती है। साधक के मार्ग सभी विघ्न बाघा दूर हो जाती है। सभी कष्ट दूर हो जाते है, तत्पश्चात् योगसिद्धि बिना किसी विलम्ब के प्राप्त हो जाती है।

ईश्वर शरणागति एक ऐसा अकेला साधन है, जिसमें साधक अपने शरीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार सहित पूर्ण रूपेण ईश्वर को समर्पित कर देता है। साधक का निजत्व समाप्त होकर वह ईश्वर की इच्छा के अनुकूल कार्य करने लगता है। साधक स्वयं को बॉस की पोगंरी की तरह खाली कर देता है। और उससे स्वर ईश्वर का होता है। वह अपने को पूर्ण

रूपेण समर्पण कर देता है। जिससे ईश्वर उसका हाथ थाम लेता है। यही बात श्रीमद्भगवद् गीता में भी स्वयं श्री कृष्ण द्वारा कही गयी है –

''अनन्यश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।''
– गीता 9/22

अर्थात् जो अनन्य प्रेमी भक्त जन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते है। उस नित्य निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरूषो का योगक्षेम मै स्वयं करता हूँ। अर्थात् उसकी रक्षा के साथ – साथ भगवद् प्राप्ति के निमित्त साधन की रक्षा स्वयं करता हूँ।

(3) आसन – योगाङगों में आसनों में तृतीय स्थान है। आसन शब्द संस्कृत के अस् उपवेशने धातु से ल्युट् प्रत्ययः लगकर बना है। जिससे उसका अर्थ है, स्थिरता से बैठना। संहिताओ में वेदो में विभिन्न अवसरो में बैठने के अर्थ में आसन शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे अध्ययन के लिए 'निषिदत्त' शब्दो का प्रयोग हुआ है। जो अच्छी प्रकार सुखपूर्वक बैठने का परिचायक है। इस प्रकार वेदो के अनुसार योग के अभ्यासी को स्थिरता के साथ किसी एक स्थिति में बैठना चाहिए, जिस अवस्था में वह एक प्रहर या तीन घण्टे तक बिना कष्ट के निश्चल बैठ सके।

दूसरे अर्थ में आसन का अर्थ है –

इस प्रकार बैठने की वह अवस्था जिसमें शरीर, मन और आत्मा एक साथ और स्थिर हो जाती है। तथा उससे जो सुख की अनुभूति होती है। वह स्थिति आसन कहलाती है। तेजबिन्दु उपनिषद में आसन के विषय में कहा गया है –

'सुखनैव भवेत् यस्मिन्नजसं ब्रहमचिन्तनम्।'

अर्थात् जिस स्थिति में बैठ कर सुख पूर्वक निरन्तर परमब्रहम का चिन्तन किया जा सके उसे ही आसन समझना चाहिए।

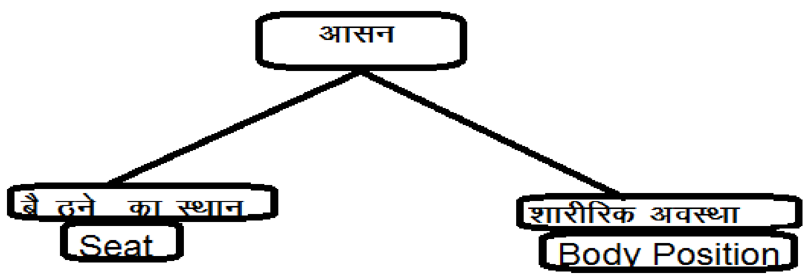

गीता में कहा गया है –

'समं काय शिरोमीव्र धारयन्न चलं स्थिरः।'– गीता 6/13

अर्थात् कमर से लेकर गले तक का भाग सिर और गले को सीधे अचल धारण करके तथा दिशाओ को ना देंखे अपनी नासिका के अग्र भाग को देखते हुए स्थिर होकर बैठना ही आसन है। योगसूत्र के अनुसार –

'स्थिर सुखमासनम्।'– पा0 यो0 सू0 2/46

अर्थात् स्थिर और सुखपूर्वक बैठना आसन कहलाता है। आसन के लाभ का वर्णन करने हुए योगसूत्र में कहा गया है –

'ततो द्वन्दाभिघातः'।– पा0 यो0 सू0 2/48

अर्थात् आसन की सिद्धि से किसी भी प्रकार के द्वन्द अर्थात् सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, हर्ष, विषाद आदि का आघात नहीं लगता है, और साधना में बाधा उत्पन्न नहीं होती हैं।

(4) प्राणायाम – प्राणायाम दो शब्दो से मिलकर बना है – प्राण + आयाम। प्राण का अर्थ है, वह वायवीय शक्ति जो समस्त ब्रहमाण्ड़ में व्याप्त है। प्राण एक जीवनी शक्ति है, तथा आयाम का अर्थ है, नियन्त्रण करना या विस्तार करना। इस प्रकार प्राणायाम वह प्रक्रिया है। जिसका उद्धेश्य शरीर की प्राण शक्ति, जीवनी शक्ति को बढ़ाना है, तथा प्राण को विशेष अभिप्राय से शरीर के विशेष क्षेत्रों में संचरित करना है। योग सूत्र में महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम को इस प्रकार परिभाषित किया है –

'तस्मिन् सति श्वास प्रश्वास योर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।'– पा0 यो0 सू0 2/49

अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास – प्रश्वास की गति का नियम करना प्राणायाम है।

'धाराणासु च योग्यता मनसः।' – पा0 यो0 सू0 2/53

अर्थात् प्राणायाम की सिद्धि से मन में धारणा की योग्यता आ जाती है।

(5) प्रत्याहार – योगाङगो में पाचवॉ अंग प्रत्याहार की साधना है। प्रत्याहार की साधना अति आवश्यक व कठिन साधना है। 'इन्द्रियो को बाहय विषयो से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना ही प्रत्याहार है'। प्रत्याहार का सामान्य अर्थ होता है – पीछे हटना, उल्टा होना विषयो से विमुख होना। इस प्रकार इन्द्रियो का अपने विषय से अलग हो कर अन्तर्मुखी हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

त्रिशिखिब्रहमणोउपनिषद के अनुसार –

'चित्तस्थान्तर्मुखी भावः प्रत्याहारस्तु सत्तम्।'

अर्थात् चित्त का अन्तर्मुखी भाव होना ही प्रत्याहार है।

योग सूत्र के अनुसार –

'स्व विषया सम्प्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'–पा0 यो0 सू0 2/54

अर्थात् जब इन्द्रियो का अपने विषयो से सम्बन्ध नहीं रहता है। तब उनका चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाना प्रत्याहार है। साधना के लिए प्रत्याहार की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योकि यह चंचल, चपल चित्त जब तक स्थिर नही होता है। तब तक मनुष्य साधना में प्रवृत्त नही हो सकता है। साधना में प्रवृत्त होने के लिए इन्द्रिय संयम

जरूरी है। अतः प्रत्याहार अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर ही धारणा, ध्यान, समाधि की अवस्था क्रमशः प्राप्त होती है। प्रत्याहार का फल योग सूत्र के अनुसार –

'ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम।'– पा0 यो0 सू0 2/55

अर्थात् इस प्रत्याहार के सिद्ध होने पर इन्द्रियॉ पूर्ण तथा मनुष्य के वश में हो जाती है।

4.3.2 – अन्तरंग पक्ष – महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग साधना के तीन अन्तरंग साधना (पक्ष) बताये है।
अन्तरंग साधना
धारणा, ध्यान व समाधि
अष्टांग योग के अन्तरंग साधन निम्न है –
(6) धारणा – योगाङगों में षष्ठाङग व अन्तरंग साधना में धारणा प्रथम अंग है। चित्त को वाहय या आभ्यान्तर किसी एक स्थान में बाधना 'धारणा' है। प्राणायाम के सतत् अभ्यास से जब धारणा की सामर्थ्य आ जाती है। तब चित्त को अपने शरीर के अन्दर या बाहर किसी एक स्थान पर केन्द्रित कर देना ही धारणा है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –

'देशबन्धश्चितस्य धारणा।' – पा0 यो0 सू0 3/1

अर्थात् चित्त का किसी एक स्थान या देश में (नासिकाग्र भाग, नाभि, हृदय कमल, भुकृटि, सूर्य, चन्द्र आदि) ठहराना, बाधना धारणा है। शास्त्रो में व वेदो में उपलब्ध प्रमाणो के अनुसार धारणा को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है –

(1) – आन्तरिक धारणा (2) – बाह्रय धारणा

(1) – आन्तरिक धारणा – धारणा में जब चित्त का विखराव भटकाव समाप्त हो जाता है। तो वह साधक के पूर्ण नियन्त्रण में आ जाता है। इस स्थिति में चित्त को अपने शरीर के भीतर भाग में किसी एक स्थान पर केन्द्रित किया जा सकता है। वह स्थान शरीर के भीतर के स्थान नाभि, कण्ठ, हृदय, भुकृटि, नासिकाग्र भाग आदि हो सकते है। इस प्रकार शरीर के आभ्यान्तर किसी एक स्थान में ठहराना आन्तरिक धारणा है।
(2) – बाह्रय धारणा – चित्त को बाह्रय देश में किसी एक स्थान पर ठहराना बाह्रय धारणा कहलाता है। बाह्रय विषय में धारणा करने के लिए पुराणों में प्रमाणित किया गया है, कि मूर्तरूप, शंख, चक्र, गदा, पद्य तथा ईश्वर के दिव्य अलौकिक स्वरूप की धारणा तब तक करनी चाहिए जब कि साधक उसमें दृढ़ता ना प्राप्त कर लें। इस प्रकार भिन्न – भिन्न स्थानो पर चित्त के ठहराने, एकाग्र करने को 'धारणा' कहते है। धारणा से मन की शुद्धि होती है।
(7) ध्यान – ध्येय का निरन्तर मनन ही ध्यान है। निरन्तर ध्यान से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। एकाग्रता ध्यान का लक्षण है। ध्यान धारणा की उच्च्व अवस्था है। महर्षि पतंजलि ने ध्यान का वर्णन इस प्रकार किया है –

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यायनम्।'– पा0 यो0 सू0 3/2

अर्थात् जहॉ चित्त को लगाया जाए उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। एकतार से अभिप्राय एक सा बना रहना। अर्थात् उस ध्येय आलम्बन वाली वृत्ति का लगातार चलते रहना और किसी अन्य वृत्ति का बीच में ना आना ही ध्यान है।

धारणा में चित्त को किसी एक स्थान पर ठहराया जाता है, या स्थिर किया जाता है। जब चित्त एक स्थान पर स्थिर हो जाता है। तथा निरन्तर उसी में एक तार स्थिर रहता है, तो उसी को ध्यान कहते है। धारणा (कन्सन्ट्रेशन) और ध्यान में यही अन्तर है। विचारो का प्रभाव ध्यान में बन्द हो जाता हैं, तथा वृत्ति का प्रभाव केवल ध्येय मात्र की तरह ही हो जाता है, इस समय अन्य कोई वृत्ति नहीं उठती। धारणा से मन की शुद्धि हो जाती हैं। वही ध्यान की अस्थिता (मैं पन) का सुधार होने लगता है। ध्यान के स्थिर होने पर साधक का अहं भाव समाप्त होता है। जिससे समाधि की प्राप्ति होती है।

(8) समाधि – योगाङगों में अन्तिम अंग समाधि है। योग समाधि पर आकर ही पूर्ण होता है। इससे पहले के अन्य सातो योगागो का लक्ष्य समाधि ही है।

ध्यान की वह उच्चतम अवस्था जिसमें ज्ञाता ओर ज्ञेय में द्वैत भाव नहीं रह जाता है। वे परस्पर ज्योति के समान विलीन हो जाते है। ध्याता का अपना स्वरूप शून्य हो जाता है। केवल ध्येय मात्र की भाषता हैं। उसकी ही प्रतीति रहती है। उस अवस्था को समाधि कहते है। महर्षि पतंजलि ने समाधि को इस प्रकार परिभाषित किया है –

'तदैवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः।' यो0सू0 3/3

अर्थात् चित्त जिसका ध्यान कर रहा हो, उसका स्वरूप शून्य होकर जब केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है। वह स्थिती समाधि है।

अष्टांग योग में समाधि का विशेष स्थान है। यह साधना की वह चरम अवस्था है। जिसमें साधक का बाहय जगत से सम्बन्ध टूट जाता है। इस अवस्था में योगी उत्कर्ष की प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। यही मोक्ष प्राप्त करना मनुष्य जीवन का मुख्य उद्धेश्य है। अतः मोक्ष प्राप्ति से पूर्व मनुष्य को समाधि की स्थिति को प्राप्त कर आवश्यक है। समाधि मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन है। इस प्रकार समाधि को क्रिया ना कह कर उपलब्धि कहा जा सकता है। यह साधना ना होकर एक घटना है। जो कि ध्यान के स्थिर होने पर, स्वयं घटित होती है।

अभ्यास प्रश्न – सत्य / असत्य बताइये –

(क) – नियम का वर्णन अन्तरंग साधना में मिलता है।
(ख) – अस्तेय की प्राप्ति होने पर सभी रत्नो की प्राप्ति होती है।
(ग) – धारणा, ध्यान अन्तरंग साधना है।
(घ) – समाधि बर्हिरंग साधना है।

4.4 सारॉश

अष्टांग योग निम्न कोटि के साधको के लिए उपयुक्त साधना पद्धति है। अष्टांग योग, योग के आठ अंग है। अष्टांग योग में बर्हिरंग साधन (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) व अन्तरंग साधन (धारणा, ध्यान, समाधि) का पालन करते हुए आठ अनुष्ठान करने से कैवल्य की प्राप्ति करता है। इस प्रकार कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति कर संसार सागर से पार हो जाता है। यही मनुष्य जीवन का परम् लक्ष्य है।

4.5 शब्दावली

- नव दीक्षित – नये साधक
- जीवन्त – जीवित

- प्रकाश – वह तत्व जिसके माध्यम से नेत्रो को वस्तुओ के रंगरूप का ज्ञान होता है।
- उल्लास – आनन्द, हर्ष, प्रकाश
- एकरूपता – तुल्यता, बराबरी, सायुज्य मुक्ति
- अनित्य – सदा न रहने वाला
- मुदिता – प्रसन्नता
- ब्रुयात – बोलना
- सत्य – इन्द्रिय जनित ज्ञान
- स्वाध्याय – अच्छी पुस्तको का अध्ययन व अपना अध्ययन
- प्रत्याहार – इन्द्रिय संयम

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(क) – असत्य (ख) – सत्य
(ग) – सत्य (घ) – असत्य

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विज्ञानानन्द सरस्वती (2003), योग विज्ञानयोग। निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।
2. कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।
3. निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।
4. पाण्ड़ेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली
5. व्यास महर्षि (2003), भगवद्गीता। गीता प्रेस गोरखपुर।
6. पुरूषार्थी योगेन्द्र (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।
7. मिश्र जगदीशचन्द्र (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।
8. दशोरा लाल नन्द (2006), पातंजल योगसूत्र। रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार।
9. पातंजल योग प्रदीप (1999), गीता प्रेस गोरखपुर।

4.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. अष्टांग योग क्या है ? आधुनिक युग में यम व नियम का क्या महत्व है, समझाइये।
2. वर्हिरंग पक्ष की सविस्तार वर्णन कीजिए।
3. योग के अन्तरंग पक्ष का वर्णन कीजिए।
4. टिप्पणी लिखिए –(क) – अष्टांग योग (ख) – यम (ग) – नियम।

इकाई 5 योग सूत्र

5.1 प्रस्तावना
5.2 उददेश्य
5.3 योग सूत्रों के अध्याय
5.3.1 प्रथम अध्याय समाधि पाद
5.3.2 द्वितीय अध्याय साधन पाद
5.3.3 तृतीय अध्याय विभूति पाद
5.3.4 चर्तुथ अध्याय कैवल्य पाद
5.4 सारांश
5.5 शब्दावली
5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची
5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

योग भारतीय संस्कृति का आधार स्तम्भ है। भारतीय समाज में योग की शिक्षा माँ द्वारा अपने बच्चों को बाल्यावस्था से संस्कार रुप में दी जाती रही है। वेद, उपनिषदों से लेकर आज तक समय–समय पर अनेकों ग्रन्थों में योग विषय पर विस्तारपूर्वक विचार मथंन किया गया है। इसी संदर्भ में महर्षि पतंजलि ने इस विद्या के बिखरे स्वरुप को सुव्यवस्थित रुप से संकलित कर योगदर्शन नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण योग को योग सूत्रों के रुप में पिरोया गया। आदि काल से चली आ रही योग की परम्परा को महर्षि पतंजलि ने योग सूत्रों के माध्यम से निश्चित आकार प्रदान किया।

योग सूत्रों में महर्षि पतंजलि ने योग मार्ग की साधना को बहुत सरल एवं सुव्यवस्थित रुप में व्यक्त किया है। इन योग सूत्रों के माध्यम से महर्षि पतंजलि ने समझाया है कि भिन्न–भिन्न कोटि के साधक भिन्न–भिन्न रुपों में अपनी साधना को करते हुए मानव जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं।

महर्षि पतंजलि योग साधकों के निम्न कोटि, मध्यम कोटि एवं उच्च कोटि में विभाजित करते हुए निम्न कोटि के साधकों को यम नियम आदि अष्टांग योग से अपनी साधना प्रारम्भ करने का उपदेश करते हैं, मध्यम कोटि के योग साधक क्रिया योग (तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्राणिधान) से अपनी साधना प्रारम्भ करने एवं उच्च कोटि के योग साधकों को समाधि के अभ्यास का उपदेश करते हैं। इस प्रकार योग सूत्रों में अलग–अलग कोटि के साधकों के लिये अलग–अलग मार्गो का उपदेश किया गया है।

संक्षेप में कहें तो इन योग सूत्रों में महर्षि पतंजलि ने मानव की प्रवृति एवं साधना के स्तर को ध्यान में रखकर उसकी चेतना को परम चेतना के साथ जोडने का ज्ञान दिया है। इन योगसूत्रों की एक सबसे विशिष्ट विशेषता यह है कि इनमें महर्षि पतंजलि द्वारा प्रश्नोत्तरात्मक शैली का प्रयोग किया गया है अर्थात यहां पहले प्रश्न किया जाता है तथा फिर उसका उत्तर दिया जाता है।

इन योग सूत्रों में महर्षि पतंजलि द्वारा चित्त, चित्तवृत्तियों, ईश्वर, समाधि, क्रियायोग, पँचक्लेशों, सिद्धियों तथा कैवल्य के स्वरुप का वर्णन किया गया है।

5.2 उददेश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप–योग दर्शन का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

- योग सूत्रों को विश्लेषित कर सकेगे।
- योग सूत्रों के अनुसार अष्टांगयोग को समझा सकेंगे।
- क्रियायोग का ज्ञान अर्जित कर सकेंगे।
- पँचक्लेशों को विश्लेषित कर सकेंगे।
- योग सूत्रों के अनुसार ईश्वर स्वरुप की विस्तार से व्याख्या कर सकेंगे।
- योग सूत्रों के अनुसार की कैवल्य के स्वरुप की व्याख्या कर सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए गए प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

5.3 योग सूत्रों के अध्याय

महर्षि पतंजलि विषय–वस्तु के आधार पर योग–सूत्रों को चार अध्यायों में विभक्त करते हैं। इन अध्यायों को महर्षि पतंजलि पाद की संज्ञा देते हैं। प्रथम पाद में समाधि का वर्णन किया गया है तथा इस पाद को समाधि पाद की संज्ञा दी गयी है। द्वितीय पाद का मुख्य विषय समाधि को प्राप्त करने के साधन है इसी कारण इस पाद को साधन पाद की संज्ञा दी गयी है। जब योगी साधक इन साधनों का अभ्यास करता है तब उसे विभिन्न योग सिद्धियों की प्राप्ति होती है योग–सूत्रों के तृतीय अध्याय में महर्षि पतंजलि इन योग सिद्धियों का वर्णन करते हुए इस पाद को विभूति पाद की संज्ञा देते हैं। इन विभूतियों से विभूषित योग साधक आगे चलकर मोक्ष (कैवल्य) के पथ पर अग्रसर होता है। इसी विषय वस्तु के आधार पर महर्षि पतंजलि योग–सूत्रों के चर्तुथ अध्याय को कैवल्य पाद की संज्ञा देते हैं। समाधिपाद में योगसूत्रों की संख्या 51 हैं, साधनपाद में 55 योगसूत्र हैं, विभूतिपाद में 55 योगसूत्र तथा चतुर्थ पाद (कैवल्यपाद) में कुल 34 योगसूत्र हैं। इस प्रकार सभी पादों के योगसूत्रों की कुल संख्या 195 है। जिज्ञासु पाठकों अब आपके मन में इन चारों अध्यायों को विस्तार पूर्वक जानने की इच्छा अवश्य उत्पन्न हुई होगी, इसीलिए अब हम इन चारों अध्यायों का सविस्तार वर्णन करते हैं –

5.3.1 प्रथम अध्याय समाधि पाद

समाधि पाद में समाधि के स्वरूप तथा उसके विभागों (भेदों) का विवेचन किया गया है। इस पाद का प्रारम्भ योग के साथ अनुशासन पद के साथ होता है। महर्षि पतंजलि योग–सूत्र का प्रारम्भ अनुशासन के साथ करते हुए कहते हैं–

अथयोगानुशासनम्।।

(पा0 योग सूत्र 1/1)

इससे योग के साथ अनुशासन का गहन सम्बन्ध भी परिलक्षित होता है क्योंकि बिना अनुशासन में रहे योग साधक योग साधना में सफलता प्राप्त नही कर सकता। योग दर्शन के अगले योगसूत्र में योग को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं–

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।

(पा0 योग सूत्र 1/2)

अर्थात चित्त वृत्तियों को रोकना ही योग है। इन चित्त वृत्तियों के निरोध की अवस्था मे साधक की जीवात्मा परमात्मा के स्वरुप में अवस्थित हो जाती है, यही समाधि की अवस्था है। आगे के सूत्र में चित्त वृत्तियों पर प्रकाश डाला गया। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निन्द्रा, और स्मृति नामक पाँच वृत्तियों को समझाया गया है। इस प्रकार पाँच से ग्यारह तक के सूत्रों में चित्त वृत्तियों के इन पाँच भेदों और उनके लक्षणों का वर्णन किया गया है। आगे के सूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम नामक तीन प्रमाणों का वर्णन किया गया है। महर्षि पतंजलि इन वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से करने का उपदेश करते हुए कहते हैं–

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।।

(पा0 योग सूत्र 1/12)

अर्थात अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से इन वृत्तियों का निरोध योगसाधक को करना चाहिए। इसके परिणाम स्वरुप अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से जब साधक का चित्त दृढ अवस्था को प्राप्त होता है तब उसे समाधि की प्राप्ति होती है। आगे के सूत्रों में महर्षि पतंजलि समाधि विषय का प्रतिपादन करते है। समाधि की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डालते हुए महर्षि पतंजलि सतहरवें योगसूत्र में समाधि की प्रारम्भिक अवस्था अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेदों– विर्तक, विचार, आनन्द और अस्मिता का वर्णन करते है। आगे के योगसूत्रों में समाधि की उच्च अवस्था अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप का वर्णन किया गया है तथा ईश्वर प्राणिधान (सर्मपण भाव) से शीघ्र समाधि प्राप्ति का उपदेश किया गया है। तेईस से तीस तक के योगसूत्रों में पुरुष विशेष ईश्वर की व्याख्या करते हुए उस ईश्वर के मुख्य वाचक प्रणव अर्थात ओ३म् का उल्लेख करते हैं। महर्षि पतंजलि कहते हैं–

तस्य वाचकः प्रणवः ।।

(पा0 योग सूत्र 1/27)

अर्थात उस ईश्वर के मुख्य वाचक प्रणव अर्थात ओ३म् है। महर्षि पतंजलि योग सूत्रों में ईश्वर के अर्थ एवं भावना के बार–बार मनन चिन्तन का उपदेश करते हुए ईश्वर को गुरूओं का भी गुरू बतलाते हैं।

तीस से बत्तीस तक के योगसूत्रों में योग साधना में उत्पन्न होने वाले नौ अन्तरायों अर्थात विघ्नों और उनके निवारण के उपायों पर विचार किया गया है। तैंतीस से चालीस तक के योगसूत्रों में चित्त को प्रसन्न एवं र्निमल करने के उपायों का उल्लेख किया गया है। इकतालीस से छयालीस तक के योगसूत्रों में महर्षि पतंजलि पुनः समाधि पर विचार करते है। सैतालीस से पचास तक के योगसूत्रों में समाधि प्राप्त साधक की उच्च अवस्था (ऋतम्भरा प्रज्ञा) का वर्णन किया गया है। इक्यावनवें योगसूत्र में असम्प्रज्ञात समाधि (निर्बीज समाधि) अर्थात कैवल्य अवस्था का वर्णन करते हुए इस पाद की समाप्ति होती है।

5.3.2 द्वितीय अध्याय साधन पाद –

प्रिय विधार्थियों, प्रथम अध्याय में महर्षि पतंजलि समाधि के स्वरूप आदि का वर्णन करने के पश्चात् इस अध्याय में समाधि प्राप्ति के साधनों का विस्तृत वर्णन करते है। इस अध्याय का प्रारम्भ क्रियायोग (तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्राणिधान) से होता है, महर्षि पतंजलि उपदेश करते है कि मध्यम कोटि के योगसाधकों के लिये क्रियायोग की साधना ही उपयुक्त साधना पद्वति है अर्थात मध्यम कोटि के योगसाधक क्रियायोग के अभ्यास से अपनी साधना को प्रारम्भ कर सकते है। इस प्रकार पहले तथा दूसरे योगसूत्र में क्रिया योग के स्वरूप और उसके फल को बताया गया है। महर्षि पतंजलि उपदेश करते है कि तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान के अभ्यास से साधक के क्लेश नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार तीन से नौ तक के योगसूत्रों में अविद्यादि पाँच क्लेशों को समस्त दुःखों का कारण बताते हुए इनके विषय में समझाया गया है, साथ ही इन क्लेशों को दूर करने के उपायों को भी बतलाया गया है। 12–14 तक के योगसूत्रों में कलेशमूल कर्माशय पर प्रकाश डाला गया है। इस स्थान पर योगसूत्रों में कर्म के आधार पर साधक को जाति, आयु एवं भोग प्राप्त होने का उपदेश दिया गया है। इन कर्मो से सुख एवं दुख रुपी फल प्राप्त होते है। 15–16 योगसूत्र में में कहा गया कि विवेकी पुरुष के लिए लौकिक सुख भी दुःख ही है 17वें योगसूत्र में इस दुःख का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग तथा 18–19वें सूत्र में में दृश्य का स्वरूप और उसके भेद 20–21वें सूत्र में दृष्टा का स्वरूप और उसी के लिए दृश्य का उभरना, 22वें में दृश्य कब और किसके लिए उभरता तथा ओझल होता है, का वर्णन किया गया है।। 23–26वें सूत्र में द्रष्टा–दृश्य अर्थात पुरुष और प्रकृति का संयोग उसका कारण अविद्या कहा गया है। यहीं पर संयोग के अभाव को कैवल्य की संज्ञा दी गयी है। अर्थात योग सूत्र में पुरूष का प्रकृति से अलग होना कैवल्य कहा गया है। 27वें योगसूत्र में सात प्रकार की प्रान्त भूमि प्रज्ञा का वर्णन किया गया है। आगे 29 वें सूत्र में यम, नियम आदि योगागों का वर्णन करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं–

यमनियमायनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावडगानि ।।

(पा0 योग सूत्र 2/29)

अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ अंग होते हैं।

आगे के सूत्रों में इन योगागों के अनुष्ठान की आवश्यकता व इनके फल पर प्रकाश डाला गया है। यहां पर पहले पँाच यमों तथा फिर पँाच नियमों का वर्णन किया गया है।

यहां पर 35वें सूत्र में अहिंसा का फल वैर भाव का त्याग, 36वें सूत्र में सत्य का फल क्रियाफल की प्राप्ति, 37वें सूत्र में अस्तेय फल सर्वरत्न की प्राप्ति, 38वें सूत्र में बह्मचर्य का फल असीम शक्ति की प्राप्ति तथा 39वें सूत्र में अपरिग्रह का फल पूर्वजन्म का ज्ञान बतलाया गया है। इसी प्रकार आगे के 40 से 45 तक के सूत्रों में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान नामक नियमों के फलों पर प्रकाश डाला गया है।

46–48वें सूत्र में आसन को परिभाषित किया गया है। 49 से 54वें सूत्र में प्राणायाम की व्याख्या की गयी है। 54–55वें में प्रत्याहार के वर्णन के साथ यह अध्याय पूर्ण होता है।

अभ्यास प्रश्न –

प्रश्न 1–योगसूत्रों को कुल कितने अध्यायों में विभक्त किया गया है :–

(a) दो (b) चार

(c) पाँच (d) आठ

प्रश्न 2–योगसूत्रों के किस अध्याय में समाधि के वर्णन विशेष रुप से किया गया है :–

(a) प्रथम (b) दितीय

(c) तृतीय (d) चतुर्थ

प्रश्न 3–क्रियायोग किस कोटि के साधकों के लिये सर्वाधिक उपयुक्त साधना पद्वति है :–

(a) उच्चकोटि (b) मध्यमकोटि

(c) निम्न कोटि (d) सभी के लिये

प्रश्न 4–योगसूत्रों के अनुसार क्लेशों की संख्या है :–

(a) दो (b) तीन

(c) पाँच (d) असंख्य

प्रश्न 5 – योगसूत्रों के अनुसार सत्य का फल है :–

(a) सर्वरत्न की प्राप्ति (b) पूर्वजन्म का ज्ञान

(c) वैरभाव का त्याग (d) क्रियाफल की प्राप्ति

5.3.3 तृतीय अध्याय विभूति पाद–

योगसूत्रों के दूसरे अध्याय में योगागों के वर्णन का आरम्भ करके यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन पाँच बहिरंग साधनों के फलों का वर्णन करने के पश्चात् इस तीसरे पाद में धारणा, ध्यान और समाधि, इन अन्तरंग साधनों का वर्णन किया गया है। इन्हें ही संयम नाम दिया गया है। योग साधना में विभूतियाँ (सिद्धिया) प्राप्ति हेतु संयम की महती आवश्यकता होती है। अतः योग साधनों के अनुष्ठान से प्राप्त विविध प्रकार की सिद्धियों का विवरण संक्षेप में इस अध्याय में किया गया है, इसीलिए इस अध्याय का नाम विभूतिपाद रखा गया है। विषय वस्तु की दृष्टि से इस पाद का अवलोकन इस प्रकार किया जा सकता है।

1 से 3 तक के सूत्रों में धारणा, ध्यान तथा समाधि नामक तीन अन्तरंग योगागों के लक्षणों का वर्णन किया गया है। आगे के 5वें व 6वें सूत्र में इनकी सिद्धियों का फल बतलाया गया है।

यहीं पर संयम तथा संयम की सिद्धि पर में प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि साधक को सूक्ष्म से सूक्ष्म भूमियों में संयम का प्रयोग करना चाहिए। सातवें सूत्र में कहा गया कि बहिरंग की तुलना में अन्तरंग में संयम करना चाहिए। संयम करने से चित्त के संस्कार नष्ट होने लगते है तथा साधक असम्प्रजात समाधि की ओर अग्रसर होने लगता है पुनः दसवें सूत्र में बताया गया है कि ऐसे साधक का चित्त मलों से रहित हो जाता है तथा विमल धारा प्रवाह से युक्त हो जाता है। इस प्रकार नौंवे सूत्र से तेरहवें सूत्र में चित्त परिणामों के भेदों को बताया गया है। आगे 15वें सूत्र में क्रम को समझाया गया है। तथा 18वें सूत्र में कहा गया है कि योगी पुरूष संयम के माध्यम से चित्त के संस्कारों को जानकर अपने पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है

जबकि 19वें सूत्र में कहा गया कि ज्ञान में संयम करने से वह दूसरे के चित्त का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होता है आगे के 22वें सूत्र में कहा गया कि योगी पुरूष कर्मो में संयम कर मृत्यु के ज्ञापक चिन्हों को जानकर मृत्यु का ज्ञान प्राप्त करता है। 23वें व 24वें सूत्र में कहा गया है कि मैत्री, करूणा, मुदिता भावनाओं में संयम कर साधक मानसिक बल को प्राप्त करता है जबकि हाथी आदि के बलों में संयम करने से साधक हाथी के समान बल प्राप्त करता है। 26वें सूत्र में कहा गया है कि सूर्य में संयम कर साधक लोक

लोकान्तरों का तथा चन्द्रमा में संयम करने से साधक सौर मण्डल का ज्ञान प्राप्त करता है। आगे के 29 से 36वें सूत्रों में साधक द्वारा शरीर के विभिन्न भागों में संयम करने के फलों को वर्णित किया गया है। साधक द्वारा नाभि में संयम करने से शरीर की रचना का ज्ञान कण्ठ कूप में संयम करने से भूख–प्यास की सिद्धि, मूर्धा में संयम करने से सिद्ध पुरूषों को पहचानने की योग्यता की प्राप्ति होती है। ह्रदय में संयम करने से साधक चित्त का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता को प्राप्त करता है।

38वें योग सूत्र में कहा गया है कि जब साधक साधना में सिद्ध हो जाता है तब वह अपने चित्त को परकाया में प्रवेश कराने में सक्षम होता है। विभूति पाद के अगले योग सूत्र में प्राण पर जय प्राप्त करने का फल बताया गया है। यहाँ पर प्राण के पाँच भेदों पर प्रकाश डालते हुए इन पर इनकी सिद्धि से प्राप्त होने वाली योग्यताओं का वर्णन किया गया है। 39वें योगसूत्र में कहा गया कि उदान को जीतने से साधक का शरीर लघु हो जाता है जबकि समान प्राण को जीतने से योगी दिव्यता को प्राप्त करता है। 44 से 48वें सूत्र तक भूतों पर जय से अणिमा महिमा आदि अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति पर प्रकाश डाला गया है। 49वें योग सूत्र में योगी पुरूष द्वारा शरीर मन बुद्धि को अपने नियन्त्रण पूर्वक चलाने का वर्णन किया गया है अर्थात् कहा गया है कि ऐसा योगी पुरूष अपने शरीर मन एवं आत्मा को अपने नियन्त्रण अनुसार चलाता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है यहाँ पर 51वें योगसूत्र में योगी पुरूष को सावधान किया गया कि उसे किसी प्रकार के लौकिक लालचों में आकर अपनी साधना के मार्ग से भष्ट नहीं होना चाहिए। आगे के सूत्रों में योगी पुरूष को प्राप्त विवेक ज्ञान पर प्रकाश डालते हुए 55वें योगसूत्र में कहा गया कि ऐसा योगी पुरूष जिसके रजस और तामसिक गुण समाप्त हो गये है, क्लेश दुग्ध बीज हो गये है तथा बुद्धि शुद्ध हो गयी है, आगे चलकर निश्चित रूप से मोक्ष को प्राप्त होता है। इस योगसूत्र के साथ इस अध्याय को पूर्ण किया जाता है।

इस अध्याय में महर्षि पतंजलि योग सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट करते है कि योगी पुरूष संयम के माध्यम से विभिन्न विशिष्ट गुणों से युक्त होता है। इन विशिष्ट गुणों को ही दर्शन की भाषा में विभूति की संज्ञा दी गयी है तथा इसी रूप में इस अध्याय को विभूति पाद की संज्ञा दी गयी है। यहाँ पर समझाया गया है कि विभूतियों को प्राप्त योगी साधक मोक्ष पथ पर अग्रसर होता है।

5.3.4 चतुर्थ अध्याय

कैवल्यपाद–प्रिय पाठकों पूर्व के अध्याय में आपने योगी पुरूष को प्राप्त विभिन्न योग सिद्धियों का ज्ञान प्राप्त किया तथा जाना कि ऐसा सिद्ध पुरूष इस संसार सागर से तरता हुआ कैवल्य को प्राप्त होता है।

इस चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ भी सिद्धियों से होता है। अध्याय के प्रथम योग सूत्र में बताया गया कि पूर्व जन्म के संस्कारों से, औषधियों से, मंत्रों से, तप से और समाधि से सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। औषधियों के सेवन से उत्तम आहार–विहार से तथा योगांगो के अनुष्ठान से योग साधक स्वयं को बलवान बनाता है। आगे के सूत्रों में चित्त पर प्रकाश डाला गया है तथा छठवें योगसूत्र में कहा गया है कि ध्यान से उत्कृष्ठ बनाया चित्त वासना रहित होता है। आगे के योगसूत्र में कर्मो के भेदों पर प्रकाश डाला गया। सूत्र में शुक्लकर्म (अच्छे कर्म), कृष्ण कर्म तथा निष्काम कर्मो के भेदों से कहा गया कि योगी पुरूष केवल निष्काम कर्म ही करता है। क्योंकि शुभ–अशुभ और मिश्रित कर्म करने से चित्त में

संस्कार प्रकट होते हैं जबकि निष्काम कर्म करने से चित्त संस्कारों से रहित रहता है। दसवें योगसूत्र में स्पष्ट किया गया कि चित्त वासनाओं के प्रवाह में बह जाता है किन्तु योगांगों का अभ्यास करने तथा योग साधना से साधक का चित्त इन वासनाओं से रहित हो जाता है। यहाँ पर कहा गया कि प्रकृति में सत रज, तम तीनों गुणों से युक्त पदार्थ उपस्थित होते हैं सत्व गुण प्रकाशवान है। रजस गुण अन्धकार का प्रतीक है जबकि तमस गुण जड़ता का प्रतीक है। योगी पुरूष इन पदार्थो के गुणों को जानकर स्वयं को इन से अलग करता है। 18–19वें योग सूत्र में समझाया गया कि यद्यपि जीवात्मा को चित्त की वृत्तियों का ज्ञान होता है जबकि चित्त सत्व, रज, तम से रूपी जड़ पदार्थो से उत्पन्न होने के कारण ज्ञानवान नहीं है। जीवात्मा इस चित्त के माध्यम से बाह्य संसार का ज्ञान प्राप्त करता है। चित्त में विवेक ज्ञान उत्पन्न होने पर जब यह चित्त विवेक मार्ग की ओर चलने लगता है तब यह जीवात्मा को मोक्ष प्राप्त कराने में सामर्थ्यवान होता है। 28वें योगसूत्र में कहा गया कि तप, स्वाध्याय, ईश्वर, प्राणिधान तथा विवेकख्याति आदि के उदय होने से लौकिक संस्कार नष्ट हो जाते है तथा साधक सम्प्रज्ञात समाधि की उच्च अवस्था धर्ममेध समाधि को प्राप्त करता है। 30वें योगसूत्र में कहा गया कि इस धर्ममेध समाधि के सिद्ध होने पर साधक क्लेश और कर्मो से मुक्त हो जाता है अर्थात् उसके क्लेश समूल नष्ट हो जाते है तथा कर्मो के कर्माश्य भी समाप्त हो जाते है। ऐसा होने से ज्ञान को ढकने वाले अज्ञान रूप आवरण एवं मल भी समाप्त हो जाते है। 32वें योगसूत्र में पुनः कहा गया कि धर्ममेध समाधि के सिद्ध होने पर उस साधक के भोग और अपवर्ग कार्य पूर्ण हो जाते है। उसके सभी सांसारिक बन्धन समाप्त हो जाते है तथा वह विदेह रूप में इस संसार में रहता हुआ भी स्वयं को संसार में लिप्त नहीं करता।

व्यास भाष्य में इसी तथ्य को समझाते हुए कहा गया कि जिस प्रकार ओंस की बूंद कमलपत्तों के साथ रहते हुए भी स्वयं को कमल पत्र से अलग रखती है ठीक उसी प्रकार योगी पुरूष संसार में रहता हुआ स्वयं को भी संसार से अलग रखता है। ऐसे योगी पुरूष के सन्दर्भ 34वें योगसूत्र में कैवल्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए समझाया गया कि ऐसी जीवात्मा का चित्त आदि भोग और अपवर्ग प्रयोजन से रहित होकर अपने कारण में लीन हो जाता है तथा वह जीवात्मा सब क्लेशों से छूटकर अपने तथा ईश्वर के रूप में ठीक–ठीक जानकर ईश्वर के रूप में अवस्थित हो जाती है। यही कैवल्य अर्थात् मोक्ष की अवस्था है। इस अवस्था को भी उदाहरण के रूप में स्पष्ट करते हुए समझाया गया कि जिस प्रकार नमक और पानी एक दूसरे में इस प्रकार लीन हो जाते है कि उन्हें पृथक करना सम्भव नहीं होता ठीक उसी प्रकार मोक्ष अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा नमक और पानी की भाँति एक दूसरे में अवस्थित हो जाते हैं। यही कैवल्य की अवस्था है।

इस प्रकार चौथे अध्याय के अन्तिम सूत्र में साधक के कैवल्यस्वरूप की व्याख्या करते हुए इस अध्याय को पूर्ण किया गया है।

अभ्यास प्रश्न–

प्र.6 योगसूत्र के अनुसार योगी पुरूष कर्मो में संयम कर किस सिद्धि को प्राप्त करता है।

a पूर्वजन्म का ज्ञान b मृत्यु का ज्ञान
c सिद्ध पुरूषों का ज्ञान d उपरोक्त सभी

प्र.7 योगसूत्र के अनुसार योग साधक भूतों जैसे की सिद्धि को प्राप्त करता है।

a सौर मण्डल का ज्ञान b चित्त की निर्मलता
c परकाया प्रवेश d अष्ट सिद्धि

प्र.8 योग सूत्रों में योगी पुरूष को किससे बचने का उपदेश दिया गया–
a अग्नि से b जल से
c जंगली जानवरों से d लौकिक लालचों से

प्र.9 रजस गुण किसका प्रतीक है–
a ज्ञान का b जड़ता का
c अन्धकार का d इनमें से कोई नहीं

प्र.10 सम्प्रज्ञात समाधि की उच्च अवस्था का नाम है–
a मोक्ष b धर्ममेध समाधि
c विभूति d इनमें से कोई नहीं।

सत्य–असत्य

1.योगसूत्र का प्रारम्भ अनुशासन से होता है।
2.योगसूत्र के अनुसार योगी पुरूष को सकाम कर्म करने चाहिए।
3.योगी पुरूष मूर्धा में संयम कर सिद्ध पुरूषों को पहचानने में सक्षम होता है।
4.योगसूत्रों के अनुसार अहिंसा का फल सर्वरत्न प्राप्ति है।
5.धर्ममेध समाधि के सिद्ध होने पर साधक विदेह रूप में जीवन व्यतीत करता है।

5.4 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों प्रस्तुत इकाई में अपने महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित योग सूत्रों का अध्ययन किया इन योग सूत्रों में योग को बहुत सरल एवं स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इन योग सूत्रों में वर्णित योग को सर्वोच्च शिखर पर रखते हुए राजयोग की संज्ञा दी जाती है। इन योगसूत्रों की एक विशेषता इनकी प्रश्नोत्तरात्मक शैली है अर्थात् यहाँ पर पहले प्रश्न किया जाता है तथा अगले सूत्र में इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है।

प्रिय पाठकों कुल 195 योग सूत्रों को विषय वस्तु के आधार पर चार अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में समाधि के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की गयी है। द्वितीय अध्याय में समाधि प्राप्त करने के साधनों (यम, नियम आदि योगागों) का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में पांच बहिरंगों का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय का प्रारम्भ व धारणा, ध्यान एवं समाधि रूपी तीन अन्तरंगों से होता है। इस अध्याय में संयम का फल विभिन्न सिद्धियों के रूप में बतलाया गया है। योग साधक विभिन्न स्थानों एवं भूतों में संयम करता हुआ योग सिद्धियों को प्राप्त करता है।

चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ सिद्धियों से ही होता है। ऐसा सिद्ध पुरूष निष्काम कर्म करता हुआ मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ता है तथा कैवल्य को प्राप्त करता है। योगसूत्रों में उदाहरण के रूप में स्पष्ट करते हुए समझाया गया कि जिस प्रकार नमक और पानी एक दूसरे में इस प्रकार लीन हो जाते है कि उन्हें पृथक करना सम्भव नहीं होता ठीक उसी प्रकार मोक्ष अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा नमक और पानी की भाँति एक दूसरे में अवस्थित हो जाते हैं। योग सूत्रों में इस प्रकार जीवात्मा को परमात्मा में इस प्रकार स्थित करने का उपदेश किया गया है।

योग सूत्रों में अलग–अलग कोटि के साधकों के लिए अलग–अलग साधना पद्वतियों का वर्णन किया गया है। निम्न कोटि के साधकों के लिए यम नियम से अपनी साधना पद्यति को प्रारम्भ करने के निर्देश हैं तो मध्यम कोटि के साधक क्रिया योग के अभ्यास से अपनी साधना को प्रारम्भ कर सकते है वहीं उच्च कोटि के साधक सीधे अभ्यास और वैराग्य के अभ्यास से कैवल्य की अवस्था को प्राप्त कर सकते है। अपनी इन्हीं उत्कृष्ट विशेषताओं के कारण योग सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

5.5 शब्दावली

कोटि	=	श्रेणि
परिलक्षित	=	प्रर्दशित, प्रकट होना
अवस्थित	=	जीन होना
विघ्न	=	बाधाएं
कर्माशय	=	कर्मफलों का संचय
मूर्घा	=	मस्तिष्क
दृष्टा	=	जीवात्मा
दृश्य	=	प्रकृति
प्रत्याहार	=	इन्द्रियों पर संयम
अनुष्ठान	=	पालन करना
महती	=	विशेष
निष्कार	=	बिना कामना किए

5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.	b	6.	b	1.	सत्य
2.	a	7.	d	2.	असत्य
3.	b	8.	d	3.	सत्य
4.	c	9.	c	4.	असत्य
5.	d	10.	b	5.	सत्य

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तीर्थ स्वामी ओमानन्द (सं. 2063) पातञजल योग प्रदीप, गीता प्रेस गोरखपुर।
2. परिव्राजक स्वामी सत्यपति (2006) योगदर्शनम्, दर्शन योग महाविद्यालय, आर्यवन रोजड़ (गुजरात)

5.8 निबंधात्मक प्रश्न

1.योगसूत्रों की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
2.महर्षि पतंजलिकृत योग सूत्रों की विषय वस्तु सविस्तार समझाइये।
3 योग सूत्रों पर निबन्ध लिखिए।

इकाई 6 भगवद्गीता

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 भगवद्गीता के अध्याय

6.3.1 प्रथम अध्याय

6.3.2 द्वितीय अध्याय

6.3.3 तृतीय अध्याय

6.3.4 चतुर्थ अध्याय

6.3.5 पंचम् अध्याय

6.3.6 षष्ट अध्याय

6.3.7 सप्तम् अध्याय

6.3.8 अष्टम् अध्याय

6.3.9 नवम् अध्याय

6.3.10 दशम् अध्याय

6.3.11 एकादश अध्याय

6.3.12 द्वादश अध्याय

6.3.13 त्रयोदश अध्याय

6.3.14 चतुर्दश अध्याय

6.3.15 पञ्चदश अध्याय

6.3.16 षोडश अध्याय

6.3.17 सप्तदश अध्याय

6.3.18 अष्टादश अध्याय

6.4 सारांश

6.5 शब्दावली

6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.8 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों पूर्व की इकाई से आपने योगसूत्र का ज्ञान प्राप्त किया। इस इकाई में आप योग के महत्वपूर्ण ग्रन्थ भगवद्गीता का ज्ञान प्राप्त करोगे।

भगवद्गीता का भारतीय साहित्य में अनुपम स्थान है। कुछ विद्वान इसे मनोविज्ञान के ग्रन्थ की संज्ञा भी देते हैं क्योंकि इसमें विकृत मनोदशा से ग्रस्त अर्जुन एवं भगवान श्रीकृष्ण के संवाद का संकलन किया गया है। यह ग्रन्थ प्राचीन काल का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसकी उपादेयता आधुनिक समय में बहुत अधिक बढ़ गयी है क्योंकि वर्तमान समय में समाज का प्रत्येक मनुष्य किसी ना किसी रूप में मानसिक समस्या से ग्रस्त है तथा अपने उद्देश्य से भटका हुआ है। यह ग्रन्थ ऐसे मनुष्यों के लिए एक पथ प्रर्दशक के रूप में कार्य करता है। इस ग्रन्थ के उपदेश सार्वभूम एवं सार्वदेशिक है जिन्हें अपनाकर मनुष्य स्वार्थ एवं संकीर्णता की तुच्छ भावनाओं से ऊपर उठकर कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होता है। प्रिय पाठकों अब आपके मन में भी इस ग्रन्थ को जानने की जिज्ञासा अवश्य उत्पन हुई होगी।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- बता सकेंगे कि भगवद् गीता किस रूप में उपयोगी ग्रन्थ है।
- भगवद् गीता का विश्लेषण करने में सक्षम हो सकेंगे।
- भगवद्गीता को समझा सकने में सक्षम हो सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए गए प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

6.3 भगवद्गीता के अध्याय–

भगवद् गीता में कुल अठारह अध्याय हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

6.3.1 प्रथम अध्याय (अर्जुन विषाद योग)

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर गीता का ज्ञान जन–जन के लिए उद्घोषित किया। श्रीकृष्ण ने गीता के प्रथम अध्याय में यह बताया है कि किस प्रकार अर्जुन मोह ग्रस्त हो गया था? यह मोह मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है जो उसके ज्ञान पर अज्ञानता का आवरण चढ़ा देता है जिससे मनुष्य की सोचने समझने की शक्ति क्षीण हो जाती है। मोह व्यक्ति को आँख होते हुए भी अंधा बना देता है। जिससे मनुष्य अपने लक्ष्य से विचलित हो जाता है इसी मोह में अर्जुन भी फंस गया था वो समझ नहीं पा रहा था कि वह युद्ध कैसे करे, क्योंकि युद्ध में शत्रु सेना में उसके अपने ही थे। वह किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में था। वह इस असमंजस में यह नहीं समझ पा रहा था कि यदि वह युद्ध करता है तो उसके प्रियजन ही मारे जाऐंगे और वह पाप का भागी बनेगा। यदि युद्ध नहीं करता है तो वह कायर साबित होगा, और अधर्म की जीत होगी।

प्रिय विद्यार्थियों इस स्थिति में अर्जुन हताश और निराश होकर शस्त्र त्यागकर रथ में पीछे बैठ जाता है।

इस अध्याय में कुल 46 श्लोक का संकलन है। अध्याय का आरम्भ धर्मक्षेत्र कुरूक्षेत्र से प्रारम्भ होकर अन्तिम श्लोक 'एवमुक्त्वार्जुन.......... मानस'। (1/46) पर पूर्ण होता है।

6.3.2 द्वितीय अध्याय (सांख्य योग)

यह अध्याय 72 श्लोकों का संकलन है। अध्याय के प्रारम्भ में योगीराज श्रीकृष्ण करूणा से व्याप्त व आँसुओं से भरे हुये नेत्र लिए शोक ग्रस्त, अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं–

कुतस्त्वा कश्मलमिदंविषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। (2/2)

इस समय यह मोह न तो श्रेष्ठ पुरूषों के आचरण योग्य है और न तुम्हें स्वर्गादि देने वाला है। इससे तुम्हारी कीर्ति नहीं होगी, बल्कि तुम अपकीर्ति को प्राप्त होंगे। इसलिए अर्जुन इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध को तैयार हो जाओ।

विषादग्रस्त अर्जुन अपने गुरू के प्रति शस्त्र उठाकर पाप का भागीदार नहीं बनना चाहता है। गुरूजनों को मारकर उनके रक्त से सने हुए अर्थ और भोगों को भोगना नहीं चाहता है और इस प्रकार अर्जुन युद्ध करने से मना करते हुए चुप बैठ जाता है। तब योगेश्वर श्रीकृष्ण शोक से ग्रसित अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि तुम यह समझते हो कि मैं किसी काल में नहीं था या तुम नहीं थे, या आगे नहीं रहोगे। यह आत्मा अजर अमर है यह आत्मा न तो किसी काल में जन्म लेती है, न मरती है, यह अजन्मा है, नित्य व पुरातन है। यह जीवात्मा नाशरहित, नित्यस्वरूप, अप्रमेय है। इसके शरीर नाशवान् है शरीर के नष्ट होने पर भी यह आत्मा नष्ट नही होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं –

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।।

(2/22–23)

अर्थात जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर व्यक्ति नवीन वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही जीवात्मा भी पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर धारण करती है। इस अजर अमर जीवात्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, हवा सुखा नहीं सकती तथा पानी गीला नहीं कर सकता है अतः इसके लिए शोक करना उचित नहीं है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कर्मयोग को समझाते हुए कहते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

योगस्थः कुरू कर्माणि संडंगत्यक्त्वा धनंजय।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

(2/47–48)

अर्थात हे अर्जुन तुम कर्म करने में स्वत्रंत हो, फल तुम्हारे हाथ में नही है, अतः तुम केवल कर्म करो फल की इच्छा मत करो। तुम आसक्ति त्यागकर सिद्धि असिद्धि में सम होकर कर्म करो, यही 'समत्वं' की भावना ही योग है।

भगवान श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं –

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाययुजस्वयोगःकर्मसुकौशलम्।। (2/50)

अर्थात बुद्धिमान पुरुष अच्छे और बुरे कर्मो को इसी लोक में त्याग देता है, वह इनमें लिप्त नही होता, बल्कि कर्मो में कुशलता ही योग है।

इस प्रकार जो सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर लोभ, मोह, ममता आदि से रहित होकर कुशलता अपने कर्तव्य कर्मो को करता है वही ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है।

6.3.3 तृतीय अध्याय (कर्मयोग)–इस अध्याय में कुल 43 श्लोकों का संकलन है। इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने प्रत्येक मनुष्य को किस प्रकार कर्म करने चाहिए और क्यों करने चाहिए, इनके न करने से क्या हानि है और इन कर्मो को करने से क्या लाभ होता है, कौन से कर्म मुक्तिदायक होते हैं और कौन से कर्म बन्धन कारक है, इस विषय पर प्रकाश डाला है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं

नियतं कुरू कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। (3/8)

अर्थात हे अर्जुन शास्त्र विहित कर्तव्य कर्म करो, क्योंकि कर्म ना करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म ना करने से तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

प्रत्येक व्यक्ति क्षण भर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता है किन्तु उन कर्मो में आसक्ति न रखते हुए कर्म करने से उन कर्मो का फल नहीं भोगना पड़ता है। यही निष्काम कर्म योग है। इस प्रकार फल और आसक्ति को त्याग कर भगवान की आज्ञानुसार समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम कर्मयोग है।

इस अध्याय में श्रीकृष्ण उपदेश करते हैं कि सृष्टि का चक्र अपने–अपने कर्तव्य पालन से चलता है। जो मनुष्य निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसी का कल्याण होता है। इस संसार में जो भी आया है सभी के कर्तव्य कर्म निर्धारित है। यदि व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्म निभाते हुए भी दूसरों का हित करता है दूसरों को उन्नत करता है, उसी का जीवन सार्थक है। अन्यथा सब व्यर्थ है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते है कि हे अर्जुन परमात्मा के स्वरूप में समर्पित हुए ज्ञानी पुरूष को कर्मो में असक्ति रखने वाले अज्ञानियों की बुद्धि में अश्रद्धा उत्पन्न नहीं करनी चाहिए बल्कि ज्ञानी पुरूष को चाहिए कि वह शास्त्र विहित कर्मो अर्थात् शास्त्रों के अनुसार कर्म करता हुआ अन्य मनुष्यों से भी करवाये, उन्हें भी इसी तरह के कर्म को प्रेरित करे। यहीं श्रीकृष्ण ने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर बुद्धि द्वारा मन पर विजय प्राप्त कर कामना रूपी दुर्जय शत्रु को समाप्त करने का उपदेश अर्जुन को इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में दिया है।

6.3.4 चतुर्थ अध्याय (ज्ञानकर्म सन्यास योग)–इस अध्याय में कुल 42 श्लोकों का संकलन है। अध्याय के प्रथम श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन को योग की परम्परा का ज्ञान देते हुए कहते हैं–

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तंवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
(4/1)

श्रीकृष्ण कहते है कि हे अर्जुन, मैंने इस अविनाशी योग को सर्वप्रथम सूर्य से कहा, सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार परम्परा पूर्वक यह योग विद्या जो कि लुप्त हो गयी थी आज मैं तेरे समक्ष यह ज्ञान प्रकट कर रहा हूँ इस योग विद्या को श्रीकृष्ण गुप्त विद्या व उत्तम रहस्य बताते है।

श्रीकृष्ण कहते है कि हे परंतप अर्जुन मेरे और तेरे अनेकों जन्म हो चुके हैं जिन्हें तुम नही जानते परन्तु मैं जानता हूँ, और जब–जब इस धरती पर अधर्म बढ़ जाते है। धर्म का आचरण नहीं होता है तब–तब मैं इस धरती पर सज्जनों की रक्षा व दुर्जनों का विनाश करने के लिए मैं प्रकट होता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।
(4/7–8)

योगीराज श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे जन्म व कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल व अलौकिक हैं। इस प्रकार जो मनुष्य परमेश्वर के प्रति अनन्य प्रेम भाव रखकर आसक्ति त्यागकर कर्म करता है वह फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता अर्थात मुझे ही प्राप्त होता है। जो मुझे तत्व से जान लेता है वह कर्मो में नहीं बंधता है। इस अध्याय में द्रव्य यज्ञ, तपस्या यज्ञ, ज्ञान यज्ञ के द्वारा पापों का नाश कर देने वाले यज्ञों का वर्णन किया है। इन सभी में ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ बताया है। इस 'ज्ञान' को संसार में सबसे पवित्र कर देने वाला बताया गया है और इस ज्ञान को साधन परायण और श्रद्धावान मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। वह ज्ञान प्राप्त कर बिना किसी विलम्ब के भगवद् स्वरूप परम् शान्ति को प्राप्त होता है। अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन तू इस अज्ञान जनित भ्रम को विवेक ज्ञान द्वारा काट कर समत्व रूप कर्म करने के लिए तत्पर हो जा।

6.3.5 पचंम अध्याय (कर्मसन्यास योग) –इस अध्याय में कुल 28 श्लोकों का संकलन है। इस अध्याय में कर्म संन्यास अर्थात कर्मों में कर्त्तापन का त्याग तथा कर्मयोग अर्थात निष्काम कर्म का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मसन्यास तथा कर्मयोग दोनों ही मानव जीवन के उत्थान के लिए परम् कल्याणकारी है परन्तु इन दोनों में भी कर्मसन्यास से कर्मयोग साधन सुगम होने के कारण श्रेष्ठ है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि रागद्वेष से मुक्त पुरूष संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। ऐसे कर्मयोगी को संन्यासी ही समझना चाहिए। सन्यास केवल परिवार को त्यागना ही नही है वरन् सन्यास तो मन, वचन, कर्म के संगम से आता है। गृहस्थ जीवन का कर्तव्य व निष्ठा से पालन करते हुए दूसरों से राग, द्वेष ना रखते हुए निष्काम कर्म करते हुए जीवन

यापन करना ही सच्चा सन्यास कहलाता है। जो मनुष्य आसक्ति ना रखते हुए समस्त कर्मो को परमात्मा में अर्पण कर कर्म करता है। वह पुरूष उसी प्रकार पापों से लिप्त नहीं होता है, जिस प्रकार कमल के पत्ते के ऊपर जल नहीं ठहरता है, लिप्त नही होता है।

बुद्धिमान, विवेकी पुरूष विषयों तथा इन्द्रियों से उत्पन्न भोगों में नहीं रमता है क्योंकि इन्द्रिय सुख–दुख के हेतु है, आदि और अन्त वाले है अतः श्री भगवन् कहते हैं कि योगी पुरूष ही सुखी है, योगी वह है जो इस शरीर के रहते हुए अर्थात मनुष्य शरीर में काम–क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेगों को सहन करने में समर्थ हो जाता है।

यहाँ पर मुक्त पुरूष को परिभाषित करते हुए श्रीकृष्ण कहते है जो पुरूष विषय–भोगों का चिन्तन न करता हो, जितेन्द्रिय हो, जो प्राण वायु तथा अपान वायु को सम करता हो, ऐसा पुरूष मोक्ष का अधिकारी है, तथा वह क्रोध, इच्छा और भय से रहित हो जाता है और सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

ऐसा मेरा भक्त सभी द्वन्द्वों से मुक्त हो तत्वदर्शी बनकर परम शान्ति को प्राप्त होता है।

6.3.6 षष्ट अध्याय (आत्मसंयम योग) –इस अध्याय में कुल 47 श्लोकों का संकलन है। इस अध्याय में ध्यान योग का वर्णन किया गया है। ध्यान योग में शरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धि का संयम नितान्त आवश्यक है दूसरे शरीर, मन, बुद्धि इन पर संयम ही आत्मसंयम है। इसी विषय वस्तु के आधार पर इस अध्याय का नाम आत्मसंयम योग रखा गया।

इस अध्याय में योगारूढ पुरूष इसका वर्णन करते हुए भगवन् श्रीकृष्ण कहते है जो पुरूष जिस काल में इन्द्रियों के भोगों में और कर्मो में लिप्त नहीं रहता है, वह पुरूष उस काल में सर्वसंकल्पों का त्याग करता हुआ योगारूढ़ कहलाता है। श्रीकृष्ण कहते है कि मनुष्य को अपने ही द्वारा अपना इस संसार सागर से उद्वार करना चाहिए क्योंकि यह मनुष्य के वश में है कि वह अपना उद्धार करे या अपने को अधोगति प्रदान करे क्योंकि वह अपना मित्र आप ही है और आप ही अपना शत्रु भी है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।

(6/6)

ध्यान योग के लिए उपर्युक्त स्थान आदि का निर्देश इस अध्याय में दिया गया है। मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने के लिए उपर्युक्त आसन आदि का वर्णन किया गया है। इसके लिए शुद्ध स्थान, जिस पर कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछाये हो, समतल स्थान हो, इस स्थान पर अपने आसन को स्थिर करके, मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए सिर, गर्दन तथा शरीर सीधा तथा अचल रखें, दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर तथा ब्रह्मचर्य का पालनकर, अभयता के साथ साधना करनी चाहिए। ऐसे साधनारत योगी का आहार विहार संयमित होना अत्यन्त आवश्यक है। वश में किया चित्त उसी प्रकार चलायमान नहीं होता है जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता है। श्रीकृष्ण इस मन को वश में करने के दो उपाय बताते हुए कहते है इसके दो उपाय है– अभ्यास और वैराग्य। यह मन अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है और असंयमित मन वाला योग विद्या को प्राप्त नहीं कर पाता है। साधना के बाद भी जो मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता है, वह फिर पुनः अच्छे कुल में

जन्म लेकर साधना करके मोक्ष को प्राप्त होता है। परन्तु प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करने वाला योगी अनेक जन्मों के संस्कार बल से इस जन्म में ही सिद्धि प्राप्त करता है।

अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हुए कहते हैं कि जिसका आहार विहार संयमित है, जिसके कार्यों में दिव्यता है जिसका शयन एवं जागरण निश्चित है ऐसे योगी पुरूष को दुख प्राप्त नहीं होता इसीलिए हे अर्जुन तुम योगी बनों।

6.3.7 सप्तमअध्याय (ज्ञान विज्ञान योग)–इस अध्याय में कुल 30 श्लोकों का संकलन हैं। इस अध्याय में जगत तथा ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान विज्ञान पर चर्चा की गई है। इसमें ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह अपरा प्रकृति आठ प्रकार से विभाजित है पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। यह जड़ प्रकृति है और इससे दूसरी तीवरूपा चेतन प्रकृति है जो इस जगत को धारण किये हुए है। सम्पूर्ण जगत इन परा व अपरा से उत्पन्न हुआ है। ईश्वर द्वारा इस जगत का उद्‌भव व प्रलय है और सम्पूर्ण जगत के मूल में मैं (ईश्वर) ही हूँ। इस संसार में मैं जल में रस, सूर्य में प्रकाश, वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द व पुरूषों में पुरूषत्व हूँ। इस प्रकार इस अध्याय में भगवन अपने अनेकों स्वरूपों का वर्णन करते हैं। गुणों के कार्यरूप सात्विक, राजसिक, तामसिक, इन तीनों प्रकार के भावों से यह सारा संसार लिप्त रहता है पर इन तीनों गुणों से परे इस अविनाशी स्वरूप को जानकर जो ज्ञानी जन मुझे भजते हैं वे माया के भ्रम में नहीं पड़ते हैं और इस संसार से तर जाते हैं। अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि निष्काम भाव से, श्रेष्ठ कर्मो को करने वाले, और जिन मनुष्यों का पाप नष्ट हो गया है, जो राग–द्वेष जैसे द्वन्द्वों के मोह से मुक्त हो गये है, ऐसे दृढ़ निश्चयी भक्त मुझे भजते है और ऐसे युक्त चित्त वाले पुरूष मुझे जानकर मुझे ही प्राप्त हो जाते है।

6.3.8 अष्टम् अध्याय (अक्षरब्रह्मयोग)–इस अध्याय में कुल 28 श्लोकों का संकलन है। इस अध्याय में भगवान के सगुण व निर्गुण रूप का वर्णन है। श्रीकृष्ण अर्जुन के अध्यात्म धर्म से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि ब्रहम परम् अक्षर है तथा ईश्वर का स्वरूप ही जीवात्मा ही अध्यात्म नाम से कहा जाता है अर्थात जिसका कभी नाश नहीं होता।

प्रिय पाठकों भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हैं कि –

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यःप्रयाति समदभावं याति नास्त्यत्र संशयः।। (8/5)

अर्थात जो पुरुष अन्तकाल में मुझे स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मेरे स्वरुप को प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय नही है।

इसलिए भगवान श्रीकृष्ण अपने भक्त से निरन्तर अपना स्मरण करने को कहते हैं। ईश्वर का स्मरण करते हुए अपने कर्तव्य कर्मो को करना चाहिए। इस प्रकार जो हरि स्मरण करते हुए अपने कर्तव्य कर्म को करता है वही ईश्वर को प्राप्त होता है वही मोक्ष का अधिकारी होता है।

इसके लिए भक्तियोग से युक्त पुरूष अंत काल में भी योग बल से भृकुटी के मध्य में अपने प्राण को लगाकर निश्चल मन से स्मरण करता है। वह मनुष्य उस दिव्य स्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है।

निर्गुण स्वरूप की उपासना ओ३म् के माध्यम से करने का उपदेश किया गया है। इन्द्रियों पर संयम कर और मन के द्वारा प्राण को मस्तक में धारण कर, अपनी धारणा

परमात्मा में लगाकर जो पुरूष ओ३म् इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का निरन्तर उच्चारण करता हुआ उस निर्गुण स्वरूप का ध्यान करता हुआ शरीर का त्याग करता है वह पुरूष परमगति पा जाता है।

6.3.9 नवम अध्याय (राजविद्या राजगुह्ययोग)- इस अध्याय में कुल 34 श्लोकों का संकलन है। योगिराज श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे द्वारा प्रेरित प्रकृति समस्त जगत को उत्पन्न करती है। कल्पान्त में समस्त भूत मेरी ही प्रकृति को प्राप्त हो जाते है तथा कल्पारम्भ में मैं, उन्हें फिर से उत्पन्न करता हूँ और मेरे द्वारा ही यह प्रकृति पूरे चराचर जगत को रचती है। इस तरह यह संसार चक्र घूमता है। तत्वज्ञानरूप धर्म में श्रद्धारहित पुरूष मुझे प्राप्त ना होकर मृत्युरूप संसार चक्र में भ्रमण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन मैं ही अमृत और मैं ही मृत्यु हूँ, मैं ही सत्य हूँ जो अनन्य प्रेम से मुझ परमेश्वर को निरन्तर व नित्य चिन्तन करते हैं, मैं उनकी रक्षा स्वयं करता हूँ और भगवद् प्राप्ति के निमित्त साधनों की भी रक्षा स्वयं करता हूँ।

हे अर्जुन तू जो भी कर्म करता है खाता है, जो दान करता है, जो हवन करता है, जो तप करता है वह सब कुछ मेरे (ईश्वर) अर्पण कर दे। इस प्रकार समस्त कर्म जब ईश्वर को अर्पण होते हैं तब मनुष्य सन्यास योग से युक्त चित्त वाला होकर कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है और बन्धनों से मुक्त होकर ईश्वर को ही प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि कोई दुष्ट व्यक्ति, दुराचारी भी अनन्य भक्ति भाव से मुझे भजता है और निश्चयात्मक बुद्धि वाला है अर्थात उसने निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है तो उसको भी साधु ही समझना चाहिए क्योंकि वह जल्द ही धर्मात्मा ही बन जाता है। इस प्रकार हे अर्जुन ये निश्चयपूर्वक सत्य जान ले कि मेरा भक्त का कभी अहित नही होता है। जो मेरे परायण होता है वह मुझे ही प्राप्त करता है।

6.3.10 दशम अध्याय (विभूति योग)-इस अध्याय में 42 श्लोकों का संकलन है। इस अध्याय में भगवान की विभूतियों, योगशक्ति तथा भक्तियोग का वर्णन है। भगवन कहते हैं कि हे अर्जुन मैं सभी के हृदय में स्थित हूँ, सभी की आत्मा हूँ तथा सभी भूतों का आदि मध्य और अन्त हूँ । भगवान श्रीकृष्ण अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं –

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषांरविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्वास्मि भूतानामस्मि चेतना।।
रूद्राणां शंकरश्वास्मि विन्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्वास्मि मेरूः शिखरिणामहम्।।

(10/21–23)

अर्थात अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ तथा मैं उन्चास वायु देवताओं में मरीचि नामक देवता और नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूँ। वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मैं मन हूँ, प्राणियों की चेतना अर्थात् जीवन शक्ति हूँ। एकादश रूद्रों में स्वयं शंकर का स्वरूप हूँ, यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूँ, और वसुओं में अग्नि, शिखर वाले पर्वतों में सुमेरू हूँ, शब्दों में ओंकार, यज्ञों में

जपयज्ञ, सभी वृक्षों में पीपल, नदियों में गंगा हूँ। हे अर्जुन सृष्टि का आदि, अन्त तथा मध्य मैं ही हूँ।

हे अर्जुन मैं दमन करने वालों को दण्ड देने वाला हूँ, जीतने की इच्छा वालों की नीति हूँ, और ज्ञानवालों का तत्वज्ञान मैं ही हूँ।

अन्त में श्रीकृष्ण कहते है कि मेरी विभूतियों का अंत नहीं है। मैंने अपनी विभूतियों का वर्णन तेरे लिए किया है। इस संसार में जो भी विभूति युक्त, ऐश्वर्य युक्त, शक्ति से युक्त और कान्तिमान वस्तु है उस प्रत्येक वस्तु में तुम ईश्वर (मेरे) ही तेज की अभिव्यक्ति समझ, क्योकि मैं इस सम्पूर्ण जगत योग माया से धारण किये हुए हूँ।

6.3.11 एकादश अध्याय (विश्वरूप दर्शन योग)–इस अध्याय में कुल 55 श्लोकों का संकलन है। भगवान श्रीकृष्ण द्वारा परम् गोपनीय तथा अध्यात्म विषयक वचनों को सुनने से अर्जुन का अज्ञान नष्ट हो जाता है। अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है कि मैंने आपकी अविनाशी महिमा सुनी है, आपका ज्ञान, तेज, ऐश्वर्य मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ यदि आप मुझको पात्र मानते है तो इन स्वरूप का दर्शन मुझे कराइये। श्रीकृष्ण कहते हैं हे पार्थ अब तू मेरे सैकड़ों नाना प्रकार के, अनेकों वर्णो के तथा अनेकों आकृति वाले स्वरूपों को देख। अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान कर अपने अनेकों रूपों का दर्शन कराते हैं– अनेकों मुख, नेत्र, दिव्य आभूषणों से युक्त, दिव्य शस्त्रों से युक्त, दिव्य माला, दिव्य वस्त्र, दिव्य गन्ध, दिव्य लेप, सभी ओर मुँह किये हुए विराट स्वरूप परमेश्वर का स्वरूप अर्जुन ने देखा। विस्मित व हर्षित अर्जुन उस प्रकाशमय विश्वरूप परमदेव परमात्मा को ऋद्धा भक्ति के साथ सिर झुकाकर प्रणाम कर बोले– मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों का दर्शन कर रहा हूँ, समस्त भूतों, ब्रह्मा, महादेव, समस्त ऋषियों को तथा दिव्य सर्पो को देख रहा हूँ। हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामी आपको मैं अनन्त रूपों वाला, जिसमें अनेक भुजाएं, पेट, मुख और नेत्र समाहित है, जिस स्वरूप का आदि मध्य और अन्त नहीं दिखाई पड़ता, आप ही परम् अक्षर अर्थात् परम्ब्रहमा, परमात्मा है। आप ही जानने योग्य है क्योंकि आपको जानने के बाद कुछ भी जानने योग्य नहीं रहता इस जगत के परम् आश्रयदाता आप है। आप ही अनादि, अविनाशी ब्रहम सनातन पुरूष है।

भगवन् श्रीकृष्ण कहते हैं मैं लोगों का नाश करने वाला महाकाल हूँ और युद्ध में प्रतिपक्षी सेना में जो भी योद्धा है, वे सभी पहले से ही मेरे द्वारा मार दिये गये है। तुम्हारे द्वारा ना मारे जाने पर भी इनका विनाश निश्चित है अतः उठकर यश प्राप्त कर शत्रु को जीत कर धन धान्य से सम्पन्न राज्य को भोगने के लिए तैयार होकर युद्ध कर।

6.3.12 द्वादशो अध्याय (भक्तियोग)–इस अध्याय में कुल 20 श्लोक है। इस अध्याय में सगुण (साकार) व निर्गुण (निराकार) उपासकों की श्रेष्ठता का वर्णन किया है।

भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन जो भक्त मुझमें मन को एकाग्र करके मेरे भजन ध्यान में लगे रहते हैं व ऋद्धा से युक्त होकर सगुण (साकार) परमेश्वर को भजते है, वह योगियों में अति उत्तम योगी है जो मुझको ही प्राप्त होते है।

भगवान कहते है– जो मुझमें चित लगाते है। ऐसे प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूपी संसार सागर से पार करने वाला होता हूँ।

अतः मुझमें मन को लगा, और हे अर्जुन मुझमें ही अपनी बुद्धि को लगा दे, इस प्रकार मन और बुद्धि को मुझ पर लगा देने से तू मुझमें ही निवास करेगा इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है और यदि मुझमें मन लगाने में असमर्थ है तो अभ्यास रूप योग के

द्वारा मुझे प्राप्त कर और यदि अभ्यास योग में भी समर्थ नहीं है तो कर्मो को मेरे लिए कर इस प्रकार मेरे लिए कर्म करता हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा।

भगवान श्रीकृष्ण कहते है, जो पुरूष शत्रु–मित्र, मान–अपमान, सर्दी–गर्मी व सुख–दुख में सम है, जो संसार में आसक्ति से रहित है वह भक्त मुझे प्रिय है।

जो समत्व की भावना रखता है जो मननशील, सन्तोषी, आसक्ति से रहित, स्थिर बुद्धि भक्त मुझे प्रिय हैं।

6.3.13 त्रयोदश अध्याय (क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग)–इस अध्याय में कुल 34 श्लोकों का संकलन है। इस अध्याय में क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का वर्णन किया गया है। क्षेत्र प्रकृति एवं क्षेत्रज्ञ पुरूष है।

ज्ञानी पुरूष जिसको जानकर अमृतत्व को प्राप्त होता है। वह परमब्रहम परमात्मा अनादि है, सत्य है।

वह परम् ब्रहम चराचर भूतों के बाहर भीतर सभी जगह वही है। वह सूक्ष्मतम होने से साधारण मनुष्यों की समझ में नहीं आ पाता है। वह परमात्मा ज्योतियों का पुँज व माया से परे है। वह परमात्मा जानने के योग्य है। व उस जानने योग्य परमात्मा की प्राप्ति तत्व ज्ञान से की जा सकती है और वही परमात्मा सभी प्राणियों के हृदय में विशेष रूप से स्थित है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं सभी क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) भी मुझे ही जान और क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ अर्थात् विकारों से युक्त प्रकृति को और पुरूष को जो तत्व से जानना ही ज्ञान है ।वह कहते हैं कि मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थो को भोगता है और इन गुणों को अपनाने पर ही अच्छी या बुरी योनि में जन्म लेता है। इस देह में स्थित आत्मा–परमात्मा ही है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा है। सभी का भरण–पोषण करने वाला, जीव रूप से भोक्ता, और शुद्ध सच्चिदानन्द होने से परमात्मा कहा जाता है। इस प्रकार जो मनुष्य पुरूष को गुणों से प्रकृति को मनुष्य तत्व से जानता है और सभी प्रकार के कर्तव्य कर्म करता है। वह फिर से जन्म नहीं लेता है। इस प्रकार मनुष्य परमात्मा को सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते है। अन्य कितने ही ज्ञान योग के द्वारा और कुछ कर्मयोग के द्वारा मुझे देखते है या प्राप्त होते है।

भगवान श्रीकृष्ण आत्मा पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं–

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रवि।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।

(13 / 33)

अर्थात जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करता है।

इस प्रकार जो ज्ञान के नेत्रों क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को जानता है और क्षेत्र को जड़ विकारी, क्षणिक, और नाशवान मानता है तथा क्षेत्रज्ञ को नित्य, चेतन, अविनाशी, अविकारी जानता है और प्रकृति से मुक्त होने के लिए प्रयासरत रहता है, वही ज्ञानी पुरूष परमब्रहम परमात्मा को प्राप्त होता है।

6.3.14 चतुर्दश अध्याय (गुणत्रयविभाग योग)- इस अध्याय में कुल 27 श्लोकों का संकलन हैं। इस अध्याय में प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति को सम्पूर्ण भूतों की योनि बतलाते हुए कहते हैं कि जड़ चेतन के संयोग से सभी भूतों की उत्पत्ति होती है। प्रकृति गर्भ धारण करने वाली माता है तथा परमेश्वर बीज का स्थापन करने वाला पिता है। इस प्रकृति के तीन गुण है—सत्, रज, तम। प्रकृति से उत्पन्न ये तीन गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधे रहते है। हे, अर्जुन सत्व गुण मनुष्य को सुखी बनाता है, रजो गुण कर्मो में तथा तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद में लगा देता है। सत्वगुण के बढ़ने पर देह तथा अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में चेतनता तथा विवेक शक्ति उत्पन्न होने लगती है, वही रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, स्वार्थ बुद्धि, अशान्त बुद्धि और विषय भोगों की ओर लालसा उत्पन्न होने लगती है। तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में अप्रकाश, प्रमाद, व्यर्थ चेष्टा, निद्रा, कर्तव्य कर्मो में अप्रवृत्ति ये सभी वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

ऊर्ध्वगच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।
(14/18)

अर्थात सत्वगुण में स्थित पुरूष मृत्यु को प्राप्त होने पर उच्च लोकों (स्वर्गादि) को प्राप्त होता है। रजोगुण में स्थित पुरूष के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होने पर कर्मो की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होते है तथा तमोगुण में स्थित पुरूष मृत्यु के उपरान्त अधोगति अर्थात कीट, पशु आदि नीच योनियों में उत्पन्न होता है।

6.3.15 पञ्चदश अध्याय (पुरूषोत्तम योग)-इस अध्याय में 20 श्लोकों का संकलन हैं। इस अध्याय में संसार रूप वृक्ष, भगवद् प्राप्ति के उपाय, परमेश्वर का स्वरूप व पुरूषोत्तम के स्वरूप का वर्णन किया गया है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह संसार एक विशाल वृक्ष है, जिसमें विषय भोगों की कोंपल है, अहं, ममता और वासना की जड़ें हैं। इस वृक्ष को दृढ वैराग्य रूपी शस्त्रों से काटकर उस परमेश्वर की खोज करनी चाहिए। इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके परमेश्वर का चिंतन मनन करना चाहिए। अपने स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते है कि मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके सभी भूतों को अपनी, शक्ति से धारण करता हूँ, समस्त वनस्पतियों औषधियों को पुष्ट करता हूँ। मैं ही वैश्वानय रूप अग्नि हूँ जो कि चार प्रकार के (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा चोष्य) अन्न को पचाता हूँ, मैं ही सभी प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ, और मनुष्य में स्मृति, ज्ञान, मेरे ही कारण है। मैं सब वेदों द्वारा जानने योग्य हूँ। मैं उस अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में पुरूषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। ज्ञानी पुरुष सब ओर से निरन्तर मुझे भजते हैं।

6.3.16 षोडश अध्याय (दैवासुरसम्पद्विभागयोग)-इस अध्याय में 24 श्लोकों का संकलन है। जिनमें दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियों का वर्णन किया गया है। दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न पुरूष के लक्षण बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अन्तःकरण की शुद्धता, सरलता, तत्वज्ञान के लिए ध्यान योग में निरन्तर दृढ़, अभयता, इन्द्रियों का दमन, सात्विक दान, वेद और शास्त्रों का पठन—पाठन, भगवान व गुरूजनों की पूजा, अग्निहोत्र, उत्तम कर्मो का आचरण, भगवान के नाम का भजन कीर्तन, स्वधर्म के पालने के लिए कष्ट सहन करना, मन वचन तथा वाणी से किसी को कष्ट न देना, कर्मो में कर्तापन का अभाव, चित्त की चंचलता का

अभाव, किसी की निन्दा आदि ना करना, विषयों में आसक्ति ना होना, अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध ना करना आदि दैवी सम्पदा से उत्पन्न पुरूष के लक्षण होते हैं। योगिराज श्रीकृष्ण कहते हैं-

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।

(16/3)

तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, किसी में शत्रु का भाव ना होना, अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव होना, ये दैवी सम्पदा को प्राप्त पुरूष के लक्षण हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।।

(16/4)

अर्थात पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञानता आसुरी सम्पदा को प्राप्त पुरूष के लक्षण है। दैवी सम्पदा मनुष्य को मुक्त करती है वही आसुरी सम्पदा बन्धन का कारण है।

आसुरी सम्पदा प्राप्त मनुष्य स्वयं को ही श्रेष्ठ मानते है, धन और मद के मान से युक्त होकर पाखण्ड करते है तथा शास्त्रों के विरूद्ध आचरण व यज्ञ करते है। उन पापियों का इस संसार में बार–बार जन्म होता है। और वह आसुरी योनियों में ही जन्म लेते है। काम, क्रोध तथा लोभ इन तीनों को नरक का द्वार कहा है। ये तीनों आत्मा का नाश कर अधोगति प्रदान कराते हैं। इसलिये इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए, हे अर्जुन जो पुरूष इन तीनों का त्याग कर कल्याण का आचरण करता है वह परमगति को प्राप्त होता है। जो शास्त्र विधि से नियत कर्म करता है वह मुझको ही प्राप्त होता है।

6.3.17 सप्तदश अध्याय(श्रद्धात्रय विभागयोग)–इस अध्याय में 28 श्लोक हैं। इस अध्याय में श्रद्धा का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में सात्विक, राजसी व तामसी श्रद्धा का वर्णन है। श्रद्धा मनुष्य के अन्तःकरण के अनुरूप ही होती है इसलिए जो पुरूष जैसी श्रद्धा रखता है वह स्वयं भी वही होता है।

सात्विक श्रद्धा रखने वाले पुरूष देवताओं का पूजन, ध्यान, चिंतन, मनन करते है। सात्विक पुरूष का भोजन उसकी प्रकृति के अनुसार सात्विक होता है। सात्विक आहार, आयु, सत्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले हैं। सात्विक आहार इस युक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा मन को प्रिय लगने वाले होते है तथा सात्विक भोजन ग्रहण करने से हमारा चित्त भी प्रसन्न रहता है।

राजसिक पुरूष शास्त्र विधि से रहित, स्वयं कल्पित घोर तप करते है। वे अहंकार, काम, क्रोध और बल से युक्त आचरण करते है। राजसी पुरूष का भोजन कड़वा, खट्टा, लवणयुक्त, तीखा, गरम, दाहकारक होता है जो कि दुःख चिन्ता तथा रोगों को बढ़ाने वाला तथा प्रमाद बढ़ाने वाला होता है।

तामसी पुरूष अशास्त्र विधि से आचरण तथा भूत प्रेतों का पूजन करते है। तामसी पुरूष का भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी होता है। यह अपवित्र भोजन

तामसिक श्रद्धा वाले व्यक्ति को प्रिय होता है जो कि कलहकारी परिस्थिति, रोग, तनाव, द्वेष, अशांति आदि उत्पन्न करने वाला होता है।

दान देना ही कर्तव्य है, इस भाव युक्त होकर, बिना लाभ की इच्छा किए दिया दान सात्विक कहा जाता है। जो दान क्लेशपूर्वक, अपना उपकार करने वालों को तथा फल को दृष्टि को सामने रखकर दिया जाता है वह दान राजस कहा जाता है तथा जो तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश, काल में दिया जाता है और कुपात्र को दिया जाता है तामसिक दान है।

अतः हे अर्जुन बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन तथा दिया हुआ दान तथा और किया हुआ तप व कोई भी शुभ कर्म है। वह न इन लोक में लाभदायक होता है, और न उस लोक में। इस प्रकार मनुष्य को सभी कर्म निष्काम भाव से एवं श्रद्धा पूर्वक करने चाहिए।

6.3.18 अष्टादश अध्याय (मोक्ष संन्यास योग)–इस अध्याय में 78 श्लोकों का संकलन है। इस अध्याय में सांख्य सिद्धान्त, वर्णधर्म, पराभक्ति, निष्काम कर्मयोग, त्याग तथा शरणागति का वर्णन किया गया है।

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को यज्ञ, दान एवं तप के संदर्भ में अपना उत्तम मत बताते हुए कहते है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मो तथा अन्य कर्तव्य कर्मो से आसक्ति न रखते हुए फलों का त्याग कर इन्हें करना चाहिए यह मेरा निश्चय किया हुआ मत है।

निषिद्ध व काम्य कर्मो का त्याग कर देना चाहिए परन्तु शास्त्र विहित कर्मो का आसक्ति के बिना फल का त्याग कर करना चाहिए, इस प्रकार शास्त्र सम्मत कर्म, फल का त्याग कर करने से सात्विक त्याग माना गया है।

भगवान कहते है हे अर्जुन तू मुझमें मन को रमा दे मेरा भक्त हो, मेरा ही पूजन कर, मुझमें ही परायण हो जा, सभी धर्मो का त्याग कर केवल मुझ परमेश्वर की शरण में आ जा मैं सभी पापों से तुझे मुक्त कर दूँगा और जो पुरूष इस धर्ममय हम दोनों के संवाद रूप गीता शास्त्र का पठन–पाठन करेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊँगा ऐसा मेरा मत है।

मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो मुझमे रमण करता हुआ, सम्पूर्ण कर्मो को निष्काम भाव से करता हुआ अन्त में मेरी कृपा से सनातन, अविनाशी, परम पद को प्राप्त होता है।

अभ्यास प्रश्न–

(1) सत्य / असत्य

(क) भगवद्गीता के अनुसार सत्व गुण मनुष्य को स्वार्थी बनाता है।

(ख) ईश्वर का स्मरण करते हुए अपने कर्तव्य कर्मो को करना चाहिए।

(ग) अपना उपकार करने वालों को तथा फल को दृष्टि को सामने रखकर दिया जाने वाला दान सात्विक दान कहलाता है।

(घ) घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञानता दैवी सम्पदा को प्राप्त पुरूष के लक्षण है।

(ड) फल और आसक्ति को त्याग कर भगवान की आज्ञानुसार समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम कर्मयोग है।

(2) बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) भगवद्गीता अध्यायों की कुल संख्या है–

(a)	पाँच	(b)	दस
(c)	बारह	(d)	अठारह

(ख) भगवत गीता में मन स्थिर करने का क्या उपाय बतलाया है–

(a)	इच्छाओं का त्याग	(b)	अभ्यास और वैराग्य
(c)	कर्मो का त्याग	(d)	आसन और प्राणायाम

(ग) भगवत गीता के किस अध्याय में ईश्वर की विभूतियों का वर्णन किया गया है–

(a)	दूसरे अध्याय में	(b)	पाँचवें अध्याय में
(c)	दसवें अध्याय में	(d)	अठारवें अध्याय में

(घ) भगवत गीता में ईश्वर के किस रूप का वर्णन किया गया है–

(a)	साकार रूप	(b)	निराकार रूप
(c)	दोनों रूपों का	(d)	किसी रूप का नहीं

(ङ) भगवत गीता में वर्णित आसुरी सम्पदा से युक्त पुरूष के लक्षण है–

(a)	क्रोध	(b)	अभिमान
(c)	अज्ञान	(d)	ये सभी

6.4 सारांश

प्रिय पाठकों गीता कर्मयोग का एक सर्वोत्तम ग्रन्थ है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को असक्ति त्याग कर अर्थात् फल की इच्छा को त्याग कर कर्म करने का उपदेश दिया गया है। यहां पर श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते है कि कर्म ना करने की तुलना में कर्म करना श्रेष्ठ है एवं कर्मो में भी शास्त्र विहित (शास्त्रों के अनुसार) कर्म ही करने चाहिए क्योंकि इन कर्मो के करने से साधक कर्म फलों एवं संसार में लिप्त नहीं होता और इस संसार सागर रूपी भवर में नहीं फँसता। ऐसा निष्काम कर्मयोगी संसार सागर से तरता हुआ परमपद को प्राप्त होता है।

यह ग्रन्थ अस्थिर मनोदशा से युक्त पुरूष के लिए एक पथ पदर्शक के रूप में कार्य करता है अर्थात् इसका ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य अपने कर्तव्य मार्ग को समझकर उसका अनुसरण करने में सक्ष्म होता है, इसीलिए इस ग्रन्थ को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। इसे पढ़ने, सुनने, जानने एवं अनुसरण करने से प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण होता है।

6.5 शब्दावली–

निमित्त = साधन, कारण
क्षीण = कमजोर
किंकर्तव्यविमूढ़ = कर्तव्य मार्ग से दूर
आसमंजस्य = अनिश्चित अवस्था
तुच्छ = छोटी

असक्ति	=	इच्छा (फल)
अधोगति	=	पतन की ओर जाना
सार्वभूम	=	समस्त पृथ्वी
संशय	=	संदेह
भृकुटि	=	दोनों भोहों का मध्य स्थान

6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क .	असत्य	क .	d
ख .	सत्य	ख .	b
ग .	असत्य	ग .	c
घ .	असत्य	घ .	d
ड .	सत्य	ड .	d

6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1. भगवदगीता – गीता प्रेस गोरखपुर।
2. गीता माधुर्य – स्वामी रामसुखदास, गीता प्रेस गोरखपुर।

6.8 निबन्धात्मक प्रश्न–

1.भगवद गीता पर सविस्तार निबन्ध लिखिए।

2.भगवद गीता की विषय वस्तु को स्पष्ट करते हुए इसकी उपादेयता पर प्रकाश डालिए।

इकाई –7 हठ प्रदीपिका

7.1 प्रस्तावना

7.2 उददेश्य

7.3 हठ प्रदीपिका के अध्याय

7.3.1 प्रथम अध्याय

7.3.2 द्वितीय अध्याय

7.3.3 तृतीय अध्याय

7.3.4 चतुर्थ अध्याय

7.3.5 पचंम अध्याय

7.4 सारांश

7.5 शब्दावली

7.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.8 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों पूर्व में आपने योग सूत्र एवं भगवद्गीता का ज्ञान प्राप्त किया तथा योग के संदर्भ में जाना। यौगिक ग्रन्थों में हठ प्रदीपिका का विशिष्ट स्थान है जिसमें हठयोग का सविस्तार वर्णन किया गया है। हठयोग क्या है? इस प्रश्न का उत्तर वर्तमान समय में बहुत भ्रमित हो रहा है कहीं पर हठयोग का अर्थ बलपूर्वक की गयी क्रियाओं से लिया जाता है तो कहीं पर हठपूर्वक किये गये अभ्यास को हठयोग की संज्ञा दी जाती है प्ररन्तु वास्तव में ऐसा नही है केवल बलपूर्वक अथवा हठपूर्वक किया गया अभ्यास हठ तो हो सकता है किन्तु हठयोग नहीं। हठयोग का शास्त्रीय अध्ययन हठ प्रदीपिका नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

हठयोग की साधना नाथ सम्प्रदाय की प्रमुख साधना पद्वति है जिसका प्रारम्भ आदिनाथ शिव से होता है। इस विद्या को आगे चलकर मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ तथा दीनानाथ आदि नाथ सम्प्रदाय के योगियों ने आगे बढाया। हठयोग प्रदीपिका हठयोग का

मूलभूत ग्रन्थ है जिसमें योगी स्वात्माराम ने हठयोग को विस्तारपूर्वक समझाया है। यह ग्रन्थ कुल पांच अध्यायों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में हठयोग की साधना पद्वति को श्लोकों के माध्यम से समझाया गया है। हठ प्रदीपिका की विषयवस्तु समझने के बाद अब आपके मन में इस ग्रन्थ को जानने की झिज्ञासा उत्पन होनी स्वाभाविक है अतः अब हम हठयोग प्रदीपिका का सविस्तार अध्ययन करेंगे।

7.2 उददेश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- आप हठ प्रदीपिका को विश्लेषित कर सकेंगे।
- आप हठ प्रदीपिका के अनुसार हठयोग को समझाने में सक्ष्म हो सकेंगे।
- हठ प्रदीपिका का सामानय परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- हठ प्रदीपिका में वर्णित आसनों का ज्ञान अर्जित कर सकेंगे।
- हठ प्रदीपिका में वर्णित मुद्राओं का अध्ययन कर सकेंगे।
- षट्कर्मो के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में दिए गए प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

7.3 हठ प्रदीपिका के अध्याय

योगी स्वात्माराम कृत हठ प्रदीपिका कुल पांच अध्यायों में विभक्त है यहां पर अध्यायों को उपदेश की संज्ञा दी गयी है। प्रथम अध्याय में आसनों का वर्णन किया गया है, इस अध्याय में श्लोकों की कुल संख्या 67 है। द्वितीय अध्याय में प्राणायाम का उपदेश किया गया है, इस द्वितीय अध्याय में श्लोकों की कुल संख्या 78 है। । तृतीय अध्याय मुद्रा एवं बन्ध से सम्बन्धित है।श्लोकों की संख्या के दृष्टिकोण से यह सबसे बडा अध्याय है, इस अध्याय में श्लोकों की कुल संख्या 126 है। । चर्तुथ अध्याय में नादानुसन्धान का वर्णन किया गया है तथा इसमें कुल 114 श्लोकों का संकलन किया गया है। हठ प्रदीपिका का पचंम अध्याय यौगिक चिकित्सा से सम्बन्धित है जिसमें श्लोकों की कुल संख्या 24 है। इस प्रकार हठ प्रदीपिका ग्रन्थ कुल 409 श्लोकों का संकलन है। हठ प्रदीपिका का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

7.3.1 प्रथम अध्याय – प्रथम उपदेश

हठ प्रदीपिका के प्रथम अध्याय का प्रारम्भ आदिनाथ को नमस्कार से होता है।

श्री आदिनाथाय नामोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

(ह.प्र. 1/1)

अर्थात हठयोग विधा की शिक्षा देने वाले आदिनाथ को नमस्कार है।

योगी स्वात्माराम हठयोग के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि राजयोग के उच्चतम शिखर को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले अभ्यासियों के लिये यह हठविद्या सीढी के समान है परन्तु साधक को इस विद्या को अत्यन्त गोपनीय रखना चाहिए क्योकि गुप्त रखने पर यह विद्या शक्तिशालिनी होती है जबकि प्रकट होने पर यह शक्तिहीन हो जाती है।

हठ प्रदीपिका के प्रथम अध्याय में आगे हठयोग के अभ्यास हेतु उचित स्थान का वर्णन किया गया है। योगी स्वात्माराम जी कहते है कि स्थान एकान्त होना चाहिए , देश धार्मिक होना चाहिए, ऐसा स्थान जो सभी उपद्रवों से रहित हो, में कुटिया बनाकर रहना

चाहिए। इस प्रकार की कुटिया में रहकर साधक को विषयो से मुक्त होकर गुरू के द्वारा बतलाये मार्ग के अनुसार अभ्यास करना चाहिए।

निरन्तर अभ्यास करते रहने पर भी यदि साधक को साधना में सफलता प्राप्त नही होती है तो इसका कारण योगी स्वात्माराम जी बाधक तत्वों को बतलाते हुए कहते हैं –

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसड़्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति।।

(ह.प्र.1/15)

अर्थात अधिक भोजन, अधिक श्रम, अधिक बोलना, नियमप पालन, अधिक जनसर्म्पक तथा मन की चंचलता ये छ योग साधना में बाधक तत्व हैं। हठ प्रदीपिका में पुनः कहा गया –

उत्साहात् साहसाद्धैर्यान्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्धयति।।

(ह.प्र.1/16)

उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, संकल्प और जनसंगपरित्याग ये छः योग साधना में साधक तत्व है।

हठ प्रदीपिका में हठयोग साधना के चार अंगो – आसन, प्राणायाम, मुद्रा तथा नादानुसन्धान का वर्णन किया गया है। यहां आसन को योग साधना का प्रथम अंग मानते हुए कहा गया है कि आसन शारीरिक तथा मानसिक स्थिरता के साथ–साथ आरोग्यता एवं लघुता का विकास करते है। हठ प्रदीपिका में निम्नलिखित पन्द्रह आसनों का वर्णन किया गया है –

1	स्वस्तिकासन	9	पश्चिमतान आसन
2	गोमुखासन	10	मयूरासन
3	वीरासन	11	शवासन
4	कूर्मासन	12	सिद्धासन
5	कुक्कुटासन	13	पदमासन
6	उत्तानकूर्मासन	14	सिंहासन
7	धनुरासन	15	भद्रासन
8	मत्स्येन्द्रासन		

1. स्वस्तिकासन – दोनों पैरों के तलवों को एक दूसरे के विपरीत घुटने और जघाओं के बीच अच्छी तरह स्थापित करना तथा शरीर को सीधा रखकर संतुलित रूप से बैठना स्वस्तिकासन कहलाता है।

2. गोमुखासन – दाहिनी एड़ी को बाई ओर और बाई एड़ी को दाहिनी ओर रखकर पैरों की गाय के मुख के समान आकृति बनाना गोमुख आसन होता है।

3. वीरासन – एक पैर को दूसरी जंघा पर तथा दूसरे पैर को उस जंघा के नीचे रखने से वीरासन होता है।

4. कूर्मासन – दोनों पैर की एड़ी पर गुदा को रखकर अर्थात एड़ियों से गुदा को दबाते हुए पैरों के अग्र भाग को उसे बाहर की ओर फैलाना कूर्मासन कहलाता है।

5. कुक्कुटासन – पदमासन लगाकर घुटनों और जंघाओं के बीच से दोनों हाथों को डालकर हथेलियों को अच्छी प्रकार भूमि पर सुस्थिर कर हथेलियों के बल पर शरीर को आकाश में स्थिर करना अर्थात पृथ्वी से शरीर को ऊपर उठाना कुक्कुटासन कहलाता है।

6. उत्तान कूर्मासन – इसके लिए पूर्व में बतलाई विधि के अनुसार पहले कुक्कटासन में स्थित होते हैं तत्पश्चात दोनों हाथों से गले को पकड़कर कछुए के समान चित् लेट जाना उत्तान कूर्मासन कहलाता है।

7. धनुरासन – पेट के बल लेटकर दोनों पैरों के अंगूठों को दोनों हाथों से पकड़कर कानों तक खींचकर शरीर को धनुष के समान आकार देना धनुरासन कहलाता है।

8. मत्स्येन्द्रासन – दाहिने पैर को बाई जंघा के मूल में रखकर बायें पैर को दाहिने घुटने के बाहर घेरते हुए शरीर को ऐंठन देकर मोड़ते हैं तथा विपरीत हाथों से दोनों पैरों को पकड़कर स्थिर होना यह मत्स्येन्द्रासन कहलाता है।

9. पश्चिमतान आसन – दोनों पैरों को भूमि पर दण्ड के समान फैलाते हुए दोनों हाथों से पैरों के अंगूठों को पकड़ते हुए घुटनों पर मस्तक को लगाना पश्चिमतानआसन कहलाता है।

10. मयूरासन – दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर अच्छी प्रकार स्थापित करते हुए दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों ओर लगाकर शरीर को दण्ड के समान सीधे आकाश में उठना मयूर आसन कहलाता है।

11. शवासन – भूमि पर शव के समान पीठ के बल लेट जाना शवासन कहलाता है।

12. सिद्धासन – एक पैर की एड़ी को सिवनी नाड़ी में अच्छी प्रकार लगाकर दूसरे पैर को शिश्न के ऊपर दृढ़ता से रखते हैं तथा ठुड्डी को हृदय प्रदेश पर स्थापित करते हुए भ्रूमध्य दृष्टि होकर निश्चल रूप से बैठना सिद्धासन कहलाता है।

13. पद्मासन – बाई जंघा के ऊपर दाहिना पैर तथा दाहिनी जंघा के ऊपर बांये पैर को स्थापित करते हुए दोनों हाथों को पीठ पीछे से ले जाते हुए दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा एवं बांये पैर से बांये हाथ के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़ते हुए ठुड्डी को हृदय प्रदेश में स्थापित करना पद्मासन कहलाता है।

14. सिंहासन – दोनों एड़ियों को अण्डकोश के नीचे सिवनी नाड़ी के दोनों ओर बाई एड़ी को दाहिनी और तथा दाहिनी एड़ी को बांई ओर लगाना सिंहासन कहलता है।

15. भद्रासन – दोनों एड़ियों को अण्डकोश के नीचे सिवनी नाड़ी के पास रखें। इसमें बाई एड़ी को सिवनी नाड़ी के बांये भाग में तथा दाहिनी एड़ी को सिवनी भाग दाहिने भाग में रखकर दोनों पैरों के अग्रभाग को अच्छी प्रकार से पकड़कर स्थिर होना भद्रासन कहलाता है। इसे सिद्ध योगी गोरक्षासन भी कहते हैं।

हठप्रदीपिका में स्वात्मारामयोगी इन पन्द्रह आसनों का वर्णन करने के बाद प्राणयाम पर प्रकाश डालते हैं तथा प्राणायाम के अभ्यास से पूर्व कुछ विशेष बिन्दुओं को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत सिद्धो नात्र कार्या विचारणा।।

(ह.प्र.1/57)

जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया हो, मिताहारी हो, त्यागी हो, ऐसा साधक एक वर्ष या उससे कुछ अधिक समय में सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

हठ प्रदीपिका में आहार पर प्रकाश डालते हुए मिताहार को वर्णित करते हुए कहते हैं –

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।।

(ह.प्र.1/58)

सुस्निग्ध–मधुर–भगवान को अर्पित किया हुआ अपने पूर्ण आहार के चतुर्थांश से भी कम खाना मिताहार कहलाता है। एक योग साधक के लिए पथ्य और अपथ्य आहार का वर्णन भी हठप्रदीपिका के इस उपदेश में किया गया है। अपथ्य के अन्तर्गत कटु, अम्लीय खट्टा, तीखा, नमकीन, अधिक गर्म, हरी साक–खट्टा भाजी, तेल, तिल, सरसों, मद्य, मस्ती, बकरे आदि का मांस, दही, छांछ, कुलथी, बेर, खल्ली, हींग तथा लहसुन आदि का वर्णन आता है। इसके साथ–साथ, फिर से गर्म किया हुआ रूखा, अधिक नमक अथवा खटाई वाला भोजन भी अपथ्य के अन्तर्गत रखा गया है। हठप्रदीपिका में पथ्य भोजन का वर्णन करते हुए कहा गया कि गेहूं, चावल, जौ, साठी चावल, जैसे सुपाच्य अन्न, दूध, घी, खाड, मक्खन, मिश्री, मधु, सूंठ, परवल जैसे फल, जीवन्ती, बथुआ, चौलाई, मेघनाथ, पुनर्नवा आदि पांच प्रकार के शाक, मूंग तथा वर्षां का जल योग साधकों के लिए पथ्य है। पुष्टिकारक, सुमधुर, स्निग्ध तथा गाय के दूध की बनी वस्तुओं का सेवन करना चाहिए। योग साधक को हठ प्रदीपिका का प्रथम अध्याय यहां पूर्ण होता है।

7.3.2 द्वितीय अध्याय –

हठप्रदीपिका के द्वितीय अध्याय का प्रारम्भ प्राणायाम के अभ्यास से होता है।

हठप्रदीपिका स्वात्माराम योगी उपदेश करते हुए कहते हैं कि आसन का अभ्यास हो जाने पर, इन्द्रियों को नियंत्रण में रखकर उपयुक्त आहार लेते हुए साधक गुरू निर्देशन में प्राणायाम का अभ्यास करें।

चलेवाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।।

(ह.प्र. 2/2)

यहाँ पर प्राणायाम की महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया कि वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल हो जाता है और वायु के निश्चल होने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है अतः योगी पुरूष को स्थिरता प्राप्त करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

यदि शरीर में स्थित नाड़ियां मलों से भरी होती हैं तो इन नाड़ियों में प्राण का प्रवाह भली–भांति नहीं हो सकता अतः साधक को प्राणायाम के अभ्यास से पूर्व नाड़ियों को शुद्ध करना चाहिए। नाड़ी शुद्धि के लिए उपदेश करते हुए कहा गया कि पद्मासन में बैठकर साधक को चन्द्रनाड़ी अर्थात बाई नासिका से श्वास को अन्दर भरना चाहिए तथा यथाशक्ति श्वास को रोककर सूर्यनाड़ी अर्थात दाहिनी नासिका से श्वास को छोड़ना चाहिए, पुनः सूर्य नाड़ी से श्वास को खींचकर अन्दर भरकर रोकना चाहिए तथा चन्द्रनाड़ी से श्वास को रोकना चाहिए। यह अभ्यास बार–बार करने से शरीर में स्थित नाड़ियां शुद्ध होती हैं।

हठप्रदीपिका में आगे के श्लोकों में आठ प्रकार के प्राणायामों का उल्लेख किया गया है तथा इन्हें अष्टकुम्भक की संज्ञा दी गई है। प्राणायाम के अभ्यास पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि साधक को प्रातःकाल, मध्याह्न, सायं तथा अर्द्धरात्रिकाल में अर्थात दिन में चार बार प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिए तथा एक बार में साधक को 80 प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिए। इन प्राणायामों का अभ्यास करते समय यदि शरीर से

पसीना निकलने लगे तो यह प्राणायाम की प्रथम स्थिति है, यदि शरीर में कम्पन्न होने लगे तो यह प्राणायाम की मध्यम स्थिति है तथा प्राणायाम की उच्च स्थिति में प्राण का संचरण ब्रह्मरन्ध्र में होने लगता है। इन प्राणायामों के अभ्यास की सावधानियों के विषय में हठप्रदीपिका में कहा गया कि जैसे सिंह, हाथी, बाघ आदि धीरे–धीरे वश में लाये जाते हैं उसी प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से प्राण वायु को धीरे–धीरे वश में करना चाहिए क्योंकि उचित विधि से प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होता है जबकि गलत प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से वायु सम्बन्धित रोग जैसे हिचकी, दमा, खाँसी, सिर–कान और आँखों में पीड़ा तथा अन्य रोगों की उत्पत्ति होती है अतः साधक को उचित रीति से ही प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

हठ प्रदीपिका में शरीर की स्थूलता एवं शरीर में कफ की अधिकता होने पर छः शोधन क्रियाओं के अभ्यास का उपदेश करते हुए कहा गया है –

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते।।

(ह.प्र.2 /22)

अर्थात धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एवं कपालभाति ये छः शोधन क्रियाएं कहे गये हैं।

1. **धौति** – चार अंगुल चौड़े पन्द्रह हाथ लम्बे कपड़े को जल में भिगोकर गुरू के निर्देशानुसार धीरे–धीरे निगलना चाहिए तथा पुनः इसे धीरे–धीरे बाहर निकालना चाहिए। यह अभ्यास धौति क्रिया कहलाती है।

इस धौति क्रिया से खांसी, दमा, तिल्ली, कुष्ठ तथा अन्य 20 प्रकार के कफ सम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते है।

2. **बस्ति** – इस अभ्यास के लिए ऐसे स्थान का चयन करते हैं जहां नाभि पर्यन्त साफ स्वच्छ जल उपलब्ध हो। इस जल में स्थित होकर गुदा में एक नली डालकर उत्कट आसन करते हुए तथा गुदा को संकुचित करते हुए गुदा की सफाई की क्रिया बस्ति क्रिया कहलाती है। इस बस्ति क्रिया के अभ्यास से पेट में वायु को गोला बनना, तिल्ली, जलोदर, तथा वात–पित्त–कफ जन्य दोष नष्ट हो जाते हैं।

3. **नेति** – नेति क्रिया के लिए सूत्र से तैयार की हुई चिकनी तथा लम्बी रस्सी को नासिका से डालकर बाहर निकाला जाता है। इस नेति क्रिया का अभ्यास कपाल प्रदेश अर्थात मस्तिष्क को शुद्ध करता है तथा दिव्य दृष्टि प्रदान करता है।

4. **त्राटक** – दृष्टि को स्थिर करते हुए एक सूक्ष्म लक्ष्य को तब तक एकाग्रता पूर्वक देखना कि जब तक आंखों से आंसू न निकलने लगे, यह त्राटक क्रिया कहलाती है।

यह त्राटक क्रिया नेत्र रोगों को दूर करती है तथा तन्द्रा एवं आलस्य आदि को नहीं आने देती।

5. **नौलि** – इस अभ्यास के लिए खड़े होकर कंधों को थोड़ा आगे की ओर झुकाकर उदर को दाहिने से बांई ओर तथा बांये से दाई ओर घुमाना होता हैं इस नौलि क्रिया का अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त कर पाचन क्रिया को तीव्र करता है।

6. **कपालभाति** – लुहार की धौंकनी के समान तेजी से श्वास को बाहर निकालना तथा अन्दर भरने की क्रिया कपालभाति कहलाती है।

इन क्रियाओं का अभ्यास मोटापा तथा कफ सम्बन्धी रोगों का निवारण करता है। षट्कर्मो के अभ्यास से शरीर शुद्ध होने पर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

हठप्रदीपिका के इस अध्याय में सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लावनी नामक आठ प्रकार के कुम्भकों (प्राणायामों) का वर्णन करते हुए कहा गया –

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रमारी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः।।

(ह.प्र. 2/44)

1. **सूर्यभेदन** – किसी भी ध्यानात्मक आसन में स्थित होकर दाहिनी नासिका से श्वास को अन्दर भरना, भरकर रोकना तथा बाई नासिका से श्वास बाहर छोड़ देना सूर्यभेदी प्राणायाम कहलाता है।
2. **उज्जायी प्राणायाम** – मुख को बंद करते हुए दोनों नासिकाओं से वायु को मधुर ध्वनि के साथ अन्दर ग्रहण करना तथा बांयी नासिका से श्वास छोड़ना उज्जायी प्राणायाम कहलाता है।
3. **सीत्कारी प्राणायाम** – मुख से सी–सी की आवाज करते हुए वायु को अन्दर ग्रहण करना सीत्कारी प्राणायाम कहलाता है।
4. **शीतली प्राणायाम** – जीभ को दोनों ओर से मोड़कर वायु को अन्दर खींचना शीतली प्राणायाम कहलाता है।
5. **भस्त्रिका प्राणायाम** – ध्यानात्मक आसन में स्थित होकर वायु का तेजी से रेचक व पूरक करना भस्त्रिका प्राणायाम कहलाता है।
6. **भ्रामरी प्राणायाम** – ध्यानात्मक आसन में स्थित होकर भ्रमर के समान गुंजार करते हुए वायु पूरक करना भ्रामरी प्राणायाम कहलाता है।
7. **मूर्च्छा प्राणायाम** – वायु का पूरक करने के बाद अति दृढ़तापूर्वक जालन्धर बन्ध लगाना तथा धीरे–धीरे वायु का रेचक लगाना मूर्च्छा प्राणायाम कहलाता है।
8. **प्लाविनी प्राणायाम** – उदर को पर्याप्त मात्रा में वायु से भरना प्लाविनी प्राणायाम कहलाता है।

हठप्रदीपिका के इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में हठयोग की सिद्धि का वर्णन करते हुए कहा गया –

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नाद स्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽअग्निदीपनम् नाड़ी विशुद्धिर्हठसिद्धि लक्षणम्।।

(ह.प्र. 2/79)

अर्थात शरीर में हल्कापन, मुख पर प्रसन्नता, स्वर में सौष्ठव, नयनों में तेज, रोग का अभाव, जठराग्नि की प्रदिप्ति तथा नाड़ियों की विशुद्धि हठसिद्धि के लक्षण हैं।

7.3.3 तृतीय अध्याय

इस अध्याय का प्रारम्भ कुण्डलिनी के साथ होता है। हठ प्रदीपिका में कुण्डलिनी पर प्रकाश डालते हुए कहा गया कि इस कुण्डली के जगने से सभी चक्र तथा सभी ग्रन्थियां जाग्रत हो जाती हैं। इस कुण्डलिनी को जगाने के लिए योग साधक को मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए। हठप्रदीपिका में निम्नलिखित दस मुद्राओं का उल्लेख किया गया है –

1. महामुद्रा   6. मूलबन्ध मुद्रा

2. महाबन्ध मुद्रा 7. जालन्धर मुद्रा
3. महाबेध मुद्रा 8. विरीतकरणी मुद्रा
4. खेचरी मुद्रा 9. बज्रोली मुद्रा
5. उड्डीयान मुद्रा 10. शक्ति चालन मुद्रा

1. **महामुद्रा** – बांये पैर की एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाते हुए दाहिने पैर को फैलाकर उसे दोनों हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़ना तथा वायु का अन्तः कुम्भक करना महामुद्रा कहलाती है।

2. **महाबन्ध मुद्रा** – बांये पैर की ऐड़ी को सीवनी नाड़ी में लगाते हुए दाहिने पैर को बाई जंघा पर रखते हैं तथा वायु का पूरक करते हुए जालन्धर बन्ध लगाते हुए मूलबन्ध का अभ्यास करना महाबन्ध मुद्रा कहलाती है।

3. **महाबेध मुद्रा** – पूर्वविधि अनुसार महाबन्ध मुद्रा में स्थित होकर दोनों हथेलियों को अच्छी तरह जमीन में लगाकर नितम्बों को भूमि पर पटकना महाबेध मुद्रा कहलाती है।

4. **खेचरी मुद्रा** – जीभ को उल्टाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराना खेचरी मुद्रा कहलाती है।

5. **उड्डीयान मुद्रा** – उदर को नाभि के ऊपर, नीचे और पीछे की ओर खींचना उड्डीयान मुद्रा कहलाती है।

6. **मूलबन्ध मुद्रा** – एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाकर गुदा का आकुंचन करना तथा अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना मूलबन्ध मुद्रा कहलाती है।

7. **जालन्धर बन्ध मुद्रा** – कठ को संकुंचित करते हुए गर्दन को नीचे को झुकाकर ठुड्डी को दृढ़तापूर्वक नीचे से स्थापित करना जालन्धर बन्ध मुद्रा कहलाती है।

8. **विपरीतकरणी मुद्रा** – नाभि को ऊपर अर्थात सूर्यमण्डल ऊपर तथा तालु को नीचे अर्थात चन्द्रमण्डल नीचे की ओर करना विपरीतकरणी मुद्रा कहालती है।

9. **बज्रोजी मुद्रा** – योनी मण्डल का भली–भांति आकुंचन करना वज्रोजी मुद्रा कहलाती है।

10. **शक्तिचालन मुद्रा** – सोई हुई कुण्डली शक्ति को जाग्रत करने वाला अभ्यास शक्ति चालनी मुद्रा कहलाती है। इसके लिए वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के टखनों को दृढ़तापूर्वक पकड़ते हुए कन्द को जोर से दबाते हैं। यह अभ्यास शक्तिचालन मुद्रा कहलाती है। इस अध्याय में उपदेश किया गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पथ्य भोजन करते हुए जब साधक इन मुद्राओं का अभ्यास करता है तब उसकी सभी नाड़ियां शुद्ध हो जाती है तथा ऐसा योग साधक महान सिद्धियों को प्राप्त करता है। इसी उपदेश के साथ यह अध्यायपूर्ण होता है।

7.3.4 चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय का प्रारम्भ परमगुरू भगवान शिव को नमस्कार के साथ होता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में समाधि पर प्रकाश डाला गया है। समाधि पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जैसे नमक पानी में मिल जाने से एक रूप हो जाता है वैसे ही मन और आत्मा की एकरूपता समाधि कहलाती है। साधक की कुण्डलीनी शक्ति जाग्रत होने पर तथा प्राण का प्रवाह सुषुम्ना में होने पर साधक सहज रूप में समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है तथा समाधि प्राप्त साधक मोक्ष पद का अधिकारी होता है।

इस अध्याय का दूसरा मुख्य विषय नादानुसन्धान है। योगी साधक जब अपनी साधना की उच्च अवस्था को प्राप्त होता है तो वह विभिन्न नादों को सुनने में सक्षम होता है। अध्याय में नादानुसन्धान की निम्नलिखित चार अवस्थाओं का वर्णन कया गया है।

1. आरम्भावस्था 3. परिचयावस्था
2. घटावस्था 4. निष्पत्ति अवस्था

(1) आरम्भावस्था : इस अवस्था में ब्रह्मग्रन्थि के भेदन के फलस्वरूप आनन्द का अनुभव होता है। तथा झा झा रूप अनाहत शब्द सुनाई देता है।

(2) घटावस्था : इस अवस्था में योगी के आसन दृढ़ होने पर विष्णु ग्रन्थिका भेदन होता है तथा परमानन्द का सूचक भेरी एवं आघातजन्य शब्द सुनाई देते हैं।

(3) परिचयावस्था : इस अवस्था में भ्रमध्याकाश में ढोल की ध्वनि जैसा नाद सुनाई देता है।

(4) निष्पत्ति अवस्था : इस अवस्था में रूद्र ग्रन्थि का भेदन होता है तथा साधक को अच्छी तरह मिलाए हुए स्वर वाले वीणा का झंकृत शब्द सुनाई देता है।

हठप्रदीपिका के इस अध्याय में उपदेश किया गया कि साधक को इन नादों में मन लगाना चाहिए तथा इनकी सूक्ष्म से सूक्ष्मतम अवस्था को ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इन नादों में लगा हुआ चित्त शान्त अवस्था को प्राप्त होता है तथा आगे चलकर समाधि को प्राप्त करता है। इसी उपदेश के साथ यह चतुर्थ अध्याय को पूर्ण करता है।

7.3.5 पंचम अध्याय

हठप्रदीपिका का पंचम अध्याय चिकित्सा से सम्बन्ध रखता है। अध्याय में कुल 25 श्लोकों का वर्णन अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है

प्रमादी युज्यते यस्तु वातादिस्तस्य जायते।
तद्दोषस्य चिकित्सार्थं गतिर्वायोर्निरूप्यते।।

(ह.प्र. 5/1)

अर्थात जो योग साधक अभ्यास में भूल करता है उसके शरीर में वात–पित्त–कफ जन्य रोग उत्पन्न होते हैं। यहां पैर के पंजे से लेकर नाभि तक का स्थान वायु का स्थान, नाभि से लेकर हृदय तक पित्त का स्थान तथा हृदय प्रदेश से ऊपर तक कफ धातु का स्थान कहा गया है। यहाँ उपदेश किया गया है कि जब गलत मार्ग से वायु पित्त प्रदेश में जमा होता है तब विभिन्न प्रकार के दर्द उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में शरीर के अंगों में तेल मालिश करना चाहिए तथा गर्म पानी से स्नान करना चाहिए। जब वायु कफ प्रदेश में जमा होकर गांठ बनाती है तब हृदय रोग खांसी तथा श्वास रोग पैदा होते हैं ऐसी अवस्था में कुम्भक (प्राणायाम) का अभ्यास करने से ये रोग दूर होते हैं। इस अध्याय में सभी दोषों को शांति के लिए प्राणायाम के अभ्यास का उपदेश किया गया है तथा रोगों की चिकित्सा के लिए आयुर्वेद शास्त्रों के अनुसार यत्नपूर्वक चिकित्सा के उपदेश के साथ यह अध्याय पूर्ण होता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न

1. सत्य/असत्य

क. प्राणायाम का अभ्यास करते समय शरीर से पसीना निकलना मध्यम स्थिति का परिचायक है।

ख. धौति क्रिया के अभ्यास से खाँसी, दमा व कफ सम्बन्धी रोग नष्ट होते हैं।

ग. जीभ को उल्टाकर कपाल कुहर में अन्दर प्रविष्ट करना विपरितकरणी मुद्रा कहलाती है।

घ. हठप्रदीपिका में 10 मुद्राओं का उल्लेख किया गया है।

ड. सभी दोषों की शान्ति के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

2– बहुविकल्पिय प्रश्न –

क. हठप्रदीपिका में अध्यायों की कुल संख्या है –

(a) दो (b) पांच

(c) आठ (d) दस

ख . हठप्रदीपिका में सर्वप्रथम किस अंग का उल्लेख किया गया है –

(a) षटकर्म (b) प्राणायाम

(c) आसन (d) नादानुसन्धान

ग . योग साधक के लिए अपथ्य भोजन है –

(a) मधु (b) चावल

(c) सरसों (d) चौलाई

घ . हठप्रदीपिका के अनुसार कफ सम्बन्धी रोगों में किस षटकर्म का अभ्यास शीघ्र लाभ प्रदान करता है –

(a) धौति कर्म (b) बस्ति कर्म

(c) नौलि कर्म (d) त्राटक कर्म

ड . हठप्रदीपिका में नादानुसन्धान की कितनी अवस्थाओं का वर्णन किया गया है

(a) दो (b) चार

(c) पांच (d) दस

7.4 सारांश

हठप्रदीपिका में आसन, प्रणायाम, षट्कर्म, मुद्रा, नादानुसंधान का वर्णन किया गया है तथा योग साधक द्वारा इन सभी के अभ्यास का उपदेश किया गया है। इस ग्रन्थ में इन सभी की विधि एवं लाभों पर प्रकाश डाला गया है। यह हठयोग का एक अत्यन्त प्रमाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम 15 महत्वपूर्ण आसनों का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्याय में अष्ट कुम्भकों का वर्णन तथा षटकर्मों पर प्रकाश डाला गया है। हठप्रदीपिका का तृतीय अध्याय मुद्राओं से सम्बन्धित है जिसमें दस लाभकारी मुद्राओं की विधि का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय का प्रमुख विषय नाद एवं नादानुसन्धान है इस ग्रन्थ में प्राण तत्व की साधना पर विशेष बल दिया गया है तथा प्राण के सुषुम्ना नाड़ी में संचरण होने पर इसके द्वारा चक्र भेदन का उपदेश किया गया है। ऐसे साधक को नाद सुनाई देने लगते हैं जिनका वर्णन इस चतुर्थ अध्याय में किया गया है। इस अध्याय में नादानुसन्धान की चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। हठप्रदीपिका का पंचम अध्याय चिकित्सा से सम्बन्धित है जिसमें यौगिक चिकित्सा का उपदेश किया गया है।

7.5 शब्दावली

लघुता – हल्कापन

भूमध्य दृष्टि – दोनों भोहों के मध्य दृष्टि रखना
सुस्निग्ध– चिकनाई युक्त
मधुर – मीठा
कुम्भक – श्वास को भरकर रोकना

7.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क .	असत्य	क . b
ख .	सत्य	ख . c
ग .	असत्य	ग . d
घ .	सत्य	घ . a
ड .	सत्य	ड . b

7.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

हठप्रदीपिका – स्वात्मारामकृत – स्वामी दिगम्बर जी, डा. पीताम्बर झा, कैवल्यधाम श्रीमन्माध्व योग मन्दिर समिति, लोनावाला, पुणे।

7.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. हठप्रदीपिका की विषय वस्तु को सविस्तार समझाइये।
2. हठप्रदीपिका के अनुसार षट्कर्मो पर प्रकाश डालिए।
3. हठप्रदीपिका में वर्णित आसनों को समझाइये।
4. हठप्रदीपिका में वर्णित मुद्राओं को लिखिए।

इकाई 8 – घेरण्ड संहिता

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 घेरण्ड संहिता के अध्याय

8.3.1 प्रथम अध्याय

3.3.2 द्वितीय अध्याय

3.3.3 तृतीय अध्याय

3.3.4 चतुर्थ अध्याय

3.3.5 पंचम अध्याय

3.3.6 षष्ट अध्याय

3.3.7 सप्तम अध्याय

8.4 सारांश

8.5 शब्दावली

8.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.8 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, पूर्व में इकाई आपने हठ प्रदीपिका का अध्ययन किया जिसमे हठयोग के स्वरूप का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ घेरण्ड संहिता में भी हठयोग के स्वरूप का वर्णन किया गया है। घेरण्ड संहिता एवं हठयोग प्रदीपिका दोनों हठयोग के महत्वपूर्ण ग्रन्थ है इस ग्रन्थ में महर्षि घेरण्ड द्वारा दी गयी योग शिक्षा का वर्णन आता है। इसी कारण इस ग्रन्थ को महर्षि घेरण्ड की योग शिक्षा के नाम से भी जाना जाता है।

घेरण्ड संहिता मे हठ योग के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष का बहुत सुस्पष्ठ रूप में वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ को सात अध्यायों में सूचिबद्ध किया गया है। इन अध्यायों को महर्षि घेरण्ड प्रकरण की संज्ञा देते हैं। महर्षि घेरण्ड इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय का प्रारम्भ षटकर्म से करते हैं। इस ग्रन्थ का साँतवा अध्याय समाधि पर पूर्ण होता है। इन सात प्रकरणों को सप्तसाधन की संज्ञा भी दी गयी है महर्षि घेरण्ड शरीर को घट की संज्ञा देते

हुए घेरण्ड संहिता में वर्णित योग को घटस्थ योग भी कहते है। जिसका वर्णन इस प्रकार है –

8.2 उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- घेरण्ड संहिता का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- घेरण्ड संहिता को विश्लेषित करने में सक्षम हो सकेगे
- घेरण्ड संहिता के अनुसार हठयोग को समझाने में सक्ष्म हो सकेंगे।
- हठ योग के विषय में बता समझा सकेंगे ।
- घेरण्ड संहिता के अनुसार हठयोग के सप्त साधनों को श्रेणीबद्ध कर सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई में दिए प्रश्नों का उत्तर देने में सक्ष्म ही सकेंगे।

8.3 घेरण्ड संहिता के अध्याय

घेरण्ड संहिता का प्रारम्भ योगाभ्यास के लिए जिज्ञासा रखने वाले राजा चण्डकपालि नामक शिष्य के महर्षि घेरण्ड की कुटि में प्रवेश से होता है। राजा चण्डकपालि महर्षि घेरण्ड से विनय एवं भक्तिपूर्वक प्रणाम करके घटस्थ योग को जानने की इच्छा करते है इसके उत्तर मे महर्षि घेरण्ड मानव शरीर को कच्चे घड़े की संज्ञा देते हुए समझाते है कि यदि इस शरीर रूपी घड़े को योग रूपी अग्नि में तपा दिया जाए तो वह परिपक्व हो जाता है। घेरण्ड संहिता में इस शरीर को परिपक्व बनाने के लिए महर्षि घेरण्ड हठयोग के सप्तांग का वर्णन करते हुए कहते हैं–

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशय।।
(घेरण्ड संहिता 1/10.11)

अर्थात षट्कर्मो से शरीर शुद्धि, आसनों से दृढ़ता ,मुद्राओं से स्थिरता, प्रत्याहार से धैर्य , प्राणायाम से स्फूर्ति या हल्कापन, ध्यान से आत्मसाक्षात्कार और समाधि से र्निलिप्ता के भावों के साथ ऐसे साधक की मुक्ति में कोई संशय नही रहता। इन अभ्यासों का वर्णन घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड व्यवस्थित रूप में करते हैं। संक्षेप मे इनका वर्णन इस प्रकार है –

8.3.1 प्रथम अध्याय शुद्धिकरण प्रकरण :– इस अध्याय का मुख्य विषय शुद्धिकरण है। इस अध्याय मे श्लोकों की कुल संख्या 60 है तथा इस अध्याय में शरीर शुद्धिकरण करने वाले 6 क्रियाओं, धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक और कपालभाति का उल्लेख किया गया है। इन छः कर्मो को सम्मिलित रूप से षटकर्मो की संज्ञा देते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं–

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिः लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्।। (घेरण्ड संहिता 1/2)

अर्थात् धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक एवं कपालभाति इन छह कर्मो का आचरण योगी के लिए आवश्यक है।

घेरण्ड संहिता मे प्रथम षट्कर्म के रूप मे धौतिकर्म का वर्णन किया गया है। इस धौति कर्म को अन्तर्धौति , दन्तधौति, हृद्धधौतिएवं मूलशोधन के रूप में विभाजित किया गया है। अन्तधौति के पुनः चार प्रकार वातसार, वारिसार, वह्निसार और बहिष्कृत करते हुए इनके द्वारा शरीर को निर्मल बनाने का उपदेश घेरण्ड संहिता में दिया गया है। दन्तधौति के पाँच भेदों–दन्तल जिहवा शोधन, कर्णरन्ध और कपाल रन्ध्र का तथा हृद्धधौति के तीन भेदों दण्डधौति, वमनधौति, और वस्त्र धौति का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है।

अध्याय में आगे षट्कर्म के दूसरे कर्म वस्तिकर्म के दो भेदों जलवस्ति एवं शुष्कवस्ति का वर्णन करते हुए जलवस्ति का अभ्यास जल में तथा शुष्कवस्ति का अभ्यास स्थल में करने के निर्दश घेरण्ड संहिता में दिये गये है। वस्ति का अभ्यास पेट सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला तथा जठाराग्नि को बढ़ाने वाला बताया गया है। षट्कर्मो मे शुद्धिकरण की तीसरी प्रक्रिया के अन्तर्गत नेति क्रिया का उल्लेख किया गया है। इसके अन्तर्गत सूत्रनेति की विधि एवं लाभों का वर्णन किया गया है। नेतिकर्म का अभ्यास कफदोष की निवृत्ति एवं दिव्य दृष्टि प्रदान करने वाला कहा गया है।

घेरण्ड संहिता में शुद्धिकरण की चौथी क्रिया के रूप में नैलिकर्म का उल्लेख किया गया है। इस नौलिकर्म में उदर को दोनों पार्श्वो में अत्यन्त वेग पूर्वक घूमाना होता है। यह नौलिकर्म सब रोगों का नाशक और जठराग्नि उदीपक है। घेरण्ड संहिता में शुद्धिकरण की पाँचवी क्रिया के रूप में त्राटक कर्म का वर्णन आता है। जिसमें किसी सूक्ष्म लक्ष्य की ओर टकटकी लगाकर देखते रहते है। इसके अभ्यास से नेत्र दोषों का निवारण एवं दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है। जबकि छटी क्रिया के रूप में कपालभाति का वर्णन किया गया है जिसका साधन करने करने से शरीर के कफदोष का निवारण होता है।

8.3.2 द्वितीय अध्याय – योगासन प्रकरण :– जिज्ञासु छात्रों प्रथम अध्याय में वर्णित शोधन क्रियाओं को जानने के उपरान्त अब आपकी जिज्ञासा घेरण्ड संहिता के द्वितीय अध्याय को जानने के लिए अवश्य ही बढ़ गयी होगी। इस अध्याय का मुख्य विषय योगासन है, इस अध्याय में श्लोकों की कुल संख्या 45 है।

अध्याय के प्रारम्भ में ही महर्षि घेरण्ड कहते है कि संसार में जितने जीव जन्तु है उतनी ही संख्या आसनों की है अर्थात 84 लाख योनियों के आधार पर आसनों की संख्या भी 84 लाख ही है, परन्तु इन 84 लाख आसनों में 84 आसन तथा 84 आसनों में भी 32 आसन अति विशिष्ट है, महर्षि घेरण्ड इस प्रकरण में योगासनों का वर्णन करते हुए कहते हैं–

सिद्धं पदमं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ।।
मृतं गुप्तं तथा मात्स्यं मत्स्येन्द्रायनमेव च।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानमुत्कटं सकटं तथा।।
मयूरं कुक्कुटं कूर्म तथा चोत्तानकूर्मकम्।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डुकं गरुडं वृषम्।।
शलभं मकरं चोष्टं भुजगं योगामासनम्।
द्वात्रिंशदासनान्येव मर्त्ये यिद्धिप्रदायनी च।।

(घेरण्ड संहिता 2/3-6)

अर्थात इस मृत्युलोक में जहां प्रत्येक मानव की मृत्यु अनिवार्य है, सिद्धि के लिये ये 32 आसन प्र्याप्त हैं–

सिद्धासन	पदमासन	भद्रासन	मुक्तासन
वज्रासन	स्वास्तिकासन	सिंहासन	गोमुखासन
वीरासन	धनुरासन	मृतासन (शवासन)	गुप्तासन
मत्स्यासन	मत्स्पेन्द्रासन	गोरक्षासन	पशिचिमोत्तानासन
उत्कट आसन	संकट आसन	मयूरासन	कुक्कुटासन
कूर्मासन	उन्ताानकूर्मासन	मण्डकूासन	उन्तानमण्डूकासन
वृक्षासन	गरूडासन	वृषासन	शलभासन
मकरासन	उष्ट्रासन	भुजगासन	योगासन।

इस अध्याय में महर्षि घेरण्ड द्वारा उपरोक्त बत्तीस आसनों की विधि को सविस्तार समझाया गया है तथा इन आसनों से होने वाले लाभों पर भी प्रकाश डाला गया है।

8.3.3 तृतीय अध्याय – मुद्रा एवं बन्ध प्रकरण

घेरण्ड संहिता के इस अध्याय का यह श्लोकों की संख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा अध्याय है। इस अध्याय में श्लोकों की कुल संख्या 100 है। इस अध्याय का मुख्य विषय मुद्रा है। अध्याय के प्रारम्भ में महर्षि घेरण्ड राजा चण्डकपालि को निम्नलिखित 25 मुद्राओं का उपदेश करते हुए कहते हैं–

महामुद्रा नभोमुद्रा उडडीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महाबेधश्च खेचरी।1।
विपरीतकरी योनिर्वज्रोणि शक्तिचालनी।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पच्चधारणा।2।
अश्विनी पाशिनी काकी मातडगी च भुजडिगनी।
पच्चविंशतिमुद्राश्च सिद्धिदा इह योगिनाम्।3।

(घेरण्ड संहिता 3/1-3)

महामुद्रा , नभोमुद्रा , उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध , मूलबन्ध , महाबन्ध , महाबेध मुद्रा , खेचरी मुद्रा , विपरितकरणी मुद्रा , योनिमुद्र , वज्रोणि मुद्रा , शक्तिचालिनी मुद्रा , तडागी मुद्रा , शाम्भवी मुद्रा , पार्थिवी धारणा , आम्भसी धारणा , आग्नेयी धारणा , वायवीय धारणा , आकाशी धारणा , अश्विनी धारणा , पाशिनी , काकी , मातडंगी और भुजडिगनी मुद्रा।

महर्षि घेरण्ड इन पच्चीस मुद्राओं को योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाली कहते हैं। अर्थात इन मुद्राओं के अभ्यास से योगीजन साधना में सिद्धि प्राप्त करते हैं। आगे श्लोकों के माध्यम से महर्षि घेरण्ड उपरोक्त सभी मुद्राओं की विधि एवं लाभों का वर्णन करते है। इसके साथ–साथ मुद्राओं की सावधानियों को भी महर्षि घेरण्ड द्वारा वर्णित किया गया है। इस अध्याय में पहले मूलबन्ध मुद्रा, जालन्धर बन्ध मुद्रा, उड्डियान बन्ध मुद्रा तथा तीनों बन्धों का प्रयोग कर महाबन्ध मुद्रा की विधि एवं लाभों का वर्णन किया गया है। अध्याय में आगे पाँच धारणाओं पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवीय धारणा तथा आकाशी धारणा का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात 16 मुद्राओं–महामुद्रा नभोमुद्रा, खेचरी मुद्रा, महावेध मुद्रा, विपरीत करणी मुद्रा, योनि मुद्रा, वज्रोणी मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, तडागी मुद्रा,

माण्डुकी मुद्रा, अश्विनी मुद्रा, पाश्निी मुद्रा, काकी मुद्रा मातडीग्नी मुद्रा तथा भुजडिगनी मुद्रा की विधि, लाभ एवं सावधानियों का उल्लेख किया गया है।

अध्याय के अन्त में उपसंहार के रूप में महर्षि घेरण्ड राजा चण्डकपालि से कहते है कि अभी तक जितनी मुद्राओं के विषय में मैंने बतलाया है ये सभी इच्छाओं की पूर्ति करती है। जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु को दूर रखती है तथा इन मुद्राओं के अभ्यास से भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है परन्तु यहाँ पर महर्षि घेरण्ड सावधानी के रूप में राजा को यह उपदेश करते है कि दुष्ट एवं अयोग्य व्यक्ति को इन मुद्राओं की शिक्षा नहीं देनी चाहिए।

8.3.4 चतुर्थ अध्याय – प्रत्याहार प्रकरण–प्रस्तुत अध्याय में महर्षि घेरण्ड प्रत्याहार की शिक्षा का उपदेश राजा चण्डकपालि को देते हैं। श्लोकों की संख्या के दृष्टिकोण से यह सबसे छोटा अध्याय है, जिसमें श्लोकों की कूल संख्या 5 है। महर्षि घेरण्ड कहते हैं–

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम्।।
यतो यतो निश्चरति मनश्चचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।
पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं वा भयानकम् ।
मनस्तमात्रियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।

(घेरण्ड संहिता 4/1-3)

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि अब मैं प्रत्याहार का वर्णन करता हूँ इसका पालन कामादि शत्रुओं का नाश करता है। इसे परिभाषित करते हुए महर्षि घेरण्ड कहते है कि जहाँ–जहाँ चंचल मन विचरण करें, उसे वहाँ से लौटाने का प्रयत्न करते हुए आत्मा को वश में करें।

सुगन्धे वाऽपि दुर्गन्धे मनो घ्राणेषु जायते।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्।4।
मधुराम्लकतिक्तादिरसं गतं यदा मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्।5।

(घेरण्ड संहिता 4/4-5)

अर्थात सुगन्ध और दुर्गन्ध से मन को हटा लें। अर्थात बाह्य विषयों से मन का सम्बन्ध हटा लें। घेरण्ड संहिता में मन को आत्मा के वशीभूत करना ही प्रत्याहार कहा गया है।

पूर्व के अध्यायों में महर्षि घेरण्ड शारीरिक स्वच्छता, शुद्धि एवं बल पर उपदेश करते है जबकि इस अध्याय में महर्षि घेरण्ड मानसिक पक्ष पर प्रकाश डालते है। प्रत्याहार का प्रभाव साधक के मानसिक स्तर पर पड़ता है। ग्रन्थ के इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में महर्षि घेरण्ड लिखते है योग साधक को चाहिए कि वह मन को मधुर, अम्ल, तिक्त आदि रसों से हटा कर आत्मा को वश में करें। क्योंकि मन को बाह्य विषयों से हटाकर आत्मा को वश में करना ही प्रत्याहार है।

अभ्यास हेतु प्रश्न

प्रश्न क– महर्षि घेरण्ड मानव शरीर को किसकी संज्ञा देते है :–

(a) मिट्टी की (b) जल की

(c) अग्नि की (d) घड़े की

प्रश्न ख– घेरण्ड संहिता के प्रथम अध्याय का मुख्य विषय है :–

(a) दृढता (b) शोधन

(c) एकाग्रता (d) स्थिरता

प्रश्न ग– घेरण्ड संहिता में वस्ति कर्म के कितने भेद किये गये है :–

(a) दो (b) पाँच

(c) सात (d) आठ

प्रश्न घ –श्लोकों की संख्या के दृष्टिकोण में घेरण्ड संहिता का सबसे बड़ा अध्याय है :–

(a) प्रथम अध्याय (b) तृतीय अध्याय

(c) पंचमअध्याय (d) सप्तम अध्याय

प्रश्न ड –घेरण्ड संहिता में वर्णित मुद्राओं की संख्या है :–

(a) 10 (b) 20

(c) 25 (d) 32

प्रश्न च– घेरण्ड संहिता में वर्णित आसनों की संख्या है :–

(a) 10 (b) 20

(c) 25 (d) 32

8.3.5 पंचम अध्याय प्राणायाम प्रकरण– इस अध्याय का मुख्य विषय प्राणायाम है। अध्याय में कुल श्लोकों की संख्या 98 है तथा अध्याय के प्रारम्भ में ही महर्षि घेरण्ड प्राणायाम के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि प्राणायाम का साधन करने से मनुष्य देवता के समान हो जाता है। योगाभ्यास करने के लिए अच्छे स्थान एवं समय का चयन भी अनिवार्य होता है। यहाँ पर महर्षि घेरण्ड उपदेश करते हैं कि दूर देश में, अरण्य में तथा राजधानी मे, बैठकर योगाभ्यास नहीं करना चाहियें। दूर देश से अर्थ अविश्वास युक्त स्थान से, अरण्य से अर्थ पूर्ण रुप से निर्जन स्थान से , राजधानी से अर्थ अधिक भीड–भाड युक्त क्षेत्र से होता है। इन स्थानों पर योगाभ्यास उचित नही हैं बल्कि योगाभ्यास के उचित स्थान पर प्रकाश डालते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं–

सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
कृत्वा तत्रैकं कुटीरं प्राचीरैः परिवेष्टितम्।।
वापी कूपतडागं च प्राचीर मध्यवर्ति च ।
नात्युच्चं नातिनिम्नं च कुटीरं कीटवर्जितम् ।।

(घेरण्ड संहिता 5/5-6)

अर्थात सुन्दर धार्मिक स्थान, जहाँ भोजन के लिए खाद्य पदार्थ सहजता से उपलब्ध हों और वहाँ किसी प्रकार के उपद्रव न हो और कुटिया के चारो ओर चहारदीवारी हो, अर्थात घेरे के भीतर जल प्राप्ति के लिये कुए एवं पोखर की व्यवस्था हो ऐसा स्थान को योगाभ्यास के लिए उपयुक्त होता है

यहां पर योगाभ्यास प्रारम्भ करने के लिए उचित ऋतुओं पर प्रकाश डालते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं–

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा ।

योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगो हि रोगदः ।।
वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत् ।
तदा योगी भवेत्सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ।।
(घेरण्ड संहिता 5/8-9)

अर्थात हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु मे योगाभ्यास शुरु नही करना चाहिए। इनमे करने से यह अभ्यास रोग प्रदायक हो जाता है। बसन्त और शरद् ऋतु में अभ्यास शुरु करना उचित है। इनमें योगाभ्यास प्रारम्भ करने से साधक को सिद्धि प्राप्त होती है और रोगों से निवृत्ति होती है।

योगाभ्यासी साधक के लिए पथ्य, अपथ्य, अर्थात क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए का वर्णन इसी अध्याय में करते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि योग साधक को चावल, जौ का सत्तू, गेहूँ का आटा, मूँग, उडद, चना आदि को भूसी रहित, स्वच्छ करके भोजन करना चाहिए। परवल, कटहल, ओल, मानकन्द, कंकोल, करेला, कुन्दरू, अरवी, ककडी, केला, गुलर और चौलाई आदि का शाक भक्षण करें। कच्चे या पक्के केले के गुच्छे का दण्ड और उसका मूल, बैंगन, ऋद्धि, कच्चा शाक, ऋतु का शाक, परवल के पत्ते, बथुआ और हुरहुर का शाक खा सकता है। उसे स्वच्छ, सुमधुर, स्निग्ध और सुरस द्रव्य से सन्तोषपूर्वक आधा पेट भरना और आधा खाली रखना चाहिए। यही मिताहार कहलाता है।

घेरण्ड संहिता के इस पांचवे अध्याय में आगे प्राणायाम को वर्णित किया गया है। प्राणायाम के अभ्यास से पूर्व नाड़ी शुद्धि के लिए नाड़ी शुद्धि प्राणायाम का उल्लेख भी महर्षि घेरण्ड करते है। तत्पश्चात् प्राणायाम को कुम्भक की संज्ञा देते हुए अष्ठ कुम्भकों का वर्णन करते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं–

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जयी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः।।
(घेरण्ड संहिता 5/46)

अर्थात सहित, सूर्य भेदी, उज्जयी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा केवली नाम से कुम्भक (प्राणायाम) के आठ भेद होते हैं। अध्याय में आगे इन प्राणायामों की विधि एवं लाभों पर प्रकाश डाला गया है।

8.3.6 षष्ट अध्याय ध्यान प्रकरण–घेरण्ड संहिता के इस अध्याय का मुख्य विषय ध्यान है, जिसमें श्लोकों की कुल संख्या 22 है। इस अध्याय में महर्षि घेरण्ड राजा चण्डकपालि को ध्यान का उपदेश करते हुए कहते हैं–

स्थूलं ज्योतिस्थासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्मं, विन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता।।

(घेरण्ड संहिता 6/1)

अर्थात स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान के भेद से ध्यान तीन प्रकार का होता है। स्थूल ध्यान वह कहलाता है, जिसमे मूर्तिमय इष्टदेव का ध्यान हो, ज्योतिर्मय ध्यान वह है, जिसमें तेजोमय ज्योतिरूप ब्रह्म का चिन्तन हो तथा सूक्ष्म ध्यान उसे कहते हैं, जिसमें बिन्दुमय ब्रह्म कुण्डलिनी शक्ति का चिन्तन किया जाय।

इस प्रकार महर्षि घेरण्ड तीन प्रकारों का उपदेश करते है। इन तीन प्रकारों में सबसे पहले प्रकार के रुप में स्थूल ध्यान का उल्लेख किया गया है। इसमें शरीर में स्थित चक्रों पर स्थूल रूप में ध्यान करने का उपदेश किया गया है। ध्यान के दूसरे रूप में ज्योति ध्यान का उपदेश किया गया है। जिसमें एक ज्वालायुक्त ज्योति का ध्यान का वर्णन है। ध्यान की उच्च अवस्था में सूक्ष्म ध्यान का उपदेश महर्षि घेरण्ड द्वारा इस अध्याय में किया गया है तथा समझाया गया है कि स्थूल ध्यान से ज्योति ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ तथा ज्योति ध्यान से सूक्ष्म ध्यान लाख गुना विशिष्ट है। इसके माध्यम से योगीजनों में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है।

8.3.7 सप्तम अध्याय समाधि प्रकरण– इस अध्याय का मुख्य विषय समाधि है तथ अध्याय में कुल श्लोकों की संख्या 23 है। इस अध्याय में महर्षि घेरण्ड समाधि के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि जो गुरू भक्त है और जिन पर गुरू की कृपा है वे बड़े भाग्य से समाधि को प्राप्त होते है। समाधि को समझाते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरुपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान्।।

(घेरण्ड संहिता 7/4)

अर्थात शरीर से मन को भिन्न करके परमात्मा में लगा देने से योगी ही समाधि है। शोक युक्त भावों के स्थान पर आनन्द स्वरूप और मुक्त स्वरूप भाव ही समाधि है। अध्याय में महर्षि घेरण्ड समाधि के छः भेदों पर भी प्रकाश डालते हैं। महर्षि घेरण्ड ध्यानयोग, नादयोग, रसानन्दयोग, लयसिद्धियोग, भक्तियोग और राजयोग सामाधि का उल्लेख करते है तथा समाधि के महत्व को एक बार पुनः प्रकाशित करते हुए कहते है कि यह दुर्लभ है परन्तु इसे जान लेने के उपरान्त पुनः जन्म नहीं होता।

अभ्यास हेतु प्रश्न–1. सत्य/असत्य

(क) घेरण्ड संहिता के अनुसार बसन्त और शरद् ऋतु में योगाभ्यास प्रारम्भ करना उचित है।
(ख) घेरण्ड संहिता में पांच कुम्भकों का वर्णन किया गया है।
(ग) घेरण्ड संहिता के अनुसार स्थूल ध्यान से ज्योति ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ है।
(घ) घेरण्ड संहिता के पांचवे अध्याय में प्राणायाम को वर्णित किया गया है।
(ङ) महर्षि घेरण्ड के अनुसार दुष्ट एवं अयोग्य व्यक्ति को मुद्राओं की शिक्षा देनी चाहिए।
(च) घेरण्ड संहिता के अनुसार शोक युक्त भावों के स्थान पर आनन्द स्वरूप और मुक्त स्वरूप भाव ही समाधि है।

8.4 सारांश

घेरण्ड संहिता महर्षि घेरण्ड द्वारा राजा चण्डकपालि को दिये गये उपदेशों का अत्यन्त रोचक, ज्ञानवान, सरल एवं सुव्यवस्थित संकलन है। राजा चण्डकपालि एक जिज्ञासु भक्त के रुप में महर्षि घेरण्ड से योग की शिक्षा ग्रहण करते हैं। इस ग्रन्थ में हठ योग के सात साधनों को एक एक अध्याय के रूप में बांटकर समझाया गया है। इन अध्यायों का विषय के आधार पर नामकरण किया गया है तथा सम्बन्धित विषय पर स्पष्ट रूप में प्रकाश डाला गया है। उस विषय को समझाने के उपरान्त विषय से प्राप्त होने वाले लाभों को भी समझाया गया है।

वर्तमान समय में हठयोग की उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ी है। इसका कारण यह है कि वातावरण से भिन्न–भिन्न प्रकार के दूषित पदार्थ मनुष्य के स्थूल शरीर में जाकर भिन्न–भिन्न शारीरिक रोगों को उत्पन्न कर रहे हैं साथ ही साथ व्यक्ति की बर्हिमुखी मानसिकता एवं मन की चंचलता अनेंक मानसिक रोगों को जन्म दे रही है। ऐसी स्थिति में जब चारों तरफ शारीरिक और मानसिक रोगों की बाढ़ सी आयी है, इस ग्रन्थ की उपयोगिता बहुत बढ जाती है क्योंकि इस ग्रन्थ में दिये गये उपदेशों को जानकर जीवन में अनुकरण करने से मनुष्य सभी शारीरिक एवं मानसिक रोगों से मुक्त रहता हुआ परम तत्व को प्राप्त करता है, जो इस मानव जीवन मूल उद्देश्य भी है।

8.5 शब्दावली

शोधन	=	शुद्धिकरण
पथ्य	=	खाने योग्य
अपथ्य	=	जो खाने योग्य न हो
निवृत्ति	=	छोड़ना
निवारण	=	मुक्त होना
जरा	=	बुढ़ापा
कुम्भक	=	श्वास को रोकना

8.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय प्रश्न		**रिक्त स्थानों की पूर्ति**	
क.	d	क.	सत्य
ख.	b	ख.	असत्य
ग.	a	ग.	सत्य
घ.	b	घ.	सत्य
ड.	c	ड.	असत्य
च.	d	च.	सत्य

8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

घेरण्ड संहिता – स्वामी सत्यानन्द सरस्वती , योग पब्लिकेशन टस्ट, मुंगेर, बिहार।

8.8 निबन्धात्मक प्रश्न

(i) घेरण्ड संहिता पर विस्तृत निबन्ध लिखिए।

(ii) घेरण्ड संहिता में वर्णित षट्कर्मो को समझाइये।

(iii) घेरण्ड संहिता के अनुसार आसन को समझाते हुए, इसमें वर्णित आसनों के नाम लिखिए।

(iv) घेरण्ड संहिता के अनुसार समाधि को समझाते हुए, इसमें वर्णित समाधि के भेदों का वर्णन किजिए।

इकाई 9 महर्षि पतंजलि एवं गोरक्षनाथ का जीवन परिचय

9.1 : प्रस्तावना
9.2 : उद्देश्य
9.3 : महर्षि पतंजलि का जीवन परिचय
  9.3.1 : जन्म समय एवं काल
  9.3.2 : पतंजलि के जन्म से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण तथ्य
  9.3.3 : पतंजलि का व्यक्तित्व
  9.3.4 : पतंजलि का कृतित्व
9.4 : गोरक्षनाथ का जीवन परिचय
  9.4.1 : जन्मसमय व स्थान
  9.4.2 : गोरक्षनाथ की परंपरा
  9.4.3 : गोरक्षनाथ का योग मार्ग
9.5 : सारांश
9.6 : पारिभाषिक शब्दावली
9.7 : अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.8 : सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.9 : सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.10 : निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

योग के विषय में चल रही चर्चाओं में आपने कभी–कभी कुछ पारम्परिक विचारकों, ऋषियों, सिद्धों एवं चिन्तकों के नाम सुने होंगे। उन्हीं में से सबसे प्रासंगिक हैं, पतंजलि और दूसरे गोरक्षनाथ। इन दोनों ही योगियों के नाम आप यदा–कदा सुनते आये होंगे। क्या आपको पता है, कि इन योगियों को किन कृतियों और उपलब्धियों के कारण हम जानते हैं ? क्या, आप यह भी जानते हैं, कि इनके विषय पर कितना विस्तृत कार्य किया जा रहा है ? शायद नहीं। चलिए आपको इनके विषय पर कुछ जानकारी उपलब्ध कराने का प्रयत्न करते है, जिसके माध्यम से आप इन प्रसिद्ध व्यक्तित्वों के कृतित्व को जान सकें और साथ ही योग साधना और दर्शन में इनके महत्व को जान सकें।

इस इकाई की चर्चा में हम प्रयास करेंगे कि आप लोगों तक महर्षि पतंजलि ओर योगी गोरक्षनाथ के योग के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान को स्पष्ट कर सकें। प्रायः आप इनके नामों से पहले भी परिचित होंगे। यूँ तो आपने योग के क्षेत्र में पतंजलि का नाम अक्सर सुना ही होगा। इन्हें हम मूल रूप से अष्टांग योग के प्रणेता के रूप में जानते हैं। इनका संबंध योग की उस परम्परा से जोड़ा जाता है, जिसको ध्यान आदि विषयों के माध्यम से जानने का प्रयास करते हैं। वह परम्परा कहलाती है, राजयोग। राजयोग पतंजलि के द्वारा बतायी गयी वह प्रणाली है, जिसके माध्यम से हम अपने मन ओर इन्द्रियों को

नियंत्रित कर विधिवत रूप से आत्म–साक्षात्कार करते हैं। इसकी पूरी प्रक्रिया हम पतंजलि के द्वारा संग्रहित ग्रन्थ योगसूत्र में देखते है। इस प्रकार योग की इस अति प्रचीन एवं सर्वत्र प्रचलित पद्धति को हम पातंजल योग के नाम भी जानते हैं।

ठीक उसी प्रकार से गोरक्षनाथ का भी संबंध योग की एक ऐसी विद्या से है, जो आज देश विदेश में प्रचलित हो चुकी है। और जिसमें तरह–तरह के परिवर्तन कर लोगों ने योग के द्वारा मन और शरीर की लगभग सभी विकृतियों को ठीक करने का प्रयास किया है। आप सभी जानते होंगे कि शरीर को विभिन्न स्थितियों में रखना आसन कहलाता है। इसका सबसे अधिक प्रचलन गोरक्षनाथ की इसी विद्या के कारण संभव हुआ। गोरक्षनाथ की इस यौगिक विद्या को हम हठयोग के नाम से जानते हैं। यह वही हठयोग है। जिसके द्वारा आज बहुत से असाध्य रोगों की चिकित्सा सम्भव हो पायी है। इसका सारा श्रेय गोरक्षनाथ को ही जाता है। उनके द्वारा विकसित यह प्रचीन पद्धति आज विश्व के कोने कोने में फैल चुकी है, और लोगों को स्वस्थ जीवन का मार्ग दिखा रही है।

तो, इस प्रकार आप समझ गए होंगे कि उक्त इकाई के माध्यम से हम योग के दो महान प्रणेताओं के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। जहाँ एक ओर मन को नियंत्रित करके समाधि तक पहुँचाने वाले पतंजलि है, तो वहीं दूसरी ओर शरीर को स्वस्थ्य एवं स्थिर कर आत्म तत्व का साक्षात्कार कराने वाले योगी गोरक्षनाथ। दोनों की अपनी अपनी योग विद्याएँ है। जिनका योग के क्षेत्र में बड़ा महत्व है। प्रस्तुत इकाई में हम इनका विस्तृत अध्ययन करने का प्रयास करेंगे।

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- भारत की प्राचीन योग परम्परा के अनुसार योगसूत्र के प्रणेता पतंजलि और हठयोग के प्रमुख गुरु गोरक्षनाथ के जीवन परिचय को भली भांति समझ सकेंगे।
- सबसे प्राचीन योग परम्परा के सूत्रपात की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अवलोकन कर सकेंगे।
- प्रसिद्ध योग ग्रन्थ – पातंजल योगसूत्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विस्तृत ज्ञान अर्जित कर सकेंगे।
- भारत की ग्रामीण संस्कृति से लेकर विकसित सभ्यताओं तक प्रसिद्ध योगी गोरक्षनाथ के जीवन का विस्तृत अवलोकन कर सकेंगे।
- हठयोग परम्परा के शुरुआती विकास की प्रक्रिया जान सकेंगे।

9.3 महर्षि पतंजलि का जीवन परिचय :

आइए योग के प्राचीनतम संग्रहकर्ता और योग को व्यवस्थित क्रम में लाने वाले पहले व्यक्ति पतंजलि के जीवन पर कुछ प्रकाश डालते है। यहाँ हम पहले ही यह बता देना उचित समझते हैं, कि पतंजलि के विषय में

उपलब्ध सामग्री लगभग ना के बराबर है। उनके विषय में बहुत कम विवरण हमें उपलब्ध ग्रन्थों में मिलता हैं, उनका जीवन परिचय तो बड़ा ही संशय ग्रस्त विषय है, क्योंकि विभिन्न विद्वान उनके जीवन परिचय को लेकर एकमत नहीं हैं। इसकी यह वजह है, कि ऐतिहासिक दृष्टि से पतंजलि के विषय में कुछ भी स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। फिर भी हम यहाँ कोशिश करेंगे कि आप तक सबसे स्पष्ट तथ्यों को पहुँचें ताकि आप पतंजलि के यौगिक जीवन का महत्वपूर्ण भाग जान सकें और उसके माध्यम से योग शास्त्र को और भी रोचक ढंग से जान सकें।

9.3.1 : जन्म समय एवं काल–जैसा कि हम आपको पहले भी बता चुके हैं, कि पतंजलि के काल एवं जन्म समय के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। उनके जन्म समय के विषय में उपलब्ध सारी सामाग्री स्पष्ट न होने कारण किंवदन्तियों के आधार पर अथवा प्रचलित तथ्यों के आधार हम आपको कुछ तथ्यात्मक जानकारी प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

कुछ विद्वानों का मानना है, कि पतंजलि का जन्म ई. पू. 2 वीं शताब्दी में हुआ था। परन्तु अधिकांश विद्वान इसे 2–3 वीं शताब्दी में मानते है। आपको यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि पतंजलि के काल निर्धारण में सभी विद्वान एकमत नहीं है, इसी कारण यह स्थिति 4–5 वीं शताब्दी ई. तक पहुँच जाती है। पतंजलि का समय कई हजार वर्ष पूर्व होने के साथ उपलब्ध सामग्री का भी अभाव है। जिस कारण विद्वानों के लिए यह निर्णय करना कठिन है, कि उनका निश्चित काल कौन सा है। आपको बता दें, कि यह सब जानकारी इस वजह से भी स्पष्ट नहीं हो पायी क्योंकि हमारे इतिहास में पतंजलि नाम के अन्य व्यक्ति भी काफी प्रसिद्ध हुए। जिनके कारण यह निश्चित कर पाना असम्भव सा प्रतीत होता है, कि योगसूत्र के प्रणेता पतंजलि को किस काल खण्ड में रखा जाए। साथ ही यह भी आश्चर्यजनक तथ्य है, कि सभी पतंजलि एक दूसरे से काफी समानताएं भी रखते हैं। हालांकि यहां पर हमारा कार्य उपलब्ध सामाग्री की विवेचना करना नहीं है। तथापि जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसे आपके समक्ष व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहें है।

अभ्यास प्रश्न भाग : 1

1. **रिक्त स्थान कि पूर्ति किजिए।**
   क : अधिकांश विद्वान पतंजलि का काल ....वीं शताब्दी में मानते है।
   ख : हमारे इतिहास में ....नाम के अन्य व्यक्ति भी काफी प्रसिद्ध हुए।
   ग : आश्चर्यजनक तथ्य है कि सभी .... एक दूसरे से काफी समानताएं भी रखते हैं।

9.3.2 : पतंजलि के जन्म से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण तथ्य–यहाँ हम सबसे पहले आपका ध्यान पतंजलि के नाम की ओर ले जाना चाहेंगे, क्योंकि यदि नाम का विश्लेषण करें तो पतंजलि का एक अर्थ यह हुआ कि जो अंजलि में गिरा हो। अतः एक प्रचलित कथा के

अनुसार एक ब्राह्मण नदी तट पर संध्या वंदन के क्रम में जब अंजलि भरकर सूर्य को अर्घ्य दे रहा था, तभी कोई नवजात शिशु आकाश मार्ग से उसकी अंजलि में आकर गिरा, जिसे बाद में इस ब्राह्मण ने उस शिशु का पालन पोषण किया और उसे पतंजलि नाम दिया। यह तथ्य इतना विश्वास करने योग्य तो नहीं है, परन्तु फिर भी प्रचलित कथाओं में इसकी बहुत प्रसिद्धि है।

एक दूसरी कथा के अनुसार पतंजलि को भगवान शेषनाग का अवतार बताया जाता है। कथा कुछ इस प्रकार से मिलती है, कि भगवान पतंजलि अपने शिष्यों को पर्दे के पीछे बैठकर पढ़ाया करते थे ताकि शिष्यगण उनका भौतिक देह, जो कि आधा मनुष्य और आधा सर्प का था को देखकर भयभीत न हो जाए। पतंजलि ने यह आदेश भी दे रखा था, कि कोई भी उस पर्दे को नहीं उठाएगा परन्तु उत्सुकता वश एक शिष्य ने उपदेश के समय पर्दे को धीरे से उठा दिया और जोर से चिल्लाया–ओह! एक हजार फन वाला नाग इस पर पतंजलि बहुत क्रोधित हुए और सभी को श्राप दे दिया।

इस प्रकार यह कथा आगे चलकर कई प्रकार से सुनायी जाती है, इसमें यह भी बताया जाता है, कि शंकराचार्य के दादा गुरु गौड़पाद पतंजलि के ही शिष्य थे। यह सारी जानकारियां विभिन्न ग्रन्थों में अस्पष्ट रूप से मिलती हैं। फिर भी यदि आप कभी दक्षिण भारत की यात्रा पर जाएं तो वहां आपको कुछ विषेश मंदिरों में भगवान पतंजलि की मूर्ति मिलेगी जो आधी सर्प एवं आधी मनुष्य रूप धारी है। इस प्रकार पतंजलि को शेषनाग के अवतार के रूप में भी जाना जाता है।

कुछ विद्वानों का मानना है, कि पतंजलि का जन्म कश्मीर में नागू जाति के ब्राह्मण परिवार में हुआ था, इस कारण भी उन्हें शेषनाग का अवतार कहा जाता है। आप यदि कभी कश्मीर जाएं तो देखेंगे कि ये ब्राह्मण परिवार आज भी नाग देवता की उपासना करते हैं। नाग देवता की उपासना करने के कारण भी प्रचलित मान्यताओं में पतंजलि को शेषनाग का अवतार कहा गया। सम्भवतः पतंजलि अपने में सबसे श्रेष्ठ, विद्वान और सम्मानित रहे होंगे, इस कारण ऐसा वाद प्रचलन में आया होगा। पतंजलि के जीवन से संबंधित बहुत से रोचक तथ्य हमको मिलते हैं, जिसके कारण उनका जीवन भारतीय इतिहास में एक योगी के रूप में सामने आता है। एक ऐसा योगी जो बहुमुखी प्रतिभा का धनी हो, इसी कारण उसकी प्रशंसा में भारतीय इतिहास में जगह–जगह अनेक प्रकार के तथ्य सामने आते हैं।

आगे हम देखते हैं, की पतंजलि को कई विद्वान गोनर्दीय बताकर गोण्डा का निवासी बताने का प्रयास करते हैं। गोण्डा जिला आजकल उत्तर प्रदेश में है। इसी प्रकार कुछ लोगों का मानना है, कि पतंजलि शुंग वंशीय राजा पुष्यमित्र शुंग के राज पुरोहित तथा राजगुरू थे। कुछ उनका संबंध तमिलनाडू से भी जोड़ते है। और बताते हैं, कि प्रसिद्ध 'तिरूमन्दिरम्' ग्रन्थ के लेखक पतंजलि ही थे। इन सभी तथ्यों को स्पष्टतः प्रमाणित नहीं

किया जा सकता। बस, सभी तथ्य प्रचलित मान्यताएँ शिलालेख आदि से प्राप्त सामाग्री के आधार पर जुटाए गए हैं। इसलिए अभी भी पतंजलि विद्वानों के बीच में बहस का विषय बने हुए हैं।

अभ्यास प्रश्न– भाग : 2

1. **लघुत्तरीय प्रश्न।**

   क : पतंजलि किसके का अवतार थे?

   ख : उत्तर प्रदेष के किस जिले से पतंजलि का संबंध जोड़ा जाता है ?

   ग : शुंग वंशीय किस राजा के काल में पतंजलि विद्यमान थे ?

9.3.3 : पतंजलि का व्यक्तित्व :अब तक आप समझ चुके होंगे कि पतंजलि से संबंधित सभी जानकारियाँ प्रचलित मान्यताओं के आधार पर सामने आती हैं। यदि आप कुछ ग्रन्थों के संदर्भ देखें तो आपको मालूम पड़ेगा कि किस तरह पतंजलि के बहुमुखी प्रतिभावान व्यक्तित्व की भूरी–भूरी प्रशंसा की गयी है। यहाँ तक कि उनकी भगवान के रूप में स्तुति की गयी हैं। जैसे रामभद्र दीक्षित के द्वारा रचित पतंजलि चरित में कुछ इस प्रकार वर्णित किया गया है –

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपारोक्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।।

अर्थात – उन पतंजलि मुनि को हमारा नमस्कार है, जिन्होंने योग दर्शन के द्वारा चित्त शुद्धि, व्याकरण महाभाष्य के द्वारा वचन की शुद्धि और आयुर्वेद के द्वारा शरीर की शुद्धि का उपाय बताया। जैसा कि आपको पहले भी बता आए हैं, कि विद्वानों के बीच कई पतंजलि नामक व्यक्तियों की प्रसिद्धि है। इसी संदर्भ में यहाँ बता दें कि एक ही पतंजलि द्वारा पाणिनी के अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा गया, जो कि संस्कृत व्याकरण का विस्तृत एवं बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उन्हीं के द्वारा आयुर्वेद के महान ग्रन्थ चरक संहिता का पुराना स्वरूप गढ़ा गया जो बाद में चरक द्वारा कुछ परिवर्तन कर सामने आया और योगसूत्र की रचना की जिसे हम सभी पातंजल योग सूत्र के नाम से भी जानते हैं।

इस प्रकार पतंजलि के विषय में उपलब्ध जानकारियों में आप ने स्वयं देखा कि किस प्रकार प्रचलित कथाओं, पारम्परिक किंवदन्तियों के आधार पर पतंजलि के व्यक्तित्व की रूप रेखा तैयार की गयी। जिसमें कुछ भी स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं और कुछ भी अंतिम सत्य कहलाने योग्य भी नहीं।

अभ्यास प्रश्न भाग : 3

1. **सत्य/असत्य का चुनाव किजिए।**

   क : योग सूत्र के रचयिता महर्षि पतंजलि थे।
   सत्य/असत्य

ख : शरीर शुद्धि के लिए पतंजलि ने आयुर्वेद की पुस्तक लिखी। सत्य/असत्य

ग : पतंजलि चरित के रचनाकार रामभद्र दीक्षित थे। सत्य/असत्य

9.3.4 : पतंजलि का कृतित्व :यह तो आपको पहले ही बता आए हैं कि पतंजलि द्वारा तीन प्रमुख कृतियां प्रकाश में आयी पहली आयुर्वेद के ग्रन्थ के रूप में, दूसरी व्याकरण पर महाभाष्य के रूप में और तीसरी योगसूत्र के रूप में यहाँ हम योग के संदर्भ में चर्चा कर रहें हैं, इसलिए योगसूत्र का सामान्य परिचय देना उचित होगा।

आप जानते हैं, कि योग सूत्र की रचना पतंजलि ने की। वास्तव में पतंजलि इसके मूल लेखक नहीं थे, अपितु उन्होंने बहुत सी प्रचलित योग पद्धतियों को एक जगह एकत्र कर उसे एक सुव्यवस्थित रूप दिया। बाद में इसी को पातंजल योगसूत्र के रूप में जाना जाने लगा।

पतंजलि ने इस ग्रन्थ को चार भागों में विभक्त किया है। पहला भाग सामाधिपाद कहलाता है, जिसमें योग के आधार भूत सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है। दूसरा भाग साधनपाद है, जिसमें अभ्यास पक्ष पर विचार किया गया है। इसी भाग में अष्टांग योग का भी वर्णन है। इसके बाद योग अभ्यास के दौरान होने वाले लाभ एवं सिद्धियों की चर्चा विभूतिपाद के अंतर्गत की गयी है। अंतिम भाग कैवल्य पाद है, जिसके अंतर्गत योग के चरम लक्ष्य कैवल्य की विस्तृत चर्चा की गयी है।

योगसूत्र की सूत्रात्मक विषय वस्तु को विस्तार से समझने के लिए विभिन्न विद्वानों ने इस पर टीका लिखी जिसमें सर्वप्रथम व्यास को टीका सर्वाधिक प्रचलित है। इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र, विज्ञान भिक्षु, भोजराज आदि ने भी योगसूत्र पर अपनी अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जिनके माध्यम से पतंजलि के सूत्रात्मक ग्रन्थ को समझने में आसानी रहती है।

अभ्यास प्रश्न भाग : 4

1. **रिक्त स्थान की पूर्ति किजिए।**
   क : पतंजलि का संबंध .... योग से है।
   ख : अष्टांग योग के प्रणेता .... थे।
   ग : किंवदन्ति के अनुसार पतंजलि .... जाति के कश्मीरी ब्राम्हण थे।
2. **लघुत्तरीय प्रश्न।**
   क : योगसूत्र में कुल कितने पाद है ?
   ख : योगसूत्र पर सर्वप्रथम भाष्य किसका मिलता है ?

9.4 : गोरक्षनाथ का जीवन परिचय :

आइये अब हम हठयोग परम्परा के प्रारम्भिक गुरुओं में शिरोमणि गुरु गोरक्षनाथ के जीवन पर चर्चा करते हैं। महर्षि पतंजलि के जीवन की तरह ही गोरक्षनाथ के जीवन पर भी कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती। किन्तु लोक कथाओं में गोरक्षनाथ का वर्णन इतना हुआ है, कि उनके विषय पर काफि कुछ ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। परन्तु लोक कथायें देश काल के अनुसार बदलती रहती हैं। जिस कारण से गोरक्षनाथ पर कुछ भी स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है। किन्तु यहाँ पर आपके ज्ञान में अभिवृद्धि के उद्‌देश्य को ध्यान में रखते हुए, गोरक्षनाथ पर जो कुछ भी विद्वानों द्वारा एकमत होकर कहा गया है। उसे प्रस्तुत किया जा रहा है। आपसे आशा है, कि आप इस ज्ञान को अर्जित ही नहीं परिमार्जित भी करेंगे।

9.4.1 : जन्म समय व स्थान : जैसा कि आपने पतंजलि के विषय में पढ़ा है, कि उनके जन्म समय व स्थान के विषय में अस्पष्ट जानकारी उपलब्ध होती है, ठीक उसी प्रकार से गोरक्षनाथ के विषय में भी उनके जन्म स्थान व जन्म समय को लेकर केवल अनुमान ही मिलते हैं। कहीं पर भी कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलते जिसके आधार पर उनके विषय में कुछ निर्णय किया जा सके।

कहा जाता है, कि 10 वी शताब्दी ई. में शंकराचार्य के बाद सबसे प्रभावशाली व्यक्तित्व के रूप में गोरक्षनाथ ने अपने योग मार्ग का प्रचार–प्रसार किया था। आपको आश्चर्य होगा कि जो साक्ष्य हमको गोरक्षनाथ के विषय में मिलते हैं उनके अनुसार गोरक्षनाथ 10 वीं शताब्दी ई. से 17 वीं शताब्दी ई. तक विद्यमान थे। एक योगी होने के कारण यह असंभव तो नहीं परन्तु फिर भी किसी निश्चित अवधि का स्पष्ट उल्लेख हमें प्राप्त नहीं होता है। उन पर लिखे गये ग्रन्थों में उनका जन्म गोदावरी के तट पर स्थित चन्द्रगिरि नामक स्थान पर बताया जाता है। यह स्थान महाराष्ट्र के नासिक के पास मिलता है। कुछ सन्दर्भो में तो यहाँ तक उल्लेख मिलता है, कि गोरक्षनाथ सतयुग में पंजाब के पेशावर में, त्रैतायुग में गोरखपुर, द्वापर युग में द्वारका और कलियुग में काठियावड़ की गोरख मंढी में उत्पन्न हुए थे। ऐसी पारंपरिक बातों पर विचार करें तो यह अनुमान लगता है, वे अमर योगी के रूप में हर युग में विद्यमान रहें। और अपने योग बल और उपदेशों के माध्यम से लोगों को दिशा देते रहे।

कुछ मान्यताओं के अनुसार हम पाते हैं, कि वे हरियाणा में उत्पन्न हुए और उसके बाद नेपाल चले गये। जीवन का अधिक समय इन्होंने नेपाल में ही व्यतीत किया। जिस कारण आप आज भी देखेंगे कि नेपाल में प्रचलित सिक्कों में गुरु गोरक्षनाथ का नाम बड़े सम्मान के साथ लिखा मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि गोरक्षनाथ पर प्रचलित मान्यताओं और किंवदन्तियों के आधार पर जो भी जानकारी मिलती है, वह अस्पष्ट है। एक नेपाली कथानक के आधार पर तो यह बताया जाता है कि एक निर्धन ब्राम्हण के यहाँ कोई सन्तान नहीं थी। जिस कारण वह बहुत दुःखी रहता था। एक दिन आचानक से एक अवधूत उनके द्वार पर भिक्षा के लिए आया और ब्राम्हण की पत्नि ने अपना सारा दुःख उस अवधूत के समक्ष रखा। तब अवधूत ने उसे कुछ भस्म अभिमंत्रित करके दी और उसे खाने के लिए कहा। अवधूत के जाने के बाद ब्राह्मणी ने कुछ भस्म खाली और कुछ को घर के पीछे गोबर के ढेर में डाल दिया। लगभग 12 वर्ष बाद अवधूत जब पुनः ब्राम्हणी के घर आए तो उसने पूरा विवरण बताया। अवधूत ने ऊँचे स्वर में जैसे ही गोरक्षनाथ का नाम लिया तो गोबर की ढेरी से एक 12 वर्ष का बालक सामने आ गया और अवधूत उसे अपने साथ ले गये। वो अवधूत कोई और नहीं मत्स्येन्द्रनाथ थे जो बाद में गोरक्षनाथ के गुरु के रूप में प्रसिद्ध हुए। मत्स्येन्द्रनाथ के संरक्षण में ही गोरक्षनाथ ने कई योग साधनाएँ की और असंख्य सिद्धियां अर्जित की।

हमारे देश में एवम् नेपाल के कई अन्य स्थानों में भी गोरक्षनाथ से संबंधित स्थान मिलते हैं, जिन्हें कई बार गोरक्षनाथ के जन्म स्थान या तपः स्थली से भी जोड़ा जाता है। इस प्रकार गोरक्षनाथ के विषय में भी हमें कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती जिसके आधार पर हम उनके जन्म स्थान और जन्म समय को निश्चित कर पाएँ।

अभ्यास प्रश्न भाग : 5

1. **सत्य/असत्य का चुनाव किजिए।**

   क : शंकराचार्य के बाद गोरक्षनाथ सबसे प्रभावशाली व्यक्तित्व के रूप में आए।
   सत्य/असत्य

   ख : गेरक्षनाथ का जन्म 7 वीं शताब्दि ई. में हुआ था।
   सत्य/असत्य

ग : सतयुग में गोरक्षनाथ का जन्म पंजाब के पेशावर में बताया जाता है।
सत्य/असत्य
घ : मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के शिष्य थे।
सत्य/असत्य
ङ : गोरक्षनाथ के गुरु एक अवधूत थे।
सत्य/असत्य

2. **रिक्त स्थान कि पूर्ति किजिए।**

क : मान्यताओं के अनुसार गोरक्षनाथ हरियाणा से .... चले गए।
ख : कलियुग में उनका जन्म .... की गोरक्षमढ़ी में बताया जाता है।
ग : नासिक में .... नदी के तट पर भी उनका जन्म स्थान बताया जाता है।
घ : गोरक्षनाथ ने कई योग साधनाएँ .... के संरक्षण में की।
ङ : उनका जन्म समय 10 वीं से .... तक अनुमानित बताया जाता है।

9.4.2 : गोरक्षनाथ की परम्परा : वैसे तो हम आपको बता चुके हैं, कि गोरक्षनाथ का संबंध नाथ परम्परा से था। जिसमें मत्स्येन्द्रनाथ को उनका गुरु बताया जाता है। ऐसा माना जाता है, कि गोरक्षनाथ पहले बौद्ध धर्म के तान्त्रिक सम्प्रदाय वज्रयान से जुड़े थे। परन्तु बाद में नाथ सिद्धों की परम्परा में आ गए। गोरक्षनाथ का नाम कई सम्प्रदायों एवम् परम्पराओं की सूची में मिलता है। इस कारण यह अनुमान लगाना कठिन है, कि वह किस सम्प्रदाय या परम्परा से जुड़े थे। नाथ सिद्धों की परम्परा में जिन नव नाथों का वर्णन मिलता है, गोरक्षनाथ भी उनमें से एक थे। नव नाथों के नाम क्रम इस प्रकार बताए जाते हैं

1. आदिनाथ
2. मत्स्येन्द्रनाथ
3. जालन्धर नाथ
4. गोरक्षनाथ
5. चर्पटीनाथ
6. कानिफानाथ
7. चौरंगीनाथ
8. भर्तृहरिनाथ
9. गोपीचन्द्र नाथ

नाथ सम्प्रदाय और साहित्य से जुड़े विभिन्न ग्रन्थों में इस नामों में कई सारे अन्तर मिलते है। परन्तु फिर भी गोरक्षनाथ का नाम सभी जगह एक निश्चित स्थान एवम् क्रम में मिलता है। गोरक्षनाथ को साक्षात शिव का अवतार भी बताया जाता है। मान्यताओं में तो कई जगह उनकी मूर्ति या चित्र का स्वरूप लगभग शिव के समान ही मिलता है।

यदि इसके विस्तार में जायेंगे तो पता लगेगा इनकी परम्मरा में विभिन्न सिद्धों का संबंध अलग–अलग सम्प्रदायों से जोड़ा जाता है। जैसे गोरक्षनाथ जो पहले वज्रयानी थे बाद में नाथ और हठयोग आदि सम्प्रदाय के प्रचारक बने। मत्स्येन्द्र नाथ कौल मार्गी थे, जो कि एक तांत्रिक सम्प्रदाय विशेष है। चर्पटीनाथ का संबंध भी रसेश्वर नाम के तांत्रिक सम्प्रदाय से था। कई जगह इन सिद्धों का संबंध कापालिक, अवधूत, कारूणिक आदि सम्प्रदायों से भी जोड़ा जाता है।

यदि हम इतिहास के पन्नों को पलटें तो पायेंगे कि जिस समय नाथ योग या नाथ सम्प्रदाय का प्रचार–प्रसार हो रहा था उसी समय बहुत से अन्य सम्प्रदाय भी विकसित हो रहे थे। इन सम्प्रदायों में अधिकतर बौद्ध धर्म से संबंधित थे जो बाद में अपना प्रभाव नाथ सिद्धों की परम्पराओं में छोड़ गये। इनके साथ–साथ आप देखेंगे कि नाथ साहित्य में कई सारी तांत्रिक मान्यताओं को भी शामिल किया गया है। जिस कारण यह सम्प्रदाय कभी–कभी एक तांत्रिक सम्प्रदाय के रूप में दिखाई देता है। नाथ सम्प्रदाय के उद्दगम और विकास का सही–सही निर्धारण कर पाना बहुत कठिन है। विभिन्न विद्वानों का इस पर मतभेद है। अतः सार रूप में यह कहा जा सकता है, कि नाथ सम्प्रदाय जिससे की योगी गोरक्षनाथ का संबंध है, का उद्‌भव कई सारे सम्प्रदाय एवम् परम्पराओं के मिश्रण से हुआ होगा।

अभ्यास प्रश्न भाग : 6

1. **रिक्त स्थान कि पूर्ति किजिए।**

   क : गोरक्षनाथ के गुरु .... थे।

   ख : गोरक्षनाथ को .... का अवतार बताया जाता है।

   ग : गोरक्षनाथ पहले .... बौद्ध थे।

   घ : मत्स्येन्द्रनाथ पहले .... मार्ग के प्रचारक थे।

   ङ : नव नाथों में पहले .... हैं।

2. **एक शब्द में उत्तर दिजिए।**

   क : चर्पटीनाथ का संबंध किस सम्प्रदाय से था?

   ख : नाथ साहित्य में अधिकतर किस सम्प्रदाय की छाप दिखाई देती है?

   ग : नाथ साहित्य में कौन से सम्प्रदाय भी मिश्रित हुए?

   घ : विभिन्न परम्पराओं में नव नाथों में किसके नाम में कोई अन्तर नहीं मिलता?

9.4.3 : गोरक्षनाथ का योग मार्ग :जैसा की आपको पहले बता आए हैं, कि गोरक्षनाथ से संबंधित साहित्य भी बहुत स्पष्ट नहीं है। बहुत से ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं, जिनके लेखक या मार्गदर्शक गोरक्षनाथ कहलाते हैं। इस स्थिति पर भी कई ग्रन्थों को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद हैं। फिर भी आप यदि हठयोग के ग्रन्थों को पढ़ेगे। तो पाएंगे कि अधिकतर ग्रन्थों को आधार गोरक्षनाथ की शिक्षाएँ है। उनके द्वारा जिस मार्ग की शिक्षाएँ दी गयी वहीं आगे चलकर हठयोग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हठयोग के साथ–साथ उनकी मूल परम्परा जिससे वे जुड़े थे उसमें भी योग पद्धतियों का विकास हुआ जिसे हम नाथ योग के नाम से जानते हैं। वस्तुतः यदि देखा जाए तो योग का आदि प्रवर्तक शिव को माना जाता है। और नाथ सम्प्रदाय भी अपने ईष्ट देव के रूप में शिव की पूजा करता है। शिव को पौराणिक ग्रन्थों में योग गुरु, आदि योगी की उपमा दी गयी है। समय के साथ–साथ सभी शैव सम्प्रदाय जो कि शिव से संबंधित थे उनमें योग का कुछ न कुछ स्वरूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार नाथ सम्प्रदाय में भी हमें योग के विभिन्न पक्ष देखने को मिलते हैं। जिनका प्रचार प्रसार स्वयं गोरक्षनाथ ने ही किया था।

सिद्धसिद्धान्त पद्धति, योग बीज, गोरक्षशतक, गोरक्षपद्धति आदि ग्रन्थों के रचयिता गोरक्षनाथ बताए जाते है। इसके अतिरिक्त बहुत से ग्रन्थ गोरक्षनाथ द्वारा लिखित बताए जाते हैं। परन्तु अधिकतर ग्रन्थ इस संबंध में विवादास्पद हैं। हठयोग प्रदीपिका, हठरत्नावली, घेरण्ड संहिता, अमरौधशासनम् जैसे कई सारे यौगिक ग्रन्थों का श्रेय भी

गोरक्षनाथ की शिक्षाओं को दिया जाता है। गोरक्षनाथ को शिक्षाओं का प्रचार प्रसार उन्हीं के शिष्यों ने विभिन्न माध्यमों से किया। मुख्य रूप से गोरक्षनाथ की शिक्षाओं को योग मार्ग के रूप में ही देखा जाता है।

गोरक्षनाथ ने अपने योग परक ग्रन्थों में हठयोग की शिक्षा पर बल दिया है। उनके अनुसार शरीर में विद्यमान 7200 नाड़ीयों को शुद्ध करने का एकमात्र उपाय हठयोग है। जिसमें मुख्य रूप से शरीर शोधन के लिए षट्कर्म बताए गए हैं। षट्कर्म के माध्यम से नाड़ीयों एवम् शरीर के विभिन्न स्थानों के एकत्र मल का निष्कासित होना बहुत आवश्यक है। यह सारी विधियां हठयोग में बहुत गोपनीय रखी गयी है। अतः इन सब के लिए कुशल मार्गदर्शन की आवश्यकता है। इसके बाद शरीर को किसी एक स्थिति में स्थिर रखने के लिए आसनों का विवेचन किया गया है। जिनके माध्यम से शरीर को स्थिर और पूर्ण रूप से स्वस्थ्य रखा जा सके। आसन के बाद शरीर की विशेष स्थितियों को मुद्रा के नाम से बताया गया है। जिनका शरीर के आन्तरिक एवम् बाह्य अंगो पर विशेष प्रभाव पड़ता है। आसन और मुद्राओं की चर्चा करने के बाद प्राणायाम की चर्चा विस्तार से की गयी है। वस्तुतः यदि आप देखेंगे तो गोरक्षनाथ की योग पद्धति प्राण साधना पर केन्द्रित है। हमारे शरीर में स्थित विभिन्न शक्ति केन्द्रों का संचालन प्राण के माध्यम से होता है। इन केन्द्रों की जागृति के लिए प्राणायाम को बहुत अधिक महत्व दिया गया है।

इन सभी अभ्यासों के साथ–साथ नादोपासना या नादानुसंधान पर भी गोरक्षनाथ ने विस्तार से चर्चा की है। गोरक्षनाथ के अनुसार हमारे सूक्ष्म शरीर में निरन्तर एक सनातन नाद चलता रहता है। जिसे सुनने के लिए विभिन्न अभ्यास गोरक्षनाथ ने अपने ग्रन्थों में बताए हैं। इन अभ्यासों के माध्यम से उस निरन्तर एक चल रहे सूक्ष्म नाद को सुना जा सकता है, और कई महत्वपूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती है।

कुण्डलिनी जागरण का भी गोरक्षनाथ ने बड़ा विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। यह स्थिति हमारे सूक्ष्म शरीर से संबंधित है। कुण्डलिनी का विषय गोरक्षनाथ की योग पद्धिति में रहस्यात्मक है। हमारे शरीर में षट्चक्रों की स्थिति बतायी गयी है। इन चक्रों का जागरण होने पर मानव शरीर एक शक्ति पुंज बन जाता है और मुनष्य में असीमित शक्ति और सिद्धियां आ जाती है। इसके लिए गोरक्षनाथ गुरु की कृपा को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार यदि कोई समर्थ गुरु चाहे तो अपने शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति जागरण अपनी केवल कृपा दृष्टि के माध्यम से कर सकते है। इस कारण यह गोरक्षनाथ की योग पद्धति का मुख्य विषय है। इसके अन्तर्गत सभी योगाभ्यास आ जाते हैं। क्योंकि गोरक्षनाथ के अनुसार मनुष्य जीवन से मुक्ति के लिए कुण्डलिनी जागरण बहुत आवश्यक है। कुण्डलिनी जागरण के बाद ही जीवन के अनसुलझे रहस्यों को जाना जा सकता है। यहाँ हम प्रस्तुत चित्र के माध्यम से अपने सूक्ष्म शरीर में विद्यमान षट्चक्रो की स्थिति को देख सकते है –

इस प्रकार गोरक्षनाथ के जीवन को आपने समझाया अब आपसे आशा की जाती है, कि आप गोरक्षनाथ के जीवन एवं उनकी योग पद्धिति को जानने के लिए उनके विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन करेंगे और जो ज्ञान आपने अर्जित किया है। उसे परिमार्जित कर योग परम्परा का वहन करेंगे।

अभ्यास प्रश्न भाग : 7

1. **सत्य/असत्य का चुनाव किजिए।**

क : विभिन्न योग सम्प्रदायों में शिव को योगी एवं योग गुरु माना जाता है। सत्य / असत्य

ख : गोरक्षनाथ के ग्रन्थों में कुण्डलिनी से संबंधित विषय बड़े रहस्यात्मक हैं। सत्य / असत्य

ग : षट्चक्र का संबंध स्थूल शरीर से है।
सत्य / असत्य

घ : आसनों के माध्यम में गति प्राप्त की जाती है।
सत्य / असत्य

ङ : कुण्डलिनी की स्थिति हमारे सूक्ष्म शरीर में है।
सत्य / असत्य

2. **एक शब्द में उत्तर दिजिए।**

क : मानव शरीर में लगभग कितनी नाड़ीयाँ है?
ख : सिद्धसिद्धांत पद्धति के लेखक कौन थे?
ग : नाथ योग या हठयोग का मुख्य विषय क्या है?
घ : शरीर को विशेष स्थितियों में रखना क्या कहलाता है?
ङ : नाद को जानने की विधि क्या कहलाती है?

9.5 सारांश

अब तक आपने पतंजलि एवं गोरक्षनाथ के जीवन और उनके योग मार्ग के विषय में जाना। हालांकि दोनों ही योगीयों के जीवन पर कुछ भी बहुत स्पष्ट नहीं है। किन्तु लोक मान्यतायें इन दोनों योगीयों को इतना प्रसिद्ध बना देती हैं, कि जन जन को इनके विषय में कुछ न कुछ पता होता है।

जहाँ पतंजलि ने योग को एक अनुशासित रूप दिया वहीं गोरक्षनाथ ने हठयोग को व्यवस्थित और लोकप्रिय बनाने का कार्य किया। पतंजलि के बारे में सबसे चौंकाने वाला तथ्य यह है, कि वह व्यक्ति संस्कृत, आयुर्वेद और योग इन तीनों विद्याओं में पारंगत् है। उस विद्वान ने संस्कृत, आयुर्वेद और योग के क्षेत्र में अतुल्य साहित्य प्रदान किया। जिससे ये तीनों विद्यायें समृद्ध हो सकीं। वहीं दूसरी ओर गोरक्षनाथ ने हठयोग को लोकप्रिय बनाने के लिए शरीर को माध्यम बनाया और बताया कि शरीर स्वस्थ रहेगा तो व्यक्ति तप के माध्यम से हठयोग के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

गोरक्षनाथ और पतंजलि दोनों में एक समानता नजर आती है, और वह है, किसी एक योग पद्धति को विशिष्ट रूप से विकसित करने का प्रयास। पतंजलि ने जहाँ अष्टांग योग को प्रमुखता दी तो वहिं गोरक्षनाथ हठयोग को केन्द्र में रखते हुए कार्य करते रहे। कुछ भी हो, दोनों ही योगीयों ने भारतीय योग परम्परा और साहित्य को विकसित किया और एक अनुशासित रूप हमें दिया जिससे योग और उसकी अन्य शाखाओं को समझना हमारे लिए इतना सरल हो सका।

9.6 पारिभाषिक शब्दावली

किंवदन्ति – लोक कथा जो सामान्यतः प्रचिलित हो।
अभिमंत्रित – किसी पदार्थ को मंत्र की शक्ति द्वारा शक्तिशाली बनाना।
तांत्रिक – तंत्र सम्प्रदाय को मानने वाला।

टीका	– संस्कृत के किसी ग्रन्थ की अलोचनात्मक व्याख्या करना।
भाष्य	– संस्कृत के किसी ग्रन्थ की साधारण व्याख्या करना।

9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

भाग : 1

1. क. 2–3 वीं शताब्दी
   ख. पतंजलि
   ग. पतंजलि

भाग : 2

1. क. शेषनाग
   ख. गोण्ड़ा
   ग. पुष्यमित्र शुंग

भाग : 3

1. क. सत्य
   ख. सत्य
   ग. सत्य

भाग : 4

1. क. अष्टांग योग
   ख. महर्षि पतंजलि
   ग. नागू
2. क. चार
   ख. व्यास

भाग : 5

1. क. सत्य
   ख. असत्य
   ग. सत्य
   घ. असत्य
   ड. सत्य
2. क. नेपाल
   ख. काठियावाड़
   ग. गोदावरी
   घ. मत्स्येन्द्रनाथ
   ड. 17वीं शताब्दी ई.

भाग : 6

1. क. मत्स्येन्द्रनाथ
   ख. शिव
   ग. वज्रयानी
   घ. कौल
   ड. आदिनाथ
2. क. रसेश्वर

ख. शैव
ग. शैव
घ. गोरक्षनाथ

भाग : 7

1. क. सत्य
   ख. सत्य
   ग. असत्य
   घ. असत्य
   ड. सत्य
2. क. 72000
   ख. गोरक्षनाथ
   ग. प्राणसाधना
   घ. मुद्रा
   ड. नादानुसंधान

9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीवास्तव,डॉ सुरेशचन्द्र (2008) पातंजलयोगदर्शनम्, चौखम्बा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी
2- Dasgupta,Surendranath (1992) History of Indian Philosophy ,vol-1, Motilal Banarasidas Publication, Delhi
3- Woods,James Houghton (1914) The Yogasutra of Patanjali] Harvard University by Ginn & co.
4- Briggs,G.W.(1938) Gorakhnatha and the Kanphata Yogis, Motilal Banarasidas Publication, Delhi

9.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री :

1. www.artofliving.org
2. www.gorakhnatha.org
3. www.gorakhnatha.net

9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पतंजलि के जीवन पर प्रकाश डालते हुए योग के क्षेत्र में उनके योगदान को स्पष्ट किजिए।
2. पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग पर प्रकाश डालिए।
3. गोरक्षनाथ के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए योग में उनके योगदान को स्पष्ट कीजिए।
4. गोरक्षनाथ ने किस सम्प्रदाय का और किस योग का प्रसार किया सविस्तार बतायें।

इकाई 10 स्वामी दयानन्द एवं स्वामी विवेकानन्द का जीवन परिचय

10.1 : प्रस्तावना

10.2 : उद्देश्य

10.3 : स्वामी दयानंद का जीवन परिचय

- 10.3.1 : बाल्यकाल का परिचय
- 10.3.2 : परिव्राजन एवं गुरुदिक्षा
- 10.3.3 : समाजसुधार योगोपदेश
- 10.3.4 : देहत्याग

10.4 : स्वामी विवेकानंद का जीवन परिचय

- 10.4.1 : प्रारम्भिक जीवन
- 10.4.2 : श्री रामकृष्ण एवं विवेकानंद
- 10.4.3 : परिव्राजक के रूप में कर्मयोगी विवेकानंद
- 10.4.4 : पाश्चात्य समाज को विवेकानंद के उपदेश
- 10.4.5 : रामकृष्ण मठ की स्थापना एवं महाप्रयाण
- 10.4.6 : कृति अवलोकन
- 10.4.7 : स्वामी विवेकानंद के योग परक उपदेशों का सार

10.5 : सारांश

10.6 : पारिभाषिक शब्दावली

10.7 : अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.8 : सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.9 : सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

10.10 : निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आप स्वामी दयानंद एवं स्वामी विवेकानंद के जीवन और उनके जीवन दर्शन के विषय पर ज्ञान अर्जित करेंगे। आप जानेंगे की किस प्रकार स्वामी दयानंद ने हिन्दू धर्म में व्याप्त आडम्बरों को समाप्त किया और वैदिक परम्परा की ओर पुनः समाज को वापस लाने का कार्य किया साथ ही साथ दयानंद ने योग साधना में ब्रह्मचर्य के महत्व को देश के युवाओं को समझाया दयानंद आध्यात्मिक गुरु से ज्यादा एक समाज सुधारक के रूप में जाने जाते हैं। तो वहीं स्वामी विवेकानंद अपने तेजस्वी भाषणों के द्वारा भारतीय समाज में ही नहीं अपितु पाश्चात्य समाज में भारतीय दर्शन को पहुचाने में अग्रिणी रहे। स्वामी विवेकानंद का सम्पूर्ण जीवन मानव के कल्याण के लिए निष्काम रूप से कर्म करते हुए बीता इसी वजह से भारतवासीयों के मन में वे एक कर्मयोगी के रूप में बसे हुए हैं।

इस इकाई के माध्यम से हम जानेंगे कि स्वामी दयानंद एवं स्वामी विवेकानंद ने अपने जीवन को किस प्रकार भारतीय दर्शन परम्परा के अनुकूल बनाया तथा किस प्रकार उन्होंने अपने जीवन को जीव मात्र की सेवा के लिए समर्पित कर दिया। इस इकाई में आपको यह जानने को भी मिलेगा की स्वामी दयानंद व स्वामी विवेकानन्द का जीवन किस प्रकार एक समग्र योगी का रहा। उनके जीवन का प्रत्येक पल योग के लिए समर्पित रहा। उनके जीवन की प्रत्येक घटना कर्मयोग, भक्तियोग व ज्ञानयोग के उपदेशों से परिपूर्ण थी। अतः यह स्वाभाविक हो जाता है, कि प्रत्येक योग के विद्यार्थी को स्वामी दयानंद व स्वामी विवेकानंद के जीवन से योग की शिक्षा और परम्पराओं का उपदेश प्राप्त हो।

तो आईये इन दो महान योगीयों के जीवन में निहित योग के उपदेशों को जानते हैं। और उनके अनुसरण का प्रयास करते है।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप –

- स्वामी दयानंद एवं स्वामी विवेकानन्द के प्रारम्भिक जीवन के बारे में जानेंगे।
- स्वामी दयानंद एवं स्वामी विवेकानन्द के जीवन संघर्ष को जान सकेंगे।
- स्वामी दयानंद एवं स्वामी विवेकानन्द द्वारा समाज के लिए किए गये कार्यों के बारे में जानेंगे।
- स्वामी दयानंद एवं स्वामी विवेकानन्द के दर्शन तथा उनके विचारों और उपदेशों को ठीक–ठीक जान सकेंगे।
- स्वामी दयानंद एवं स्वामी विवेकानन्द के जीवन में योग किस प्रकार बसा है, यह भी भलि प्रकार से जान कर उसका आचरण कर सकेंगे।

10.3 स्वामी दयानंद का जीवन परिचय :

19 शताब्दी की दिव्य विभूतियों में स्वामी दयानंद जी का नाम प्रमुख हैं। उन्होने तत्कालीन धार्मिक राजनैतिक चेतना को जाग्रत किया तथा भारतीय पुर्नजागरण आन्दोलनों का सूत्रपात किया। वे प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरूत्पादक कहलाये। वेदों के संम्बंध में प्रचलित

विभिन्न भ्रान्त अवधारणाओं को निरस्त करने का श्रेय स्वामी दयानन्द जी का है। स्वामी दयानंद एक प्रतीक रूप है कि भारत ही नहीं बल्कि एशिया के पुनरूत्थान के लिए न अंग्रेजी राज्य की अपेक्षा थी और न अंगेजी शिक्षा की उसके लिये एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो सबसे पहले अपनी अंर्तदृष्टि अपने देश, समाज, जाति तथा राष्ट्र के व्यापक सामूहिक जीवन की जड़ता, विडम्बना और शोषण की गहराई से देख सके उसके कारणों की ऐतिहासिक, यथार्थ तथा सांस्कृतिक खोज करने में समर्थ हो सके और अंततः अपनी विवके दृष्टि से गतिरोध को दूर करके समाज को मौलिक सृजनशीलता से संचालित एवं प्रेरित करने में समर्थ हो सके।

10.3.1 : बाल्यकाल का परिचय :

आईये सबसे पहले हम स्वामी दयानंद जी के बाल्यकाल को जानते है – स्वामी दयानंद जी का जन्म गुजरात के टंकरा नाम नगर में सन् 1824 ई. में हुआ। इनके पिता जी का नाम कर्षन था। ये एक उच्च कोटि के ब्राह्मण थे। ये परम शिवभक्त थे इसलिए इन्होंने बालक का नाम मूलशंकर रखा। इनके पिता ने बाल्यकाल में ही उन्हें यजुर्वेद आदि वेद शास्त्रों का अध्ययन एवं धार्मिक संस्कारों को स्वयं सिखाया। ये बहुत ही कुशाग्र बुद्धि के थे। 5 वर्ष की अवस्था में इन्हें देवनागरी लिपि की शिक्षा दी गई। 14 वर्ष की आयु तक इन्होंने यजुर्वेद संहिताओं व्याकरण के ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था। इन दिनों इनके जीवन में एक घटना घटी जिसने इनके जीवन को पूर्ण रूप में बदल दिया। शिवरात्रि के दिन पिता के आदेश से इन्होंने व्रत रखा। रात्रि में समस्त परिवार ने शिवालय में जाकर जागरण किया। मध्यरात्रि तक सभी सो गये किन्तु बालक मूलशंकर शिव के साक्षात दर्शन की उत्सुकता के साथ जागते रहे। उस समय उन्होंने देखा की वहाँ पर कुछ चुहे आये और शिवलिंग पर चढ़ाये प्रसाद को खाया और इधर उधर बिखेर दिया इस घटना से बालक मूलशंकर के मन में विचार हुआ कि ये चूहो से अपनी रक्षा नहीं कर सके इसलिये ये सच्चे शिव नहीं हो सकते और इन्होंने घर आकर अपना व्रत तोड़ दिया। मूलशंकर की जिज्ञासा बढ़ती गई, इन्हीं दिनों इनकी छोटी बहन का देहान्त हो गया इन सब घटनाओं से इनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ।

अभ्यास प्रश्न भाग : 1

1. **सत्य असत्य का चुनाव किजिए।**

   क : दयानंद का जन्म उच्चकोटी के ब्राह्मण कुल में हुआ था।
   सत्य/असत्य

   ख : दयानंद को वेदादि का अध्ययन प्रारम्भ में इनके पिता ने ही कराया। सत्य/असत्य

   ग : 10 वर्ष की आयु में दयानंद देवनागरी लिपि का ज्ञान अर्जित किया। सत्य/असत्य

2. **रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।**

   क : दयानंद का जन्म .... राज्य के .... नामक ग्राम में सन् .... में हुआ।

   ख : इनके बचपन का नाम .... था।

ग : .... आयु तक दयानंद ने यजुर्वेद संहिता का अध्ययन कर लिया था।

10.3.2 : परिव्राजन एवं गुरुदिक्षा :इस शीर्षक के अंतर्गत हम जानेंगे की दयानंद जी ने किस प्रकार सत्य की खोज में देश भर में घूम–घूमकर ज्ञान का संचय किया और अंत में किस प्रकार वे जपने अध्यात्मिक गुरु से मिल पाये – इनके पिता इन्हें जमींदारी के मार्ग से लगाना चाहते थे लेकिन इनकी रूचि दो ही कार्यों में थी, एक अध्ययन में संलग्न रहना दूसरी मनन चिन्तन में तल्लीन होना। इस वर्ष इनकी उम्र लगभग उन्नीस वर्ष थी। धीरे–धीरे समय व्यतीत होने लगा इनके वैराग्य भाग से अवगत होकर इनके माता पिता ने मूलशंकर को इनकी इच्छा के विरूद्ध विवाह बंधन में बांधना चाहा, इसी बात को दो वर्ष बीत गये। एक दिन उन्नीस वर्ष की आयु में घर से बिना बताये ये सच्चे शिव की तलाश में वैराग्य भाव धारण कर ये निकल गये। पकड़े जाने के भय से ये जंगलों के रास्ते अज्ञात मार्ग की ओर आगे बढ़ते गये। ठगो और साधु सन्तों के सम्पर्क होते–होते मूलशंकर आगे बढ़ते गये। कुछ समय बाद वे एक ब्रह्मचारी के यहाँ पहुँचे जिसका नाम लला था।

लला भक्त के घर उन्होंने एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने की प्रेरणा मिली और तब मूलशंकर ने कषाय वस्त्र धारण किये। अब मूलशंकर शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी बन गये। उन्होंने कुछ दिन सायले में रहकर उनसे योग शिक्षा भी ग्रहण की। घूमते–घूमते शुद्ध चैतन्य अहमदाबाद के समीप कोट काँगड़ा नामक छोटे से नगर में पहुँचे उन्होंने सिद्धपुर में होने वाले मेले के बारे सुना सन्तों के दर्शन की प्रबल इच्छा मन में लिये उसी ओर चले ही थे कि उनकी भेंट पूर्व परिचित वैरागी से हुई जो कि इनके घर से पूर्णतः परिचित था। वैरागी द्वारा कही गई घर लौटने की बात को ठुकराकर ये मेले की ओर चल दिये। वैरागी द्वारा प्राप्त सूचना के एक दिन इनके पिता ने इन्हें खोज लिया जो इनकी तलाश में चार पाँच सैनिकों को लेकर आये थे। पिता द्वारा जबरदस्ती इन्हें एक तम्बू में बन्दी की तरह निगरानी में रखे गया घर लौटने की बात सुनते ही ये एक दिन तम्बू से भाग गये फिर इनके पिता इन्हें नहीं ढूँढ़ पाये। वहाँ से भागने के बाद वे घूमते घूमते बड़ौदा पहुँचे। ब्रह्मानंद आदि सन्तों की संगत में ये पक्के वेदांती बन गये थे, लेकिन फिर भी इनकी प्यास अभी बुझी नहीं थी। वह विद्वानों और महात्माओं की तलाश में नर्मदा की ओर बढ़े, वहाँ से वे चणोद कल्याणी पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी से संन्यास की दीक्षा ली। अब मूलशंकर शुद्ध चैतन्य ब्रम्हचारी से संन्यासी होकर स्वामी दयानंद सरस्वती हो गये। इन्हें ज्वालापुरी और महात्मा शिवानन्द गिरि नामक दो परम योगी मिले जिनसे इन्होंने क्रिया समेत पूर्ण योग विद्या सीखी शिक्षा ग्रहण करने के बाद इन्होंने उन योगीयों से और योगियों से मिलने की आज्ञा ली और हिमालय की यात्रा पर चल दिये। हरिद्वार, ऋषिकेश, टिहरी श्रीनगर होते हुये स्वामी जी गंगागिरि विद्वान के यहाँ रहते हुए रूद्रप्रयाग शिवपुरी पहुँचे। अनेक तीर्थ स्थानों की शोभा देखते हुए ऊखी मठ से वे आगे बढ़े। इन स्थानों में घूमने से स्वामी जी समाज में फैले हुये अन्धविश्वास और रूढ़ियों से भी अवगत हुये और उनके विरूद्ध ही उन्होंने पाखण्ड खण्डिनी नामक पताका फहराई।

स्वामी दयानंद सरस्वती ऊखीमठ से जोशीमठ पहुँचे। वहाँ महाराष्ट्रीय सन्यासियों के सम्पर्क में कुछ समय व्यतीत कर योगाभ्यास की कुछ नई क्रियाये सीख कर वे बद्रीनाथ की ओर चल दिये। वहाँ पास की गुफाओं में सिद्ध पुरुषों के दर्शन की ललासा उनके मन में जाग्रत हुई, उनकी तलाश में वे पूरे दिन नदियों पहाड़ों को पार करते हुए जंगलो में भ्रमण करते रहे। कटीली झाड़ियों, नुकीले पत्थरों की वेदना उन्हें सहनी पड़ी, लेकिन प्रयास निष्फल रहा। अंधेरा होने तक वे बद्रीनाथ के मंदिर लौट आये। दूसरे दिन वे रामपुर की ओर चल दिये वहाँ वे रामगिरि नामक महात्मा से मिले जो कि रात दिन कथा वार्ता करते हुये भी

कभी अशान्त नहीं होते थे। फिर वहाँ से काशीपुर होते द्रोण सागर गये। विभिन्न स्थानों में घूमते हुये स्वामी जी गढ़मुक्तेश्वर पहुँचे। स्वामी जी को घर छोड़े 12 वर्ष बीत चुके थे। अब तक गुजरात, राजस्थान और उत्तर भारत के हिमालय एवं गंगा के तटवर्ती स्थानों में घूम–घूम कर आध्यात्मिक तथा भौतिक ज्ञान की उपलब्धि प्राप्त कर वे देश की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था को भली भाँति जान चुके थे। अब वे मध्य भारत में बसने वाली आर्य जाति की वास्तविक दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये गंगा का किनारा छोड़ कर नर्मदा के तट पर विचरने लगे। इस बीच उन्हें अनेकों कठनाईयों का सामना करना पड़ा। 3 वर्ष तक वे मध्य भारत में ही विचरण करते रहे।

एक दिन चर्चा में उन्होंने विरजानंद जी के विमल यश और पाण्डित्य की बातें सुनी। घर से दुखी अवस्था से निकलकर गंगा के किनारे रोते हुए अन्धे बालक को एक महात्मा ने सहारा दिया। ये ही बालक अपनी असाधारण बुद्धि और विलक्षण क्षमताओं से अन्तः प्रज्ञा को जाग्रत करने में सक्षम हुआ। विभिन्न स्थानों में घूमता हुआ ये दण्डी स्वामी ही विरजानंद के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। ऐसे ही अनोखे गुरु की सेवा में दयानंद जी कार्तिक सुदी–संवत 1917 वि. को उपस्थित हुये ओर अपनी ज्ञान प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की दण्डी स्वामी ने कहा जब तक अनार्ष पद्धति का परित्याग नहीं होगा, तब तक आर्षग्रन्थों का महत्व ओर मर्म समझा नहीं जा सकेगा। इसलिये तुम जाकर पहले अपनी आधुनिक पुस्तकों को यमुना में बहा आओ तभी मैं तुम्हें पढ़ा सकूंगा। उन्होंने वैसा ही किया।

स्वामी जी हर प्रकार से एक आदर्श शिष्य थे। जैसे पढ़ने में वे सब शिष्य से आगे थे वैसे ही गुरु सेवा में भी उन्होंने सब सहपाठियों को पछाड़ दिया। कठिन विषय को समझने और उनके मूल तत्वों को ग्रहण करने में उन्हें देर नहीं लगती थी। स्वामी जी को मथुरा से आये हुए 21 वर्ष हो गये। विरजानंद जी से उन्होंने अष्टाध्यायी, महाकाव्य, वेदान्त सूत्र आदि अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। वे कहते थे कि दयानद आज तक मैंने सैंकड़ो विद्यार्थियों को पढ़या परन्तु जो स्वाद, जो आनंद तुम्हे पढ़ाने में आया वह कभी नहीं मिला, तुम्हारी तर्क शक्ति भी प्रबल है।

दयानंद सरस्वती जी सन्यासी थे परन्तु किसी से कुछ मांगते नहीं थे। ईश्वर कृपा से जो कुछ मिल गया उसी पर वह संतोष कर लेते थे। वे पूर्ण ब्रह्मचारी थे। स्त्री स्पर्श तो दूर, वे किसी स्त्री की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते थे। अब उनकी आयु 35 वर्ष हो चुकी थी।

विरजानंद जी से विदा लेते समय वे डरते–डरते पाँच लोगों को उनकी सेवा में समर्पित करते हुए कहने लगे कि गुरुदेव। आपकी मुझ पर असीम कृपा रही। आपके उपकारों से उऋण होना मेरे लिए संभव नहीं, मैं आपको क्या दे सकता हूँ। ये थोड़ी सी लौंग स्वीकार करें गुरु जी बोले – तू तो बड़ा कंजूस निकला। मुझे देने के लिए तेरे पास बहुत कुछ है। दयानंद जी ने कहा आप आदेश करे। गुरू ने शिष्य के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा – भारत में दीन हीन जन अनके विध दुःख पा रहे हैं जाओ उनका उद्धार करों, प्रचलित कुरीतियों का निवारण करो। आर्य जनता की बिगड़ी दशा को सुधारो कुसंस्कारो ओर अंधविश्वासों को दूर करो। गुरू दक्षिणा में तुमसे यही सब पाने की इच्छा है। चलते समय गुरु आर्शीवाद दिया वत्स तुम्हारे सभी मनोरथ सिद्ध हो। ईश्वर तुम्हे सुख सफलता से सम्पन्न करे। एक बात स्मरण रखना साधारण मनुष्य कृत ग्रन्थ परमात्मा और ऋषिमुनियों की निंदा से पूर्ण है, परन्तु आर्ष ग्रन्थों में इस दोष का नितान्त आभाव है, आर्ष

ओर अनार्ष ग्रन्थों की यही सबसे बड़ी परख है। इस कसौटी को हाथ से कभी न जाने देना। हरिद्वार के प्रसिद्ध कुम्भ मेला जिसमे काफी लोगों की भीड़ होती है उसी समय था। बड़े–बड़े पण्डितों से इसका शास्त्रार्थ हुआ। वहाँ से काशी आकर उन्होंने वहाँ के पण्डितो को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। कांशी में लोगो ने इन पर पत्थर मारे अपशब्द कहे, परन्तु ये दृढ़ रहे इनका धर्म भ्रष्ट करने के लिए मथुरा में इनके पास वैश्या भेजी जो कि इन्हें देखते ही भय से काँपने लगी। इन्हीं दिनों बंगाल महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन से इनकी भेंट हुई, वे लोग इनसे बहुत अधिक प्रभावित हुए। बंगाल के बाद बम्बई आकर इन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। पंजाब में व्याख्यान देते समय इन पर पत्थर फेके गये परन्तु इस इन्होंने कहा जो लोग आज मुझ पर पत्थर फेंक रहें है वे ही एक दिन मुझ पर फूलों की बारिश करेंगे।

अभ्यास प्रश्न भाग : 2

1. **लघु उत्तरीय प्रश्न।**
   - क : मूलशंकर के पिता उनसे क्या काम करवाना चाहते थे ?
   - ख : बंगाल की यात्रा के बाद दयानंद कहां गये और वहां उन्होंने क्या किया ?
   - ग : बंगाल की यात्रा में दयानंद की मुलाकात किन विद्वानों से हुई ?
2. **एक शब्द में उत्तर दीजिए।**
   - क : नैष्ठिक ब्रम्हचारी बनने पर मूलशंकर का क्या नाम पड़ा।
   - ख : दयानंद को आर्ष दीक्षा देने वाले गुरु कौन से थे ?
   - ग : गुरु दक्षिणा के रूप में दयानंद ने गुरु को क्या देना चाहा ?

10.3.3 : समाज सुधार एवं योगोपदेश :

अब हम जानेंगे कि कैसे दयानंद जी ने भारतीय समाज में व्याप्त अंधविश्वास के नाश हेतु भारत भर में एक नवीन चेतना का संचार किया और किस प्रकार समाज सुधार हेतु उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। मौलिक रूप से स्वामी दयानंद सरस्वती वेदान्त साधक थे। उनका वेदान्त साधना में भी अद्वैतवाद पर विशेष जोर रहा। स्वामी जी भारतीय योग परम्पराओं में उस समय के एक विशिष्ट व्यक्तित्व रहे। इनके जीवन में प्राचीन योग साधना का नवीनतम् प्रयोग देखने को मिलता है। ये ध्यान योग के सिद्ध तथा कर्म योग के भी साधक थे, किन्तु निराकार ध्यान इनका विषय रहा। स्वामी जी बाल्यावस्था से ही निराकार उपासना के प्रति आकर्षित थे। निराकार साधना में आगे बढ़ते हुए अन्ततः इन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। अतः निराकार ब्रह्म ही उनके व्यक्तित्व का केन्द्रिय ध्येय रहा है। इन्होंने ब्रह्मचर्य साधना का जीवन पर्यन्त पूर्ण रूप से पालन किया। जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व में प्रखरता, तेजस्विता तथा अदभुत शारीरिक बल से दृष्टिगोचर होता था। इस शक्ति के सहारे उन्होंने कुछ ऐसे कार्य किए जो सामान्य जन के लिए चमत्कारी प्रतीत होता हैं। स्वामी जी हठयोग की कुछ साधनात्मक क्रियाओं के भी अभ्यासी थे। उनके शरीर में हठयोग सिद्धि के लक्षण प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त होते थे। स्वामी दयानंद सरस्वती संन्यास मार्ग के आदर्श अनुयायी थे। संन्यास मार्ग में जाने की सभी विशिष्ट साधनाएं इन्होंने सम्पन्न की थी। जिनके फलस्वरूप इन्होंने संन्यास मार्ग के आगामी अनुयाईयों के लिए एक उज्ज्वल पथ प्रशस्त किया। एक योगी पुरुष के व्यक्तित्व में जो विशिष्ट लक्ष्य परिलक्षित होते है, स्वामी जी का व्यक्तित्व उन सभी विशिष्टताओं से परिपूर्ण था। जगह–जगह घूमते हुए स्वामी जी जनता से ये ही कहते थे कि अपनी भलाई चाहते हो तो

नीच–ऊँच, छोटे–बड़े इत्यादि भेद और द्वेष भाव को त्यागकर संगठित हो जाओ, वेद की शिक्षा पर चलो और सदाचारी बनकर एक सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान निराकार ब्रह्म की उपासना करो।

स्वामी जी पौराणिक दन्तकथाओं को नहीं मानते थे। वे केवल वेद और वेद के अनुकूल आर्ष ग्रन्थों को ही प्रमाण कोटि में रखते थे। स्वामी दयानंद ने यह स्वीकार किया है, कि भारत का पुनरूत्थान और आधुनिकीकरण भारत की प्राचीन वैदिक संस्कृति के आधार पर ही संभव है। स्वामी दयानंद को भारतीय समाज का बहुत गहरा ज्ञान था। और भारतीय परम्परा का भी अध्ययन उन्होंने बहुत बारीकी से किया था। स्वामी दयानंद प्रखर प्रतिभा और गहरी अंर्तदृष्टि के पुरुष थे, साथ ही उनमें मानवीय संवेदना की बहुत व्यापक और आंतरिक क्षमता थी। इसलिये घर से बाहर निकलने के बाद लगभग चौबीस वर्ष उन्होंने देश के स्थान–स्थान में घुमते हुए बिताये और सारे भारतीय समाज का व्यापक अनुभव प्राप्त किये। अपनी सूक्ष्म संवेदना के कारण ही उनको भारतीय समाज में जीवन का यथार्थ ज्ञान हो सका। मूलशंकर घर से निकले थे संसार के बन्धनों से मुक्त होकर शुद्धस्वरूप शिव की खोज में और उनको मिला दुःखी, संतप्त, हीन भाव से ग्रस्त, अनेक कुरीतियों, पाखण्डों, दुराचारों से पीड़ित, कुंठित, गतिरूद्ध भारतीय समाज और तब वे व्यक्तिगत मोक्ष के मार्ग को भूलकर अपने समाज के उद्धार में प्राण–पण से लग गये।

एक ओर दयानंद जी को तत्कालीन भारतीय समाज की यथार्थ स्थिति का सही ज्ञान था, तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति का उन्होंने मंथन भी किया था। स्वामी विरजानंद ने आर्षग्रंथों और वैदिक संस्कृति की ओर ध्यान आकर्षित करके उनको दिशा–निर्देश दिया था। अपने परिभ्रमण काल में उन्होंने देखा की देश के समाज को अवरूद्ध करने वाला वर्ग पौराणिको, पुरोहितो, साम्प्रदायिकों तथा महन्तो का है। उस प्रज्ञाचक्षु संन्यासी ने यह समझ लिया था कि वैदिक काल के बाद के ब्राह्मण और पुरोहित वर्गों ने स्वार्थवश और शक्ति की प्रतिद्वंदिता में शुद्ध आर्षग्रन्थों की मनमानी टिकाएँ और व्याख्याएँ की हैं। अनेक समानान्तर ग्रन्थों की रचना की है। इन संहिताओं, स्मृतियो, उपनिषदों और पुराणों में अपने स्वार्थ–सिद्धि के नियमों और सिद्धान्तों का वर्णन कियागया है। इतना ही नहीं, मनमाने ढंग से आर्ष गन्थों में प्रक्षेप भी किये गये।

स्वामी दयानन्द ने वेदों के प्रामाण्य पर ही यह घोषित किया कि जो हमारे विवेक को स्वीकार्य नहीं, उसके त्याग में हम को एक क्षण का विलम्ब नहीं करना चाहिए। यदि वेदों में ज्ञान के बदले अज्ञान है, मानवीय उच्च मूल्यों के बजाय घोर हिंसा–वृत्ति, भोगवाद और यथार्थ की उपासना है तो उनको अस्वीकार कर देना चाहिए। (उन्होंने निघण्टु, निरूक्त अष्टाध्यायी और महाभाष्य जैसे व्याकरण ग्रन्थों के आश्रय से वेद–मंत्रों की सुसंगत और व्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत की) इस दृष्टि से गहन अध्ययन करने के बाद उन्होंने घोषित किया की वेद, वैदिक साहित्य और अन्य आर्ष ग्रन्थ ही प्रमाण्य है, उनमें सत्य–ज्ञान सुरक्षित है, ऐसे में भारतीय संस्कृति के उच्चतम मूल्य सुरक्षित हैं और ये मूल्य भारतीय समाज और व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षों को मौलिक सृजनशीलता से गतिशील करने में सक्षम रहे हैं। स्वमी दयानंद ने भारतीय समाज में व्याप्त निष्क्रियता, अन्धविश्वास और स्वार्थपरता के मूल में मध्यगुण के पुराणपंथ को माना है। स्वामी दयानंद के अनुसार वैदिक धर्म परमब्रह्म परमेश्वर की उपासना का विधान है, परन्तु पुराणपंथियों ने उसके स्थान पर अनेकेश्वरवाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, देवी–देवताओं की पूजा और यहाँ तक उपदेवताओं की पूजा प्रचलित करके अपना स्वार्थ सि़द्ध किया। वेद समर्थित समाज में चार वर्णों की व्याख्या

है, और यह व्यवस्था कर्म के आधार पर थी। इसमें ऊँच–नीच तथा छुआछूत का अन्तर नहीं था। दयानंद जी के अनुसार – व्यक्ति अपने विकास में समाज की सहायता पाता है, अतः उसे समाज को चुकाना भी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति पर स्वस्थ वंश परम्परा चलाने, ज्ञानकी परम्पराओं को आगे बढ़ाने, प्राणिमात्र की सेवा और सहायता करने तथा आध्यात्मिक जीवन को अग्रसर करने का दायित्व है। इन विभिन्न दायित्वों को पूरा किए बिना कोई व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता।

स्वामी दयानंद ने मध्ययुग के व्यक्तिपरक धर्म, दर्शन साधना तथा अध्यात्म को पुनः वैदिक समाज के आधार पर प्रतिष्ठित किया। मध्ययुगीन अद्वैत तथा अद्वैत आधारित दर्शनों को अस्वीकार कर उन्होंने वैदिक द्वैतवाद की स्थापना की। एक परम ब्रह्म परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त शाश्वत, अनादि, अनन्त सत्यस्वरूप है। वह हम जीवों का परमपिता है, और पालन पोषण संरक्षण करने वाला है। वस्तुतः इस प्रकार की अवधारणा में व्यक्ति और समाज के संबंधों का सुंदर स्वरूप सुरक्षित है। इसी कारण दयानंद जी ने ज्ञान और भक्ति के सूक्ष्म चिंतन और अनुभव के स्तर पर विकसित होने वाले आत्मा और ब्रम्ह के अद्वैतपरक भेदाभेद को महत्व नहीं दिया, वरन् उसे अस्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया कि जब तक मध्ययुगीन मूल्यों, स्थापनाओं, मान्यताओं, जीवन पद्धतियों और परम्पराओं का खुला विरोध नहीं किया जायेगा, और भारतीय समाज को इनकी कुंठाओ, जड़ताओ और स्वार्थपरताओं से पूर्णतः मुक्त नहीं किया जायेगा, तब तक इस समाज के पुनर्जीवित होने और फिर से मौलिक सर्जनशीलता से गतिशील होने का कोई अवसर नहीं है। इसी कारण उन्होंने इन सब पर कस कर प्रहार किया है और इस से उन्होंने कभी किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं किया। वस्तुतः अपनी गहरी अंर्तदृष्टि से उन्होंने समझ लिया था कि विखण्डित और कुण्ठित परम्परा से मुक्त होने के एक मात्र उपाय है उसको तोड़कर फेंक देना। उनके जैसा उदार मानवतावादी नेता दूसरा नहीं रहा है। उन्होंने धर्म की व्यापक परिकल्पना भारतीय समाज के सामने रखी। वे धार्मिक सम्प्रदायों को अस्वीकार कर शुद्ध मानव मूल्यों पर प्रतिष्ठित धर्म को स्वीकार करने के पक्ष में रहे है। इस दृष्टि से वे भारतीय संतो के समान उदार और व्यापक दृष्टिकोण के रहे। पर संतों का दृष्टिकोण मुख्यतः आध्यात्मिक जीवन तक सीमित था। जबकि दयानंद के सामने भारतीय समाज के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य था।

इस्लाम और ईसाई धर्म की आलोचना उन्होंने प्रासंगिक रूप में की है, क्योंकि ये हिन्दुओं को मत परिवर्तन करने के लिए प्रेरित करते थे। उन्होंने संसार के सामने दो महत्वपूर्ण बाते रखीं –

1 मानवीय मूल्यों की सृजनशीलता से प्रेरित एक ही धर्म है।
2 यह धर्म संसार के सभी धर्मों के मूल में निहित है।

उनके लिए आर्य शब्द किसी साम्प्रदायिक धर्म का पर्याय कभी नहीं बना, यह उनके द्वारा आर्य समाज की स्थापना से भी सिद्ध है। आर्य समाज कभी किसी धर्म का रूप नहीं ले सका यह इनकी इच्छा और विश्वास का ही परिणाम था।

स्वामी दयानंद ने समाज में स्त्री के स्थान पर विशष ध्यान दिया था। वे पुरुष के साथ नारी की समानता का पूर्ण समर्थन करते हैं। भारतीय समाज की हीन अवस्था का एक महत्वपूर्ण कारण उनके अनुसार यह भी है, कि इस समाज में नारी का सम्मानपूर्ण स्थान नहीं रह गया है। वे नारी और पुरुषों के अधिकारों के पूर्ण समानता स्वीकार करते है, स्त्री

अशिक्षा, बालविवाह, विधवा प्रथा तथा वेश्या वृत्ति आदि अनेक समस्याओं को दयानंद ने उठाया उनका उचित समाधान प्रस्तुत किया था। जिस साहस और दृढ़ता के साथ उन्होंने इन समस्याओं का समाधान समाज के सामने रखा था। उससे उनके व्यक्तित्व की क्रांतिकारिता लक्षित होती है। उनका द्रष्टा रूप भी सामने आता है। स्वामी दयानंद ने लौकिक तथा अध्यात्मिक जीवन के मूल्यों के पारस्परिक अंतः संबंध को जितनी स्पष्टता के साथ प्रतिपादित और विवेचित किया है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। स्वामी दयानंद जी ने संस्कृति के इसी रूप को परिकल्पना की है, और उनकी दृष्टि में यही भारतीय संस्कृति का सच्चा स्वरूप है।

स्वामी दयानंद आधुनिक युग के ऋषि और द्रष्टा थे, उनमें जितनी गहरी यथार्थ की पकड़ थी, उतनी ही व्यापक इतिहास और परम्परा को ग्रहण करने की क्षमता भी। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने समाज की प्रक्रिया को समझा, उसके भविष्य की संभावनाओं को पहचाना और फिर उसको एक स्वस्थ, सप्रमाण और सृजनशील समाज रचना की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया। उनके उपदेशों का सार कुछ इस तरह समझाा जा सकता है–

1 ईश्वर को वही प्रिय है जिसको सत्य प्रिय है, जो समाज का आचरण करता है, सत्य ही ज्ञान का सबसे बड़ा दर्जा है।
2 न्यायप्रियता को कभी हाथ से न जाने दो। किसी का अनुचित पक्षपात मत करो और न धर्मान्धता को अपने हृदय में स्थान दो।
3 मनुष्य मात्र से प्रेम करना चाहिए। प्रेम मनुष्य का जन्मसिद्ध धर्म है।
4 प्राणिमात्र पर दया दिखानी चाहिए।
5 स्त्री जाति पर दया दिखानी चाहिए।
6 गायकी रक्षा और सेवा करनी चाहिए।
7 किसी का मन दुःखाना संसार का सबसे बड़ा पाप है।
8 आत्मा नित्य और अविनाशी है। इसको कोई नहीं मार सकता।
9 अनाथों, विधवाओं तथा दीन–दुखीजनों की सहायकता और सामाजिक सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए।
10 भारत वासियों के लिए एक भाषा, एक वेश और एक ही भाव होना चाहिए।
11 आर्य भाषा हिंदी ही भारत की राष्ट्र भाषा है।

अभ्यास प्रश्न भाग : 3

1. **बहुविकल्पीय प्रश्न –**

क : मौलिक रूप से दयानंद किस दर्शन के साधक थे ?

(अ) सांख्य (स) न्याय
(ब) वेदान्त (द) योग

ख : दयानंद ने आजीवन किस आश्रम का पालन किया ?

(अ) ब्रह्मचर्य (स) वानप्रस्थ
(ब) गृहस्थ (द) संन्यास

ग : दयानंद किसकी शिक्षाओं पर चलने का उपदेश देते थे ?

(अ) पुराणों की (स) रामायण की

(ब) वेदों की (द) महाभारत

2. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

क : दयानंद केवल वेदों की ही .... कोटी में रखते थे ।

ख : दयानंद के अनुसार वैदिक धर्म .... की उपासना का विधान है।

ग : दयानंद ने समाज में .... के स्थान पर विशेष ध्यान दिया।

10.3.4 : देहत्याग :इस शीर्षक में हम जानेंगे कि किसी प्रकार दयानंद को मारने का षड़यंत्र रचा गया और किस प्रकार दयानंद ने मृत्यु का षड़यंत्र रचने वाले को भी क्षमादान देकर यह सिद्ध कर दिया की श्रेष्ठता ज्ञान में ही होती है। जोधपुर में 29 सितम्बर 1883 को रात के समय सोने के पूर्व स्वामी जी ने नित्य नियमानुसार जगन्नाथ से गरम दूध मंगवाकर पिया। दूध पीते हीं उन्हें पेट में जोर का दर्द उठा और उल्टियाँ आने लगी। वे जान गये कि दूध में जहर था। वे समझ गये कि यह घातक जहर किसी यौगिक क्रिया से निकलने वाला नहीं है। उन्होंने जगन्नाथ से कहा कि उसने विष देकर अच्छा काम नहीं किया, मुझे अभी बहुत से काम करने थे, मेरे बहुत सारे कार्य अभी अधूरे थे। अगर तू मुझे विष न देता तो अभी 100 वर्ष से भी अधिक जीवित रहता। इस घटना को ईश्वर की इच्छा कहकर वे चुप हो जाते हैं। जगन्नाथ को वे कुछ रुपये देकर नेपाल भाग जाने को कहते हैं, ताकि उसके प्राण बच जाएँ। जगन्नाथ महर्षि के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता है। अगले दिन स्वामी जी की हालत में सुधार न हुआ, दशा बिगड़ती जा रही थी। सभी भक्त जन जोधपुर में आते हैं, और वहां से उन्हें आबू पर्वत ले जाते हैं, अंत में लोग स्वामी जी को अजमेर ले आते हैं। वहां स्वामी जी ने समूदा जाने की इच्छा व्यक्त की, सन् 1883, 30 अक्टूबर महर्षि के जीवन का अंतिम दिवस था। उन्होंने कहा आज एक माह के पश्चात् मेरा अंतिम विश्राम का दिन है। उस दिन उन्होंने पवन नाई को बुलवाकर सिर मुंडवाया, नाखून कटवाये फिर तकिये के सहारे पलंग पर लेट गये और भक्तों से बात करने लगे। एक–एक भक्त को आशीर्वाद स्वरूप द्रव्य, मुद्रा, वस्तु देकर सबसे विदाई ले रहे थे। सभी भक्तजनों के हृदय के टुकड़े–टुकड़े हुए जा रहे थे। स्वामी जी सबको प्रेम पूर्ण नेत्रों से देखकर सबका ढाढस बंधा रहे थे। 5.30 बजे स्वामी जी ने चारों ओर के द्वार–खिड़कियाँ खुलवा दिए। सभी उपस्थित लोगों को अपने पीछे खड़ा करवाया तथा दिन, तिथि, वार पूछा एक ने बताया कि आज कृष्ण पक्ष का अंत, शुक्लपक्ष का आदि, अमावस्या दीपमालिका संवत् 1940 वि0 दिन मंगलवार है। यह सुनकर उन्होंने अपनी दृष्टि चारों ओर घुमाई और फिर गंभीर ध्वनि से वेद पाठ आरम्भ किया, उनकी ध्वनि में कोई निर्बलता प्रतीत नहीं हो रही थी। फिर आर्य भाषा में प्रार्थना करके गायत्री मंत्र का जप करने लगे। जप करते करते वे मौन हो गये लंबे समय तक वे समाधिस्थ रहे फिर आँखे खोलकर कहने लगे ''हे दयामय हे सर्वशक्तिमान ईश्वर तेरी यही इच्छा है, सचमुच तेरी यही इच्छा है। परमात्म देव ! तेरी इच्छा पूर्ण हो । अहा! तूने अच्छी लीला की।'' फिर करवट लेकर एक गहरा श्वास भीतर लेकर ऊँकार का उच्चारण करके हमेशा के लिए मौन हो गए। इस प्रकार आर्त भारत के भाग्य का भानु दयानंद कार्तिक अमावस्या संवत् 1940 वि0 मंगलवार सायं 6 बजे एकाएक कालकराल रूप अस्तांचल की ओट में हो गया।

अभ्यास प्रश्न भाग : 4

1. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

क : अंत में भक्त दयानंद को .... ले गये।
ख : .... अक्टूबर सन् .... दयानंद का जीवन का अंतिम दिवस था।
ग : अंतिम समय में दयानंद प्रार्थना करके .... का जप करने लगे।

10.4 : स्वामी विवेकानंद का जीवन परिचय :

भारत विचारों और नवीन परम्पराओं का देश रहा है। यहाँ विचारों की स्वतंत्रता ने वैदिक काल से ही मानव मात्र के विकास में अहम भूमिका निभाई है। किन्तु ज्योंहि समय बितता जाता है त्योंहि विचारों में शिथिलता और परम्पराओं के पालन में कमी आने लगती है। जिससे मानव का विकास बाधित होने लगता है, ऐसे ही समय इस भारत भूमि पर विशिष्ट पुरुषों का आगमन होता है। जो मानव को विकास के लिए पुर्नजाग्रत करते हैं। पुर्नजागरण के इस दौर में ही भारत की भूमि पर एक ऐसे व्यक्ति का आगमन हुआ। जिसका नाम था स्वामी विवेकानंद उनके जन्म आदि के विवरण पर हम आगे चर्चा करेंगे यहाँ पर हमारा उद्देश्य स्वामी विवेकानन्द का विशेष परिचय आपको स्पष्ट करना है।

जिस समय स्वामी विवेकानन्द का भारत भूमि पर शुभागमन हुआ उस समय पूरा राष्ट्र स्वतंत्रता कि प्राप्ति के लिए छटपटा रहा था। भारत के सभी राज्यों से कुछ विशेष राष्ट्र नेता राष्ट्र के नागरिकों को राष्ट्र भक्ति के लिए प्रेरित कर रहे थे। वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो स्वतंत्रता के इस संग्राम से अलग भारतीय जनमानस में अध्यात्मिक प्रवृत्ति के उत्थान के लिए कार्य कर रहे थे। स्वामी विवेकानन्द इन्हीं राष्ट्र संतो के अग्रदूत के रूप में भारतीय समाज को आध्यात्मिक पथ पर प्रेरित कर रहे थे। बंगाल की भूमि को धन्य करते हुए यह महामानव पूरे विश्व को धन्य कर गया। अपने उन्तालीस वर्ष (1863–1902 ई.) के संक्षिप्त जीवन में स्वामी विवेकानन्द भारत को अपने तेजस्वी विचारों की भेंट धरोहर के रूप में दे गये।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि विवेकानंद के प्रारम्भिक जीवन की शुरुआत एक साधारण सामाजिक परिवेश से शुरू हुई थी। उनके जीवन में वे सभी कष्ट आये जो एक सामान्य व्यक्ति के जीवन में प्रायः आते हैं। युवावस्था में आते ही उनके पिता का देहान्त हो गया और तभी से विवेकानंद के जीवन का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। संन्यास से पूर्व विवेकानंद का नाम नरेन्द्र था। यह नरेन्द्र नाम का बालक कुशाग्रबुद्धि से सम्पन्न ओर एकाग्रचित्त प्रवृत्ति का था। शिक्षा के क्षेत्र के साथ ही नरेन्द्र खेल कूद ओर व्यायाम पर भी पूरा ध्यान दिया करता था। परन्तु ये तो सामान्य बुद्धि के बालकों के गुण है। नरेन्द्र तो विशिष्ट बालक था। अतः उसमें कुछ विशिष्ट गुण भी थे। नरेन्द्र बाल्यावस्था से ही ध्यान सिद्ध था। जिस उम्र में बच्चे का मन अति चंचल होता है उस उम्र में नरेन्द्र स्थिर होकर

ध्यान किया करता था। नरेन्द्र की बहुमुखी प्रतिभा का एक प्रमाण संगीत में उनकी अभिरूचि भी थी। उन्होंने संगीत वाद्य एवं स्वर दोनों पर अपनी पकड़ को मजबूत किया हुआ था। इसके लिए उन्होंने एक मुसलमान शिक्षक से हिन्दी, उर्दू और फारसी के अनेक भक्तिमूलक गाने सीखे।

नरेन्द्र के पिता एक प्रतिष्ठित वकील थे साथ ही एक सम्मानित भारतीय अतः नरेन्द्र पर अपने पिता का बहुत अधिक प्रभाव था। वह अपनी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए हमेशा अपने पिता से प्रश्न किया करते थे। जैसे एक बार उन्होंने अपने पिता से पूछा पिता जी मुझे जगत में कैसा रहना उचित है? तब नरेन्द्र के पिता ने उत्तर दिया 'कभी किसी की बात पर विस्मित न होना' पिता के द्वारा दिया गया यह उत्तर नरेन्द्र के जीवन का सिद्धांत बन गया और आजीवन वह बिना विस्मित हुए सत्य की खोज करते रहे।

समय बीतने के साथ ही साथ नरेन्द्र की शिक्षा का स्तर भी बढ़ता गया और उन्होंने उच्च शिक्षा हासिल करने के लिए बी.ए. में दाखिला ले लिया किन्तु विधाता के काल चक्र के अनुसार इसी समय नरेन्द्र के पिता का देहान्त हो गया। जीवन के इस भौतिकतावादी संघर्ष के बीच ही नरेन्द्र की मुलाकात उनके गुरु श्री रामकृष्ण देव से हुए। यही वह दिवस था जब नरेन्द्र, नरेन्द्र न रहकर विवेकानन्द बनने के मार्ग पर चलने को प्रशस्त हुआ। यह पल मानो ऐसा था। जैसे एक अध्यात्मिक नदी का संगम अध्यात्मि के सागर से हो गया हो। नरेन्द्र रामकृष्ण देव में और रामकृष्ण देव नरेन्द्र में मानों समा गये। यहीं से नरेद्र की विवेकानन्द रूपी महामानव के बनने की शुरूआत होती है।

समकालीन योगियों की साधना एवं साधनात्मक जीवन आधारित इस इकाई में श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य व भारतीय अध्यात्म जगत के महान प्रणेता, 18 वीं सदी में अवतरित भारतीय संस्कृति, अध्यात्म दर्शन एवं योग विद्या के उज्जवल नक्षत्र स्वामी विवेकानंद के योग जीवन की चर्चा की जा रही है। इसके अंतर्गत स्वामी जी के जीवन का अद्योपान्त संक्षिप्त परिचय, उनके योग जीवन तथा यौगिक व्यक्तित्व का अध्ययन किया जा रहा है।

अठ्ठारवीं शताब्दी के अंतिम दशक और उन्नीसवीं शताब्दी के पहले दशक के दौरान अमेरिका और भारतवर्ष में स्वामी विवेकानन्द के प्रेरणास्पद चरित, उनके प्राच्य व पाश्चात्य सभ्यता के विशद ज्ञान गहन आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि, प्रभावशाली वार्तालाप उदार मानवीय सहानुभूति, विविधतापूर्ण व्यक्तित्व और सुन्दर शरीर सौष्ठव ने उनके सम्पर्क में आने वाले अनेक प्रकार के विश्व भर के लोगों में एक अप्रतिहत आकर्षण की सृष्टि की थी। जिन लोगों को एक बार भी विवेकानंद को देखने या सुनने का मौका मिला था, वे आजीवन उनकी स्मृति को अपने अन्तर में सजोये हुए रहे।

श्री रामकृष्ण के संदेश वाहक के रूप में स्वामी जी ने संपूर्ण विश्व में प्राच्य और पाश्चात्य विचार धारा में एक क्रान्ति ला दी, समाज में जिस समय ऊँच–नीच का भेद असहनीय हो उठता है, तब मनुष्य समाज को ध्वस्त कर पुनः गढ़ने की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वामी विवेकानंद जैसे महापुरुषों का आगमन धरती पर होता है। तो आइये अब क्रम से इस महामानव की जीवनी को समझते है, और इसके जीवन दर्शन को अपने जीवन में अपनाने की शुरुआत भी करते है। विवेकानन्द के आह्वान पर हम सभी विवेकानंद बनने का प्रयास करते हैं।

अभ्यास प्रश्न भाग : 5

1. **रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।**

(क) स्वामी विवेकानंद का जीवनकाल .... वर्ष का था।

(ख) स्वामी विवेकानंद के बचपन का नाम .... था।

(ग) नरेन्द्र के पिता एक प्रतिष्ठत .... थे।

2. **लघुउत्तरीय प्रश्न –**

(क) स्वामी विवेकानंद का जन्म भारत के किस प्रांत में हुआ था ?

(ख) नरेन्द्र के प्रश्न ''पिता जी मुझे जगत में कैसे रहना उचित है ? का क्या उत्तर मिला ?

(ग) स्वामी विवेकानंद के गुरु कौन थे ?

10.4.1 : प्रारम्भिक जीवन : स्वामी विवेकानन्द का जन्म कलकत्ते के सिमुलिया मौहल्ले में 12 जनवरी 1863 ई. में प्रातः 6 बजकर 49 मिनट में हुआ था। हिन्दू पंचाग के अनुसार उस दिन पूरे भारत में मकर संक्राति का पर्व मनाया जा रहा था। स्वामी विवेकानन्द की माता भुवनेश्वरी देवी ने वाराणसी के प्रसिद्ध वीरेश्वर शिव के मंदिर में पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद मांगा था। जिससे उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई, इससे प्रभावित हो भुवनेश्वरी देवी ने अपने पुत्र का नाम वीरेश्वर रख दिया। किन्तु बालक का नामकरण नरेन्द्र दत्त के रूप में हुआ। प्रेम से संबंधि उन्हें 'नरेन' कहा करते थे। परन्तु उनकी माता उन्हें 'बिले' नाम से सम्बोधित करती थी।

नरेन्द्र के पिता विश्वनाथ दत्त कलकत्ता उच्च न्यायालय में अधिवक्ता थे। वकालत से विश्वनाथ दत्त को अच्छी आय होती थी। अतः उन्होंने अपने घर में विलासित की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रखी थी। विश्वनाथ दत्त धार्मिक आडम्बरों के प्रति अविश्वास का भाव रखते थे। वहीं दूसरी ओर नरेन्द्र की माता भुवनेश्वरी देवी का अधिकतर समय पूजापाठ में व्यतीत होता था। रामायण और महाभारत में उनकी विशेष रूची थी। अतः वे नरेन्द्र को भी इन दोनों महाग्रन्थों की कहानीयाँ सुनाया करती थी।

यह हम पहले भी बता चुके हैं कि नरेन्द्र बाल्यवस्था से ही ध्यान सिद्ध बालक थे। जब वह आंखे मूंधते तो उन्हें अपनी भौहों के बीच निरन्तर परिवर्तनशील रंगों का एक ज्योति बिन्दु दीख पड़ता था। जो निरन्तर विस्तृत होता जाता था। एक बार उन्हें ध्यान में दिव्य पुरुष के दर्शन हुए बाद में विवेकानंद ने उन्हें बुद्ध का दर्शन बताया था। 6 वर्ष की आयु में नरेन्द्र को प्राथमिक विद्यालय में प्रवेश दिलाया गया। किन्तु विद्यालय का माहौल अच्छा न होने के कारण नरेन्द्र के माता पिता ने उनके शिक्षा दिक्षा की व्यवस्था घर पर कर दी। शीघ्र ही नरेन्द्र ने अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय देते हुए संस्कृत व्याकरण एवं अन्य भाषाओं पर अपनी पकड़ मजबूत कर ली।

1870 ई में नरेन्द्र जब सात वर्ष के हुए तो उनका नाम उच्च विद्यालय में लिखा दिया गया। यहाँ पर भी अपने बुद्धि कौशल से उन्होंने अपने सहपाठीयों ओर गुरुजनों को मोहित कर दिया। उन्होंने विद्यालय में ही अपने साथियों के साथ मिलकर एक नाटक कम्पनी ओर एक व्यायामशाला की स्थापना की तथा अपने मित्रों के साथ तलवार चलाना, कुश्ती लड़ना तथा नाव चलाना जैसे अन्य मेहनत कश खेल सीखे उनके मित्र उनके साहस, सच्चाई एवं सरलता की सराहना किया करते थे। नरेन्द्र बचपन से ही अन्धविश्वास से दूर थे। एक दिन नरेन्द्र के साथियों ने एक पेड़ पर ब्रह्मदैत्य की बात कही परन्तु इसका नरेन्द्र के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और यह सिद्ध करने के लिए की ब्रह्मदैत्य के होने की बात झूठी है, वह उस पेड़ पर चढ़ गये। नरेन्द्र प्रत्येक चीज को अनुभव के आधार पर अपनाते थे। किशोरावस्था में प्रवेश करते ही नरेन्द्र का बौद्धिक जीवन स्थिर होने लगा

बालको सा उनका चंचल मन अब शान्त होने लगा। अब वे इतिहास एवं साहित्य के ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन करने लगे। तथा संगीत को उन्होंने दिल बहलाव का प्रमुख साधन बना लिया। सन् 1879 ई. में उन्होने हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उच्च शिक्षा के लिए 1879 ई. में नरेन्द्र ने कलकत्ते के प्रेसीडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया। फिर एक वर्ष बाद उन्होंने स्कॉटिश जनरल मिशनरी बोर्ड द्वारा स्थापित जनरल एसेम्बली इन्स्टीट्यूशन में दाखिला ले लिया। यही संस्था बाद में स्कॉटिश चर्च कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कॉलेज में प्रथम दो वर्षों में उन्होंने पाश्चात्य तर्कशास्त्र का अध्ययन किया। फिर वे पाश्चात्य दर्शन तथा यूरोप के प्राचीन एवं अर्वाचीन इतिहास का गहन अध्ययन करने लगे। उनकी स्मरणशक्ति अद्भुत थी। ग्रीन द्वारा लिखित अंग्रेजी का इतिहास उन्होंने मात्र तीन दिन में समझ लिया। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि कॉलेज के प्राचार्य तथा अंग्रेजी साहित्य के प्रधानाध्यापक हेस्टी साहब ने नरेन्द्र की प्रशंसा में कहा कि 'नरेन्द्र एक वास्तविक प्रतिभाशाली युवक है। मैंने दूर–दूर की यात्रा की है परन्तु ऐसी प्रतिभा एवं सम्भावनाओं वाला लड़का कहीं भी नहीं मिला यहाँ तक की जर्मन विश्वविद्यालय के दर्शन के छात्रों में भी कोई नहीं दिखा वह जीवन में निश्चय ही कुछ कर दिखायेगा।' नरेन्द्र अपनी उम्र के अन्य युवाओं से अलग आध्यात्मिक प्रवृत्ति के युवा थे। एक बार प्रो0 हेस्टी ने वर्ड्सवर्थ की कविता जीम म्गबनतेपवद (भ्रमण) की व्याख्या करते हुए समाधि की चर्चा की और बताया की एक बार दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण को ही उन्होंने समाधि के उच्च भाव में स्थित देखा है, उनके पास जाकर ही समाधि को भलि प्रकार से समझा जा सकता है।

प्रो0 हेस्टी के इस कथन को सुनते ही नरेन्द्र के मन में मानों एक तूफान उमड़ पड़ा। और वे श्री रामकृष्ण परमहंस से मिलने के लिए निरन्तर प्रयत्न करने लगे। तब नवम्बर 1881 में वो शुभ घड़ी आ गयी जब श्री रामकृष्ण और नरेन्द्र का मिलन हुआ। रामकृष्ण परमहंस के भक्त सरेन्द्रनाथ मित्र के घर नरेन्द्र को रामकृष्ण के सम्मुख भजन गाने को प्रस्तुत किया गया। ज्यों ही रामकृष्ण ने नरेन्द्र को देखा त्यों ही नरेन्द्र का विवेकानंद में परिमार्जन शुरू हो गया और नरेन्द्र उसी क्षण से विवेकानंद बनने के पथ पर अग्रसर हो गया। इस विराट वट वृक्ष के छांव में नरेन्द्र ने असीम आध्यात्मिक उपलब्धियों को प्राप्त किया।

अभ्यास प्रश्न भाग : 6

1. **एक शब्द में उत्तर दो।**
   (क) स्वामी विवेकानंद के जन्म के दिन हिन्दू पंचाग के अनुसार कौन सा पर्व था ?
   (ख) स्वामी विवेकानंद की माता का क्या नाम था ?
   (ग) नरेन्द्र की माता उन्हें किस नाम से पुकारती थी ?
2. **सत्य/असत्य का चुनाव करें।**

(क) स्वामी विवेकानंद का प्रारम्भिक नाम वीरेश्वर था। सत्य/असत्य

(ख) नवम्बर 1881 को नरेन्द्र पहली बार रामकृष्ण परमहंस से मिले। सत्य/असत्य

(ग)नरेन्द्र को तलवार चलाना, कुश्ती लड़ना और नाव चालाना अच्छा लगता था। सत्य/असत्य

10.4.2 : श्री रामकृष्ण एवं विवेकानंद :

आईये अब गुरु शिष्य के दिव्य संबंध पर प्रकाश डालते हैं, स्वामी विवेकानंद प्रारम्भ से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे। स्वामी जी के ऊपर ब्रह्म समाज का काफी प्रभाव पड़ा था। फलतः वे आध्यात्मिक विकास के लिए एक के बाद दूसरे धार्मिक व्यक्ति से मिलते रहे पर किसी ने उनकी जिज्ञासा शान्त न की। स्वामी विवेकानंद के मन में विचारों का द्वंद्व चल ही रहा था कि उनके जीवन में एक महापुरुष का उदय हो गया जिसे संसार रामकृष्ण परमहंस के नाम से जानता है।

एक बार नेरन्द्र (स्वामी विवेकानंद) के प्रधानाचार्य विलियम हेस्टी कक्षा में विलियम वर्ड्सवर्थ की कविता को पढ़ा रहे थे। कविता का सार बताते हुए मिस्टर हेस्टी ने बताया कि दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण ने अपनी साधना, लगन, त्याग, और तपस्या से ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है। युवक नरेन्द्र स्वाभाव से जिज्ञासु थे। अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे दक्षिणेश्वर जायेंगे और श्रीरामकृष्ण से साक्षात्कार करेंगे।

1881 में अपने कुछ साथियों के साथ स्वामी जी दक्षिणेश्वर पहुँचे तथा उन्होंने श्री रामकृष्ण के दर्शन किए। यह मिलन उनके जीवन का संक्रांति काल था। जब नरेन्द्र रामकृष्ण से मिले तो रामकृष्ण ने अपने ओज, तप और साधना के बल से नरेन्द्र की आध्यात्मिक साधना को तुरन्त पहचान लिया और का कि ''मै जानता हूँ आप स्वयं नारायण के अवतार हैं। जिन्होंने मानवता का उद्धार करने के लिए इस पृथ्वी पर जन्म लिया हैं। नरेन्द्र भी श्री रामकृष्ण के व्यवहार को देखकर आश्चर्य चकित हो गये। क्योंकि उनके चेहरे से ऐसा प्रतीत होता था कि वे विक्षिप्त हैं। नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण जी से पूछा ''क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है।'' तब श्री रामकृष्ण देव ने भी तेजस्विता पूर्ण वाणी में उत्तर देते हुए कहा ''हाँ मैंने ईश्वर का साक्षात्कार किया है। जैसे मैं तुम्हारे साथ बात कर रहा हूँ।''

इस उत्तर से नेरन्द्र प्रभावित हुए पर रामकृष्ण को देखकर उन पर विश्वास नहीं कर सके। कुछ समय बाद नब नेरन्द्र दोबारा दक्षिणेश्वर गए, तब श्री रामकृष्ण ने उन्हें स्नेह से पुकारा और अपने पास बिठाया। नरेन्द्र को लगा कि परमहंस के स्पर्श–मात्र से उनके भीतर एक नई अनुभूति पैदा हुई है। पिता के देहान्त के बाद घर की सारी जिम्मेदारी नरेन्द्र के ऊपर आ गई लेकिन नरेन्द्र ने अपना धैर्य नहीं छोड़ा। विपत्तियों से जूझते हुए परिवार के दिन बीतने लगे। एक दिन निराश होकर नेरन्द्र श्री रामकृष्ण से मिलने दक्षिणेश्वर पहुँचे और असीम विश्वास के साथ कहा महाराज ''मेरी माँ और भाई बहनों को कुछ अन्न खाने को मिल सके इसके लिए आप अपनी काली माता से कुछ अनुरोध कर दीजिए। श्रीरामकृष्ण ने कहा अच्छा आज मंगलवार है। आज रात को काली मंदिर में जाकर माँ को प्रणाम करके तू जो कुछ माँगेगा माँ तुझे वहीं देगी''। नेरन्द्र ने सोचा की श्री रामकृष्ण की जगन्माता क्या चीज है? इसकी भी आज परीक्षा कर देखना चाहिए। रात का प्रथम प्रहर बीत जाने के बाद वे काली मंदिर की ओर चले और उन्होंने अपने मन में सोचा कि आज श्री रामकृष्ण की कृपा से मेरे परिवार के कष्टों का अन्त होगा। तभी उन्होंने देखा कि जगदम्बा के प्रताप से मंदिर आलोकित है तथा पत्थर की मूर्ति होकर जगदम्बा माँ अपने वास्तविक रूप में आकर हाथ फैला दया के साथ स्नेह का वरदान दे रही है। यह अद्भुत रूप देखकर नरेन्द्र सब कुछ भूल गये और भक्ति में विलीन होकर माँ से प्रार्थना करने लगे, माँ मुझे विवके दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, जिससे माता मैं तुम्हारी कृपा से सदा ही तुम्हे देख सकूँ''।

नरेन्द्र मंदिर से लौट गये। श्री रामकृष्ण के पूछने पर क्या माँगा उन्हें अपने पूर्व संकल्प का स्मरण हो आया वे श्री रामकृष्ण के आदेश पर पुनः मंदिर गए। लेकिन दूसरी और तीसरी बार भी वे अपने मुँह से कुछ न बोल पाए और न ही सांसारिक सुख की प्रार्थना कर सके क्योंकि नरेन्द्र का तो जन्म से ही वैराग्य की ओर झुकाव था। इसी दिन से नेरन्द्र के जीवन में एक नया अध्याय शुरू हुआ। एक दिन रामकृष्ण ने अपने युवा शिष्यों को संन्यास देने का संकल्प किया और शुभ दिन देखकर गेरूआ वस्त्र प्रदान किया।

एक दिन सायंकाल से समय ध्यान करते नरेन्द्र अप्रत्याशित रूप से निर्विकल्प समाधि में डूब गये। काफी देर पर समाधि टूटने पर उन्हें अनुभव हुआ की उनका मन उस स्थिति में सम्पूर्ण रूप से कामना शून्य था। पर एक अलौकिक शक्ति उन्हें उनकी इच्छा के विरूद्ध बाह्य संसार में उतार कर ला रही है। नरेन्द्र ने अनुभव किया कि उन्हें संसार में लोकमंगल के लिए कार्य करना है।

अपने महाप्रयाण से तीन दिन पूर्व रामकृष्ण परमहंस ने नरेन्द्र को स्पर्श करते हुए कहा कि आज मैंने अपना सर्वस्व तुझे दे दिया है। मैं फकीर बन गया हूँ, उस समय रामकृष्ण के स्पर्श मात्र से नरेन्द्र को समाधि के आनन्द की अनुभूति हुई। यह वह अनुभूति थी जिसे नेरन्द्र बरसों से प्राप्त करना चाहते थे। अब वह नरेन्द्र न होकर स्वामी विवेकानंद हो गये। अपने महाप्रयाण के दिन रामकृष्ण ने विवेकानंद को अपने पास बुलाया, पास आ कर विवेकानंद ने अपने गुरु से प्रश्न किया ही हे देव आप वास्तव में कौन हैं। तब रामकृष्ण ने उत्तर दिया जो राम है, और जो कृष्ण है, वहीं इस देह में रामकृष्ण है। यह सुनते ही विवेकानंद का रोम रोम अपार श्रद्धा से भर गया और तब से विवेकानंद अपना सर्वस्व अपने गुरु को समर्पित कर दिया।

अभ्यास प्रश्न भाग : 7

1. **बहुविकल्पीय प्रश्न –**

(क) नरेन्द्र पर प्रारम्भ में किस अध्यात्मिक संस्था का प्रभाव पड़ा।

(अ) ब्रह्म समाज (ब) युवा समाज

(स) आर्य समाज (द) जागृति समाज

(ख) ईश्वर के अस्तित्व संबंधित प्रश्न का सकारात्मक उत्तर नरेन्द्र को किसने दिया।

(अ) केशवचंद सेन (ब) सुरेन्द्र नाथ

(स) देवेन्द्र नाथ (द) रामकृष्ण परमहंस

2. **रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।**

(क) देवेन्द्र नाथ ने नरेन्द्र को .... करने की सलाह दी।

(ख) ‘‘जो राम है, जो कृष्ण है वही इस देह में .... है।

(ग) नरेन्द्र अपना सर्वस्व .... को समर्पित कर दिया।

10.4.3 : परिव्राजक के रूप में कर्मयोगी विवेकानंद :इस शीर्षक में हम जानेंगे कि स्वामी विवेकानंद के किस प्रकार देशभर में घूमकर कल्याण के कार्यो को संम्पादित किया किस प्रकार अपने साथ–साथ समाज के सभी वर्गो का परिमार्जन किया और कर्मयोग का महान पाठ आने वाली पीढ़ीयों के युवाओं के लिए छोड़ गए। तो आईये समझते हैं, स्वामी जी के परिव्राजक जीवन के बारे में – 1888 ईसवी में परिव्राजक विवेकानंद जब पहली बार अपनी अस्थाई तीर्थ यात्रा करने के लिए निकले बाद में 1890 ईसवी में जब वे अपने गुरु भाईयों

से विदा लेकर एक अज्ञात परिव्राजक के रूप में भ्रमण करने के लिए निकले तब तक उनके मन में एक विलक्षण परिवर्तन आ गया था।

इस अवधि में एक भारतीय संन्यासी की एकान्तवास की स्वाभाविक इच्छा के स्थान पर इस बात के पूर्वाभास ने उनके मन पर अधिकार कर लिया कि उनका यह जीवन केवल मुक्ति के लिए तपस्यारत किसी साधारण संन्यासी का जीवन नहीं, बल्कि उन्हें एक महान भाग्य का निर्माण करना है। भारत माता का निकट परिचय प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा तथा अपने चतुर्दिक उत्पीड़ित भारत की मौन पुकार सुनकर वे पहले हिन्दुओं के पवित्रतम तीर्थ नगरी वाराणसी गये। वहाँ वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान प्रमदा दास मित्र से मिले। हिन्दु धर्म और दर्शन की विविध समस्याओं के संबंध में उनसे स्वामी जी का पत्र व्यवहार चला करता था। वाराणसी से लखनऊ, आगरा, वृंदावन, हाथरस तथा ऋषिकेश गये तथा कुछ समय के लिए पुनः वराहनगर लौट आये। अपने प्रथम शिष्य श्री शरतचन्द्र गुप्ता (स्वामी संदानंद) से उनकी हाथरस में भेंट हुयी थी। उन्होंने उनसे अपने गुरु द्वारा भारत तथा सम्पूर्ण विश्व के आध्यात्मिक पुनरुत्थान का दायित्व सौंपे जाने के संबंध में बताया। शरत जो एक रेलवे कर्मचारी थे ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया तथा इस व्रत में सहायता करने के लिए अपने गुरु के साथ हो लिए।

22 जनवरी सन् 1890 में गाजीपुर के पवहारी बाबा से भेंट उनके जीवन की इस अवधि की एक महत्वपूर्ण घटना थी। उनके मन में पवहारी बाबा की साधुता के प्रति श्रद्धा का भाव आजीवन रहा। इस समय उनके मन में परमब्रह्म की शाश्वत शांति में डूबे रहने तथा धर्म जागरण के गुरु आदेश को चरितार्थ करने के कर्तव्य के बीच द्वन्द्व चल रहा था। उन्हें ऐसी आशा थी कि पवहारी बाबा निर्विकल्प समाधि की उच्चतम अवस्था में विमग्न होने में उनकी सहायता करेंगे और इसलिए वे उनका शिष्यत्व ग्रहण करने को भी उद्यत थे। इस दुर्दम्य आकर्षण के समक्ष झुकने की बलवती इच्छा उनके मन में 21 दिनों तक बनी रही, किंतु श्री रामकृष्ण के बार–बार दर्शन तथा पवहारी बाबा की अनिच्छा के कारण उन्होंने अपना यह संकल्प त्याग दिया।

जुलाई 1890 में स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण देव की लीलासहचरी श्री शारदादेवी से जो उनकी सहासमाधि के पश्चात् युवा संन्यासियों की आध्यात्मिक गुरु थी, विदाई ली। हिमालय के एकान्त में जाकर अकेले रहने की अनिवार्यता का अनुभव कर स्वयं को सभी बंधनों से मुक्त करने के लिए उन्होंने गुरु भाईयों से विदा ली। वे एक गोताखोर की तरह भारत रूपी महासागर में डूब गये तथा उस महासागर ने उन्हें ढक लिया उस महासागर में तैरते उतरते हजारों संन्यासियों के मध्य वे भी मात्र एक गेरूआधारी अनामि संन्यासी के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे।

इस भ्रमण काल में उन्होंने उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, हैदराबाद और केरल के अनेक धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थानों की यात्राएँ की। सभी जगह प्राचीन भारत का धार्मिक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गौरव उनके समक्ष प्रत्यक्ष होता रहा। मन की अशांति को दूर करने का उपाय ढूंढ़ते हुये एक राज्य से दूसरे राज्य में घूमते रहे। इस प्रकार अनेक राज्यों के राजाओं तथा प्रमुख व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई। इनमें खेतड़ी के राजा अजीत सिंह इनके घनिष्ठ मित्र तथा शिष्य हो गये। 1891 फरवरी को अलवर पहुँचे वहां उन्होंने पतंजलि के महाभाष्य का अध्ययन किया 1892 सितम्बर में पूना में महान राष्ट्रीय नेता बाल गंगाधर तिलक से उनकी भेंट हुई पहले तो स्वामी जी के प्रति उनका

भाव बहुत आदर पूर्ण नहीं था। किन्तु बाद में उनके प्रखर विचारों तथा पाण्डित्य से प्रभावित होकर तिलक ने उन्हें अपने घर अतिथि के रूप में रहने का आग्रह किया। पूना से वे बेलगांव आये तथा कुछ दिन वे वहां रहकर मैसूर तथा बैंगलोर चले गये। पाश्चात्य देशों में जाकर भारत के लिए सहायता प्राप्त करने के लिए तथा सनातम धर्म का प्रचार करने के कार्य में मैसूर के महाराजा ने उन्हें आर्थिक सहायता देने का आश्वासन दिया। मैसूर से वे त्रिवेन्द्रम तथा कन्याकुमारी गये। भारत वर्ष के भूत, भविष्य, वर्तमान तथा उसके पतन का कारण और उसके उत्थान के उपायों पर वे निरन्तर चिन्तन करते रहे। तब उन्होंने पाश्चात्य देशों की यात्रा पर जाने का कठोर निर्णय लिया जिससे कि वे भारत के निर्धनों के लिए सहायता प्राप्त कर सके और अपने जीवन के इस लक्ष्य को मूर्त रूप दे सकें।

इस निर्णय के साथ वे रामेश्वरम् व मदुरई गये। मदुरई में उनकी भेंट रामनाथ के राजा से हुई। राजा उनके निष्ठावान सहयोगी बन गये तथा उन्हें सहायता देने का आश्वासन दिया उसके बाद वे मद्रास गये जहां आलासिंगापैरूमल के नेतृत्व में युवकों का एक दल उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। उन्होंने इस दल को शिकागो में होने वाले विश्व धर्म महासभा में सम्मिलित होने के लिए अमेरिका जाने का अपना संकल्प बताया उनके युवा शिष्यों ने उनके इस कार्य के लिए धन संग्रह किया किन्तु स्वामी जी को इस संबंध में जगन्माता का निश्चित बोध नहीं हुआ अतः उन्होंने एकत्रित धनराशि को निर्धनों में बंटवा दिया। ठीक इसी समय स्वामी जी ने एक प्रतीकात्मक स्वप्न देखा उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण समुद्र पर चल रहे हैं तथा स्वामी जी को अपने पीछे आने का संकेत कर रहे हैं। श्री शारदा देवी को भी ठाकुर ने स्वप्न में इस संबंध में आदेश दिया था। श्री माँ की अनुभूति तथा आदेश से स्वामी जी की शंका का निवारण हुआ। अब उनके युवा शिष्यों ने पुनः धन संग्रह किया।

अभ्यास प्रश्न भाग : 8

1. **लघुउत्तरीय प्रश्न –**
   (क) विवेकानंद ने पतंजलि के महाभाष्य का अध्ययन कब और कहाँ किया ?
   (ख) मैसूर की यात्रा के बाद स्वामी विवेकानंद कहां गये ?
   (ग) मदुरई में स्वामी विवेकानंद की भेंट किससे हुई ?
2. **एक शब्द में उत्तर दीजिए।**
   (क) स्वामी विवेकानंद के प्रथम शिष्य कौन थे ?
   (ख) 22 जनवरी 1890 को विवेकानंद की भेंट किससे हुई ?
   (ग) बाल गंगाधर तिलक से विवेकानंद की भेंट किस सन् में हुई ?

10.4.4 : पाश्चात्य समाज को विवेकानंद के उपदेश :इस शीर्षक में हम जानेंगे कि स्वामी विवेकानंद द्वारा भारतीय धर्म को किस प्रकार पाश्चात्य समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया। किस प्रकार उन्होंने वेदान्त के उपदेशों को व्यवहारिक बताते हुए पाश्चात्य समाज को भारत के प्रति आदरता पूर्ण दृष्टिकोण अपनाने पर बाध्य कर दिया। तो आईये समझते हैं, स्वामी जी ने ये सब किस प्रकार किया।

31 मई 1893 भारत के लिये एक स्मरणीय दिन रहा इस दिन विवेकानंद बम्बई से अमेरिका के लिए जहाज पर रवाना हुऐ। 11 सितम्बर 1893 को स्वामी जी धर्म महासभा में शामिल हुए। धर्म महासभा में स्वामी जी बड़ी मुश्किलों के बाद पहुँच पाये। आर्ट इंस्टीट्यूट

का विशाल सभा भवन लगभग सात हजार लोगों से खचाखच भरा हुआ था। जो उस देश के सर्वश्रेष्ठ संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते थे। देश विदेश के कोने–कोने से विद्वान वहाँ इकट्ठे हुये सभी अपने मतों एवं धर्म के अनुकूल बातें बढ़ा चढ़ा कर कह रहे थे। स्वामी जी ने इसके पूर्व इतनी प्रबुद्ध तथा विशाल सभा को संबोधित नहीं किया था, वे एकदम घबरा गये जब उनकी बारी आयी तो उन्होंने विद्या की देवी माँ सरस्वती को सबसे पहले म नही मन प्रणाम किया तथा अमेरिका वासी भाईयों एवं बहनों इन शब्दों के साि अपना भाषण शुरू किया तभी विशाल जनसमूह आनंद ओर उल्लास से बादल गरजने की भांति लगातार कई मिनट तक तालियां बजाते रहे ओर उनका उत्साह वर्धन करते रहे। स्वामी जी ने सभी धर्मों के विशेषत्व पर प्रकाश डाला और सर्वधर्म सम्भाव की बात लोगों की सिखाई। उन्होंने समन्वय, सहयोग और सहकारिता आदि मानवीय गुणों को विश्व पटल पर रखा।

उनके सरल एवं ज्वलंत शब्दों, महान व्यक्तित्व तथा उज्जवल मुख मंडल ने श्रोताओं पर ऐसा प्रभाव डाला कि दूसरे कि दूसरे दिन समाचार पत्रों ने उन्हें धर्म महासभा का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति घोषित कर दिया। हाथ में भिक्षा पात्र लिए सामान्य पुरुष आज युग पुरुष हो गया। 18 नवम्बर 1894 में विवेकानंद न्यूयार्क गये। 7 अगस्त 1895 में इंग्लैण्ड पहुँचे वहाँ उन्हें जैसा कठोर परिश्रम करना पड़ा उसका अनुभव करने से ही बड़ा विस्मय होता है।

6 सितम्बर 1895 में पुनः न्यूयार्क गये तथा 15 अप्रैल 1896 में स्वामी जी पुनः इंग्लैण्ड गये। 17 दिसम्बर 1896 को सेवियर दंपती के साथ स्वामी जी लंदन से रवाना हुए तथा रोम और इटली के अन्य शहरों की यात्रा कर 30 सितम्बर को नेपल्स से जहाज के द्वारा भारत के लिए प्रस्थान किया। यहाँ गुडविन भी उनके साथ हो गये। 15 जनवरी 1897 को ये लोग कोलम्बो पहुँचे। स्वामी जी के आगमन का समाचार भारत में पहले ही पहुँच चुका था तथा देश भर में सभी स्थानों पर अत्यंत उत्साहपूर्वक तैयारियाँ उनके स्वागत के लिए होने लगी थी। कोलम्बो के सिटी हॉल में उनका स्वागत हुआ श्रीलंका के नागरिकों के अतिशय उत्साह के कारण उन्हें वहाँ थल मार्ग से पूरे लंका की यात्रा कर मद्रास जाना पड़ा। रोमारोला ने कहा है कि–स्वामी जी ने हर्षोन्मत भारतवासियों की आशा का रूप अपने संदेश रूपी शंखनांद के द्वारा भगवान राम शिव और कृष्ण की भूमि को जगाकर तथा उसकी अमर आत्मा को संघर्ष का आवाहन किया और कहा कि ''मेरे भारत, जागो ! तुम्हारी संजीवनी शक्ति कहाँ है ? तुम्हारी अमर आत्मा में ही वह निहीत है।''

अभ्यास प्रश्न भाग : 9

1. **सत्य/असत्य का चुनाव करें।**

(क) 11 सितम्बर 1893 को स्वामी विवेकानंद धर्म महासभा में शामिल हुए। सत्य/असत्य

(ख) नवम्बर 1900 में स्वामी विवेकानंद भारत वापस आ गये। सत्य/असत्य

2. **बहुविकल्पीय प्रश्न –**

(क) 7 अगस्त 1895 को स्वामी विवेकानंद कहां पहुचे–

(अ) जापान (ब) अमेरिका

(स) नेपल्प (द) इंग्लैण्ड

(ख) 17 दिसम्बर 1896 को स्वामी विवेकानंद किसके साथ लंदन रवाना हुए –

(अ) प्रो हेस्टी (ब) सेवियर दंपती
(स) गुडविन (द) रोमारोला

10.4.5 : रामकृष्ण मठ की स्थापना एवं महाप्रयाण :

आईये अब स्वामी जी के इस प्रमुख कार्य पर चर्चा करते हैं, जो उन्होंने चिर काल के लिए भारतवासियों और अपनी मातृभूमि के लिए समर्पित कर दिया। इस शीर्षक के अंतर्गत हम स्वामी विवेकानंद के महाप्रयाण के दिवस पर भी चर्चा करेंगे। हम जानेंगे की एक महामानव ने आने वाली पीढ़ियों के लिए अपने अंतिम संदेश में क्या कहा। तो आईये चर्चा शुरू करते हैं।

स्वामी जी ने श्री बलराम बोस के निवास पर श्रीरामकृष्ण के संन्यासी तथा गृही शिष्यों की सभा बुलाई और 01 मई 1897 को 'रामकृष्ण मिशन' का गठन किया। 1898 में कलको में जब प्लेग की महामारी फैली तब मठ के संन्यासियों तथा गृही भक्तों को लेकर स्वामी जी ने अपने पाश्चात्य शिष्यों के साथ नैनीताल और अल्मोड़ा के लिए रवाना हुए। उनके पाश्चात्य शिष्यों ने मुख्यतः भगिनी निवेदिता के लिए यह समय कठिन प्रशिक्षण और तैयारी का था। 18 अक्टूबर को जब वे कलकत्ता पहुँचे तब वे बहुत दुर्बल ओर रोग ग्रस्त हो गये थे। फिर भी उन्होंने स्वयं को अनेक कार्यों में लगा दिया। 1899 में सभी संन्यासी बेलूर में आ गये। इस दौरान स्वामी जी सभी संन्यासियों और ब्रह्मचारियों को आध्यात्मिक साधना को तीव्रता मानवता की सेवा के लिए अनवरत प्रेरित करते रहे जिससे कि 'आत्मनोमोक्षार्थ जगतहिताय च' का लक्ष्य सिद्ध हो सके।

31 जुलाई 1899 को स्वामी ली लंदन पहुँचे, 17 अगस्त को न्यूयार्क, 20 जुलाई 1900 तक वे अमेरिका में रहे। 1 अगस्त 1900 से 24 अक्टूबर 1900 तक वे फ्रांस में रहे। इसके बाद विएना, बल्कान देशों, कुस्तुनतुनिया, युनान ओर मिश्र हाते हुए वे दिसम्बर 1900 के प्रारम्भ में भारत आ गये। सन् 1901 के अंत में जापान से दो बौद्ध भिक्षुओं ने स्वामी जी को जापान में होने वाले धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमंत्रण देने आए। स्वामी जी उनका निमंत्रण स्वीकार तो न कर सके किंतु उनके साथ वे बोधगया, वाराणसी गयें वाराणसी में उन्होंने देखा कि कुछ युवक उनकी प्रेरणा से दरिद्रों की सेवा में जुट गये हैं, यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन युवकों द्वारा प्रारम्भ किया गया यही कार्य भविष्य में रामकृष्ण सेवा आश्रम वाराणसी के रूप में परिवर्तित हुआ। स्वामी जी को अपने महाप्रयाण का आभास हो गया था अंतिम दिनों में उनके विशेष अर्थपूर्ण तथा सोद्देश्य थे। वे कहा करते थे कि विशाल वृक्ष के तले छोटे पेड़ों को पनपने का अवसर नहीं मिल पाता।

स्वामी विवेकानंद दिसम्बर 1900 के आरम्भ में भारत लौट आये। लेकिन वहां से आकर अस्वस्थ रहने लगे। फिर भी वे धर्म प्रचार, समाज सेवा ओर जन कल्याण के कार्यों में अंत तक लगे रहे जब तक विश्व के लोग उनको समझ पाते स्वर्ग से उनके पास एक दिव्य शक्ति का आगमन हुआ जो 4 जुलाई 1902 दिन शुक्रवार को स्वामी जी महासमाधि में प्रविष्ट हो गये। महासमाधि से पूर्व स्वामी जी कहा करते थे। "इस समय यदि कोई दूसरा विवेकानंद होता तो वह समझ पाता कि इस विवेकानंद ने क्या किया और आगे कितने विवेकानंदों की आवश्यकता है।"

अभ्यास प्रश्न भाग : 10

1. **रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।**

   (क) रामकृष्ण मिशन की स्थापना .... को हुई।

(ख) 1901 में ....से दो भिक्षु स्वामी विवेकानंद का धर्म महासभा का निमंत्रण देने आये।

(ग) स्वामी विवेकानंद का महाप्रयाण .... को हुआ।

10.4.6 : कृति अवलोकन :इस शीर्षक से हम स्वामी विवेकानंद द्वारा रचित ग्रंथो का अवलोकन करेंगे स्वामी जी ने स्वयं तो ग्रंथ कम लिखे थे। लेकिन उन्होंने भाषण देश ओर विदेशों में काफी दिये थे। उन भाषणों में भारतीय वेदांत दर्शन की पूर्ण व्याख्या मिलती है। स्वामी जी के भाषणों में भारत की विभिन्न समस्याओं तथा उनके समाधान के लिए विचार भी मिलते हैं। उन्होंने देश तथा विदेश से अपने मित्रों को बहुत से पत्र लिखे थे, जिनमें देश के लिए कार्य करने तथा देश को ऊँचा उठाने के लिए प्रेरणा रहती थी।

स्वामी विवेकानंद जी ने निम्नलिखित ग्रंथ स्वयं लिखे थे –

1. उत्तिष्ठित जागृत।
2. मेरे गुरुदेव
3. परिव्राजक

उपरोक्त ग्रंथों के अलावा उन्होंने विभिन्न विषयों पर जो भाषण दिये थे वे भी संकलित रूप में प्रस्तुत हैं। इन व्याख्यान मालाओं के अंतर्गत कर्मयोग, भक्तियोग, आधुनिक भारत, पूर्व एवं पश्चिम वेदांत का रहस्य आदि विषयों का समावेश है। स्वामी विवेकानंद जी ने जो पत्र लिखे थे तथा उन्हें जो पत्र प्राप्त हुए थे उनका संग्रह भी प्रत्रावली नामक पुस्तक में है।

अभ्यास प्रश्न भाग : 11

2. **लघुउत्तरीय प्रश्न –**

(क) स्वामी विवेकानंद के भाषणों में किस भारतीय दर्शन की छाप है?

(ख) स्वामी विवेकानंद द्वारा लिखित ग्रंथ कौन से है?

(ग) स्वामी विवेकानंद द्वारा लिखित पंत्रों का संकलन किसमें किया गया है?

10.4.7 : स्वामी विवेकानंद के योगपरक उपदेशों का सार :इस शीर्षक में हम स्वामी विवेकानंद द्वारा जो उपदेश दिये गये उनमें योग किस प्रकार समाहित था, यह जानेंगे। तथा हम यह भी जानेंगे कि उन्होंने इन उपदेशों को किस प्रकार अपने जीवन में अपनाया और युवाओं को प्रेरित किया की वो भी अपना जीवन मानव कल्याण के लिए समर्पित करें। तो आईये जानते हैं, स्वामी विवेकानंद के इस पहलु को –

ऊपर की ओर देखना ओर ऊपर तथा पूर्णता की खोज करना इसे ही मोक्ष कहते हैं। जितनी जल्दी कोई मनुष्य ऊपर उठने लगता है, उतनी ही जल्दी वह मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। वास्तव में मोक्ष का मार्ग सत्य साधना है, योग साधना है। जीवन का लक्ष्य है अथवा मोक्ष की प्राप्ति। लेकिन जब तक मनुष्य स्वयं में ब्रह्म की होने की अनुभूति प्राप्त नहीं कर लेता, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इस सिद्धि को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं। योग को चार वर्गो में कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग व ज्ञानयोग में विभक्त किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक ब्रह्म सिद्धि का परोक्ष मार्ग है। ये योग विभिन्न स्वाभाव के लोगों के अनुकूल होते हैं। अतः योग की सभी प्रणालियों का लक्ष्य मनुष्य के हृदय में विद्यमान अविद्या को हटाना और आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में फिर से स्थापित कर देना है। स्वामी जी के अनुसार कर्मयोग का अर्थ है, मौत के मुंह में बिना तर्क–वितर्क किये सबकी सहायता करना भले ही तुम लाख बार ठगे जाओ पर मुंह से एक बात न निकालो और तुम जो कुछ भला कार्य कर रहे हो उसके संबंध में सोचो तक नहीं।

योग का दूसरा तत्व है, भक्ति। भक्ति अथवा पूजा किसी भी रूप में मनुष्य के लिए सबसे अधिक सरल, सुखद और स्वाभाविक मार्ग है। स्वामी जी कहते हैं, कि भक्ति का अवलम्बन ईश्वर है।

तीसरे तत्व राजयोग पर स्वामी विवेकानंद का मत है, कि राजयोग धर्म की पद्धति है। इसके मुख्य अंग प्राणायाम, ध्यान और धारणा है। स्वामी जी कहते हैं जिस प्रकार हर विज्ञान की अनुसंधान करने की अपनी विशिष्ट पद्धति होती है, उसी प्रकार राजयोग धर्म की पद्धति है। राजयोग पर स्वामी जी का विचार अत्यत विशिष्ट और व्यावहारिक है। जिसे राजयोग नामक उनकी पुस्तक में देखा जा सकता है।

योग का चौथा तत्व ज्ञानयोग है। ज्ञानयोग तीन अंगों में विभक्त किया जा सकता है –

पहला – इस लक्ष्य का श्रवण कि आत्मा ही एक मात्र वास्तविक है और सब माया (सापेक्षता) है।

दूसरा – इसके दर्शन पर सभी दृष्टिकोणों से मनन।

तीसरा – सारे तर्क–वितर्क को वर्जित करके सत्य की अनुभूति प्राप्त होती है। इस बात के निश्चय से कि ब्रह्म सत्य है ओर सब मिथ्या है।

स्वामी विवेकानंद दर्शन, शिक्षा, अध्यात्म एवं योग के क्षेत्र में सबसे ज्वलंत प्रतिभा के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनके द्वारा जो भी योगदान भारतवर्ष तथा विश्वसमुदाय को मिला है, वह पूर्णतः अनुकरणीय है। आज भी देश के युवाजगत के बीच एक आदर्श व्यक्तित्व के रूप में यदि किसी का नाम लिया जाता है, तो स्वामी विवेकानंद अग्रपंक्ति मे आते हैं। जिस समय भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म, अध्यात्म एवं योग विद्या के क्षेत्र में विभिन्न विकृतियाँ एवं गलत धारणाएँ संव्याप्त थीं उस समय स्वामी जी एक क्रांतिकारी योद्धा के रूप में अवतरित हुए और प्राणपण से उनके निराकरण के लिए पुरुषार्थ किया। उनके जीवन का सार संदेश इस प्रकार से है –

स्वामी जी के व्यक्तित्व से मिलने वाली सबसे महत्वपूर्ण जीवन प्रेरणा यह है, कि जीवन में शक्ति और सामर्थ्य का जागरण नितांत आवश्यक है। जिसके लिए योग साधना ही सर्वोत्कृष्ट उपाय हैं। भारतीय परम्परा के विकसित विभिन्न योग प्रणालियाँ जैसे ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि को बहुत ही व्यावहारिक ढंग से स्वामी जी ने प्रस्तुत किया। स्वामी जी द्वारा सृजित साहित्य एवं ग्रंथ आज के युग में व्याप्त समस्याओं का निर्विवाद समाधान है। उनके सभी साहित्य पाठक तथा साधक में एक क्रांति ज्योति प्रज्जवलित करता है। भारतीय साहित्य में स्वामी जी से संवाद करना चाहते हैं, तो उन्हें उनके साहित्य में डुबकी लगानी ही चाहिए। स्वामी जी गुरु शिष्य परम्परा के एक आदर्शतम उदाहरण हैं। किस प्रकार एक शिष्य अपने सद्गुरु के मार्गदर्शन के अनुरूप उनके कार्य में समर्पित हो सकता है। उसका जीवन्त उदाहरण स्वामी जी रहे हैं। यह वास्तविकता हमें यह ज्ञात कराती है, कि बिना गुरु तथा बिना गुरु चरण में समर्पण के जीवन में सार्थक प्रकाश नहीं मिल सकता।

इतने अनन्त सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संपदाएँ होते हुए भी भारत देश पश्चिमी दुनिया की दृष्टि में एक जादूगर तथा जोगी संन्यासियों का देश माना जाता था। इसके विपरीत भारत की आध्यात्मिक सांस्कृतिक धरोहर को पश्चिमी देशों तक पहुँचाने में स्वामी विवेकानंद जी का योगदान अत्यंत उल्लेखनीय है। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड जैसे देश में परिव्रज्या कर भारत की संस्कृति एवं योग विद्या के संदेश का प्रचार कर उन्होंने एक युग पुरुष का कार्य किया है। आज भी वह पश्चिमी समाज स्वामी जी से कृतकृत्य है। सम्पूर्ण

युवा जगत के लिए स्वामी विवेकानंद एक जाज्वल्यमान आदर्श है। युवा के जीवन में लक्ष्य निर्धारण, श्रम, पुरुषार्थ, राष्ट्रप्रेम, आध्यात्म एवं योग के प्रति रूझान एवं संस्कृति के प्रति समर्पण किस प्रकार होना चाहिए आदि के प्रति स्वामी जी के दिशा निर्देश बहुत ही अनुकरणीय हैं। लाखों करोड़ो युवा हृदय आज भी स्वामी जी को आदर्श मानते है।

एक संपूर्णतः आदर्श योगी पुरुष का व्यक्तित्व कैसा होता है। ये स्वामी जी में साक्षात प्रतिलक्षित होता है। स्वामी जी को जब भी समय मिलता वे ध्यान समाधि की अतल गहराई में जाते और समसामयिक समस्याओं का निराकरण प्राप्त करते थे। स्वामी जी की यह प्रेरणा हमें भी सजग करती है कि जीवन में किसी प्रकार के कष्ट तथा समस्याएँ हों, उनका समाधान योग साधना के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। स्वामी जी का ये मानना है, कि – बिना योग साधना के मानव जीवन सर्वथा अपूर्ण एवं शक्तिहीन है।

इस तरह हम देखते हैं, कि स्वामी जी का जीवन केवल भारतीय के लिये नहीं बल्कि उन लाखों करोड़ों लोगों के लिये प्रेरणा स्रोत है, जो अपने लिये नहीं बल्कि समाज के लिये कुछ करने की चाह रखते हैं। स्वामी जी के जीवन दर्शन को जानने से ज्ञात होता है, कि उन्होंने अपने 39 वर्ष की जीवन यात्रा के दौरान योग के विभिन्न पक्षों को जीवन्त रूप से जीया और लोगों को भी इसकी प्रेरणा दी राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि का स्वर्णिम संगम स्वामी जी के जीवन में देखने को मिलता है।

अभ्यास प्रश्न भाग : 12

1. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।
   (क) .... का अवलम्बन ईश्वर है।
   (ख) राज योग .... की पद्धति है।
   (ग) .... विभिन्न स्वभाव के लोगों के अनुकूल होता है।

10.5 सारांश

इस इकाई में आपने स्वामी दयानंद और स्वामी विवेकानंद के जीवन के विषय में पढ़ा ये दानों ही महापुरुष योग के साथ साथ समाज के उत्थान के लिए भी जाने जाते हैं। जहाँ दयानंद ने वेदों के प्रचार प्रसार के साथ धार्मिक कुरीतियों और अंधविश्वास पर कुठाराघात किया और आर्य समाज नामक एक व्यवस्थित संस्था कि स्थापना कर वैदिक ज्ञान विज्ञान का प्रसार किया। वहीं स्वामी विवेकानंद ने देश ही नहीं विदेशों में भी भारतीय ज्ञान का प्रसार किया।स्वामी विवेकानंद ने वेदान्त को व्यवहारिक रूप देकर उसे सहज औ सरल बनाया साथ ही अपने जीवन द्वारा कर्मयोग का पाठ पूरी दुनिया को दिया। उनक`लेखों और सम्भाषणों में कर्म, ज्ञान और भक्तियोग प्रमुख रहे। उनके उपदेशों का एक सार यही था कि सदैव ईश्वर भक्ति में लीन रहते हुए निष्काम कर्म करना चाहिए जिससे ज्ञान की प्राप्ति होगी और मनुष्य अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा।स्वामी विवेकानंद का एक काम जो दोनों में समानता रखता है, वह है, ज्ञान के साथ साथ समाज के उस वर्ग को अंधविश्वास और समाजिक बुराईयों से दूर करना, जो वर्षों से ऐसे बंधनों से बंधा हुआ है। स्वामी विवेकानंद और दयानंद दोनों ही योगीयों ने इस धरा पर रहते हुए तो मानव का कल्याण किया ही अपितु अपने जाने के बाद भी मानव कल्याण के कार्य को रुकने नहीं दिया जहाँ दयानंद ने आर्य समाज के द्वारा यह कार्य किया वहीं स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन के द्वारा यह कार्य सम्पादित किया। दोनों ही योगी भारत ही नहीं अपितु समस्त विश्व अथवा समस्त प्राणी मात्र के लिए कल्याण का मार्ग लेकर आये।

10.6 पारिभाषिक शब्दावली

परिमार्जन – किसी चीज को विकसित करना
चतुर्दिक – चारो दिशाओं
समावेश – मिलाना
विभक्त – अलग
संव्याप्त – रचा बसा

10.7 : अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

भाग : 1

1. क : सत्य ख : सत्य ग : असत्य
2. क : गुजरात कोटा, 1824ख : मूलशंकर ग : 14 वर्ष

भाग : 2

1. क : मूलशंकर के पिता उनसे जमींदारी का काम करवाना चाहते थे ।
   ख : बंगाल की यात्रा के बाद दयानंद बम्बई गये वहा उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की।
   ग : बंगाल की यात्रा में दयानंद की मुलाकात देवेन्द्र नाथ और केशवचन्द्र सेन से हुई।
2. क : शुद्ध चैतन्य ख : स्वामी विरजानंद ग : लौंग

भाग : 3

1. (क) वेदान्त (ख) ब्रह्मचर्य (ग) वेदों की
2. क : प्रमाण ख : परब्रह्म परमेश्वर ग : स्त्री

भाग : 4

1. क : अजमेर ख : 30, 1883 ग : गायत्री मंत्र

भाग : 5

1. (क) 39 (ख) नरेन्द्र (ग) वकील
2. (क) स्वामी विवेकानंद का जन्म बंगाल प्रान्त में हुआ था।
   (ख) पिता ने उत्तर दिया कभी किसी भी बात पर विस्मित न होना।
   (ग) स्वामी विवेकानंद के गुरु रामकृष्ण परमहंस थे।

भाग : 6

1. (क) मकर संक्रान्ति (ख) भुवनेश्वरी देवी (ग) बिले
2. (क) सत्य (ख) सत्य (ग) सत्य

भाग : 7

1. (क) अ–ब्रह्मसमाज (ख) द–रामकृष्ण परमहंस
2. (क) ध्यान (ख) रामकृष्ण (ग) गुरु

भाग : 8

1. (क) सन् 1891 में अलवर (राजस्थान) में।
   (ख) मैसूर की यात्रा के बाद त्रिवेन्द्रम तथा कन्याकुमारी।
   (ग) मदुरई में स्वामी विवेकानंद की भेंट रामनाथ के राजा से हुई।
2. (क) शरत चन्द्र गुप्त (ख) पवहारी बाबा (ग) सितम्बर 1892

भाग : 9

1. (क) सत्य (ख) असत्य

2. (क) द–इंग्लैण्ड (ख) स–सेवियर दंपत्ति

भाग : 10

1. (क) स्वामी विवेकानंद के भाषणों में वेदांत दर्शन की छाप मिलती है।
   (ख) स्वामी विवेकानंद ने – 1. उतिष्ठ जागृत
   2. मेरे गुरूदेव
   3. परिव्राजक ग्रन्थ लिखे
   (ग) स्वामी विवेकानंद द्वारा लिखित पत्रों का संग्रह पत्रावली नामक पुस्तक में चित्रण किया गया है।

भाग : 11

1. (क) 1 मई 1897 (ख) जापान (ग) 4 जुलाई 1902

भाग : 12

1. (क) भक्ति (ख) धर्म (ग) योग

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गम्भीरानंद, स्वामी (2007) युगनायक विवेकानंद, रामकृष्ण मठ, नागपुर
2. निखिलानंद, स्वामी (2007) विवेकानंद एक जीवनी, अद्वैत आश्रम, कोलकाता
3- Kumar,Raj (2003) Swami Dayanand Saraswati : Life and Work, Discovery Publishing House, Delhi

10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री :

1. www.ramkrishana.org
2. www.vevekanand.net
3. www.hinduism.about.com
4. www.culturalindia.net
5. www.vedicgranth.org

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्वामी दयानंद द्वारा समाज सुधार के लिए क्या प्रयत्न किये गये?
2. दयानंद के जीवन में योग की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
3. स्वामी विवेकानंद के संन्यासी जीवन की समीक्षा कीजिए।
4. स्वामी विवेकानंद के विश्व के प्रति योगदान पर विचार प्रस्तुत कीजिए।
5. स्वामी विवेकानंद के विभिन्न योग विषयक उपदेशों की समीक्षा कीजिए।

इकाई : 11 श्री अरविन्द एवं स्वामी कुवल्यानन्द का जीवन परिचय

11.1 : प्रस्तावना

11.2 : उद्देश्य

11.3 : श्री अरविन्द का जीवन परिचय

11.3.1 : प्रारम्भिक जीवन काल

11.3.2 : सांसारिक कर्तव्यों का निर्वहन

11.3.3 : क्रांतिकारी जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर

11.3.4 : लेखन कार्य

11.3.5 : आध्यात्मिक उन्नयन की ओर

11.3.6 : श्री माँ का सानिध्य व अंतिम समय

11.4 : स्वामी कुवल्यानंद का जीवन परिचय

11.4.1 : जन्म एवं प्रारम्भिक जीवन

11.4.2 : योग के क्षेत्र में प्रवेश

11.4.3 : योग का प्रचार–प्रसार

11.5 : सारांश

11.6 : पारिभाषिक शब्दावली

11.7 : अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.8 : सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.9 : सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

11.10 : निबन्धात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप भारतीय योग परम्परा में आधुनिकता का संगम लिए महायोगी श्री अरविन्द के विषय में विस्तार जानेंगे। उनका साधनात्मक जीवन अत्यन्त वर्णनीय है। कहा जाता है, कि श्री अरविन्द के समान कठिन योग साधना करने वाले योगी इस युग में अत्यन्त न्यून हैं। इस इकाई में उनके द्वारा की गई विभिन्न योग साधनाओं का उल्लेख किया जायेगा तथा अरविन्द द्वारा प्रतिपादित योग पद्धति की विवेचना भी संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत की जायेगी।

इकाई के अगले खण्ड में योग के वैज्ञानिक पक्ष को दुनिया के सामने लाने वाले महान योगी स्वामी कुवलयानंद के जीवन पर प्रकाश डाला जायेगा। सामान्यतः कुवल्यानंद का नाम बहुत कम लोग जानते है। उसका कारण यह है, कि उन्होंने अपनी लोकप्रियता के लिए कार्य नहीं किया। आपने देखा होगा कि आजकल सभी अपनी लोकप्रियता एवं प्रचार प्रसार के लिए विभिन्न माध्यमों का सहारा ले रहें है, परंतु जिन चीजों का प्रचार करना चाहिए उनके लिए कोई प्रयास नहीं होता । स्वामी कुवलयानंद ने योग के प्रति अपना जीवन समर्पित कर दिया और कभी भी अपना प्रचार नहीं किया वरन् योग के वैज्ञानिक पक्ष को सदैव उजागर करने के लिए तत्पर रहे। तो आइए उनके व्यक्ति को गइराई से जानने का प्रयास करें। यद्यपि हमें उनके विषय में बहुत कम सामाग्री उपलब्ध होती है, परन्तु जो भी कुछ मिलता है, उन्हीं सबसे उनके यौगिक व्यक्तित्व पर एक दृष्टि डालें। तो आइये शुरू करते हैं।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपको श्री अरविन्द एवं स्वामी कुवल्यानंद के विषय पर निम्न जानकारी प्राप्त होगी –

- श्री अरविन्द एवं स्वामी कुवल्यानंद का संक्षिप्त जीवन परिचय।
- श्री अरविन्द एवं स्वामी कुवल्यानंद के जीवन में योग साधना का अवतरण।
- श्री अरविन्द एवं स्वामी कुवल्यानंद का साधनात्मक जीवन।
- श्री अरविन्द एवं स्वामी कुवल्यानंद का लेखन व्यक्तित्व।
- श्री अरविन्द एवं स्वामी कुवल्यानंद द्वारा प्रतिपादित योग पद्धति।

11.3 : श्री अरविन्द का जीवन परिचय :

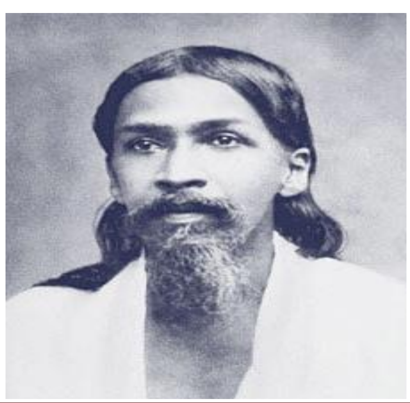

श्री अरविन्द भारत ही नहीं अपितु अखिल विश्व में योग के क्षेत्र में प्रमुखता से जाना जाने वाला नाम है। अरविन्द का जीवन विचित्रताओं से भरा हुआ है। जहाँ उनके जीवन की शुरुआत एक सांसारिक बंधनों में बंधे व्यक्ति के रूप में होती है, वहीं फिर वह सांसारिक बंधनों में बंधा हुआ व्यक्ति मातृ भूमि की स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता संग्राम में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लेने लगा। किन्तु इस

स्वतंत्रता सेनानी के मन को अभी भी विश्राम कहाँ था। उसके मन ने तो कहीं और ही जाकर विश्राम पाया। और वो स्थान था, योग का निर्मल आश्रय।तो आईये श्री अरविन्द के इस विचित्रता पूर्ण जीवन के विषय में जानते हैं। और समझते हैं, कि आखिर क्यों उनका जीवन इतना उथल पुथल रहा। और किस प्रकार उन्होंने अपने जीवन को एक स्थिर दिशा प्रदान कर समूचे विश्व को ज्ञान के आलोक से आलोकित किया।

11.3.1 : प्रारम्भिक जीवन काल : प्रस्तुत शीर्षक में हम भी अरविन्द के प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। और जानेंगे की अरविन्द जी की पृष्ठभूमि के बारे में।

श्री अरविन्द, डॉ. कृष्णधन घोष एवं श्रीमती स्वर्ण लता देवी के तृतीय पुत्र थे। उनका जनम 15 अगस्त 1872, निवास स्थान कलकत्ता, उनके पिता के मित्र बैरिस्टर मनमोहन घोष के घर पर हुआ था। श्री अरविन्द की माँ एवं मनमोहन घोष की पत्नी परस्पर अभिन्न मित्र थीं। श्री कृष्णधन घोष अंग्रेजी शिक्षा और रहन–सहन से बहुत ज्यादा प्रभावित थे क्योंकि उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से चिकित्सा की डिग्री प्राप्त की थी और स्काटलैण्ड के एवरडीन विश्वविद्यालय से एम.डी. की डिग्री प्राप्त करने के लिए विदेश यात्रा की। वह 1897 में डिग्री लेकर वापस लौटे। इस यात्रा के बाद उनका अंग्रेजी रहन–सहन के प्रति पहले से ही अनुरक्त मन पूर्णतः विलायती हो गया।

श्री राजनारायण बोस ने अपने जमाता कृष्णधनघोष की बच्चों की पढ़ाई को लेकर काफी समझाया कि वह अपने तीनों बच्चों को दार्जिलिंग के लोरेटो कान्वैण्ट स्कूल में प्रवेश न करायें, पर वह न माने। यह स्कूल भारत में नौकरी करने वाले अंग्रेजी अफसरों के बच्चें की शिक्षा के लिए खोला गया था। उस समय श्री अरविन्द की आयु सिर्फ पांच वर्ष की थी। इसी उम्र में श्री अरविन्द को अपने परिवार से अलग रहने का अभ्यास होता गया। सन् 1879 में जो श्री अरविन्द की आयु 7 वर्ष की थी तभी डॉ. कृष्णधन घोष अपनी पत्नी स्वर्णलता एवं 4 बच्चों के साथ इंग्लैण्ड गये, विनयभूषण, मनमोहन, अरविन्द एवं सरोजनी। अपने तीनों पुत्रों एवं पत्नी को एक अंगेज पादरी और पत्नी को इस निर्देश के साथ सौंप दिया कि बच्चे किसी भारतीय से कोई परिचय प्राप्त न कर सके और उन पर किसी प्रकार का कोई भारतीय प्रभाव न पड़ने पाये इन आदेशों का अक्षरशः पालन हुआ और अरविन्द भारत, उसके निवासियों, उसके धर्म और उसकी संस्कृति से सर्वथा अनभिज्ञ होकर पलते रहे।

श्री अरविन्द छोटे होने के कारण दुएट के घर पर ही रहते। मि. दुएट रंगपुर के मजिस्ट्रेट श्री जार्ज ग्लेजियर के संबंधी थे। दुएट स्टाकपोर्ट रोड चर्च के पादरी थे, उनकी पत्नी ने घर ही उन्हें पढ़ना–लिखना शुरू किया। दुएट लैटिन भाषा के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने श्री अरविन्द को अंग्रेजी एवं लैटिन भाषा पढ़ाना शुरू कर दिया। श्रीमती दुएट ने उन्हें इतिहास, भूगोल, गणित, एवं फ्रेंच पढ़ाती थी। श्री अरविन्द ने प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् खाली समय में बायावल तथा शैक्सपियर, शैली, कीट्स आदि की कृतियों का अध्ययन किया। श्री अरविन्द इंग्लैण्ड में अरविन्दा एक्रॉयड घोष के नाम से जाने जाते थे।

दुएट परिवार को सन् 1885 में आस्ट्रेलिया जाना पड़ा और अरविन्द लन्दन में सैंटपाल में भेज दिये गए। प्रधान अध्यापक डॉ. एफ.डलू वाकर ने अरविन्द को ग्रीक सिखाने का काम स्वयं सम्भाला और जल्दी–जल्दी ऊँची कक्षाओं में चढ़ा दिया सन् 1884 से 1889 ई. तब पांच वर्ष तक वह सैंटपाल में रहे, जहां उन्होंने प्राचीन भाषाओं में काफी योग्यता प्राप्त की और अनेक पुरस्कार पाये। अपना बहुत सा समय उन्होंने पुस्तकें पढ़ने में बिताया। डॉ. वाकर की स्वाभावगत विशेषता थी कि वह प्रतिभाशाली छात्रों को तुरन्त

पहचान लेते थे ओर उन पर अतिरिक्त ध्यान देते रहे। उन्होंने साहित्य में वटरवर्थ तथा इतिहास में वेडफोर्ड पुरस्कार प्राप्त किया। सेन्टपाल साहित्यिक समिति के क्रियाशील सदस्य बन गये। श्री अरविन्द घोष ने 5 नवम्बर 1889 में एक वाद–विवाद प्रतियोगिता में भाग लिया जिसका शीर्षक था 'स्विफ्ट' के राजनैतिक विचारो में असंगति' विषय पर हुई वाक प्रतियोगिता में उन्हें बहुत प्रशंसा मिली थी।

तीनो भाईयों को आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था क्योंकि पिता से पैसा पहले से नियमित रूप से नहीं आता था। और बाद में तो आना बिल्कुल बंद हो गया था। श्री अरविन्द ने लिखा है – एक साल तक हमारा खाना सुबह को एक या दो सैडविच, दाल रोटी, मक्खन और चाय के प्याले तक सीमित रहा। शाम के एक पैनी के सोलोय तक।

सन् 1890 में सैंट पाल का अंतिम परीक्षा मं उन्होंने प्राचीन भाषाओं के लिए 80 पौंड का वजीफा पाया और इससे वह कैम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में भर्ती हो सके। आई.सी. एस. की तैयारी के दिनों में भी 80 पौंड का वजिफा मिलता रहा, पर यह रकम तीनों भाईयों के लिये अपर्याप्त थी। इन कठिनाईयों के बाद भी वह अध्ययन से लगे रहे। साहित्य उनका मनपसन्द विषय था। कैम्ब्रिज में श्री अरविन्द के तीन क्रिया–कलाप थे–ट्राईपोस ओर आई. सी.एस. परीक्षाओं की तैयारी, इण्डियन मजलिस नामक संस्था के कार्यों में सक्रिय भाग लेना और कवितायें लिखना।

डॉ. कृष्णधन घोष अपने तीनों पुत्रों को पूर्णतयाः अभारतीय बनाना चाहते थे, क्योंकि उन पर विदेशी शिक्षा का काफी प्रभाव पड़ा था। इसीलिये मि.ड्रिएट को ये निर्देश दे रखे थे कि उनके बच्चे किसी भारतीय से न मिलने पाये । परन्तु शीघ्र ही अंग्रेज कर्मचारियों के व्यवहार से उन्हें यह आभास हो गया कि ब्रिटिश अधिकारी भारतीयों के प्रति वफादार नहीं है। अब उनके मन से अंग्रेजों का सारा मोह दूर हो गया। वास्तव में वह अपने पुत्रों को 'द बंगाली' नामक समाचार पत्र की कतरने भेजने लगे। जिनमें वह ऐसे समाचार पत्रों पर भी निशान लगा देते थे जिनमें अंग्रजों द्वारा भारतीयों के प्रति किये गये दुर्व्यवहार और अपमान के विवरण होते थे। इन पत्रों ने ही पहली बार श्री अरविंद के ध्यान और रूचि को भारत की राजनीति की ओर मोड़ा। इस रूचि ने आगे बढ़कर उनमें अपने देश की स्वतंत्रता के लिये प्रयत्न करने का विचार पैदा किया, यद्यपि वह अपने देश के विषय में वस्तुतः अनभिज्ञ ही थे। कैम्ब्रिज पहुँचने पर 'इण्डियन मजलिस' नामक एक संस्था से उनका सम्पर्क हुआ, जिसकी स्थापना 1891 में हुई थी। मजलिस के कार्यक्रमों में उन्होंने सक्रिय भाग लिया और उसके बाद–विवादों में भाग लिया ऐसा लगता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध उन्होंने क्रांतिकारी भाषण भी दिये। कैम्ब्रिज के कुछ अधिक जोशीले भारतीय युवकों ने एक गुप्त संस्था बनायी थी, जिसका नाम 'द लोटस एण्ड डैगर' (कमल और कटार) रखा गया था। श्री अरविन्द अपने भाईयो सहित इस संस्था में सम्मिलित हो गये। श्री अरविन्द आई.सी.एस. की परीक्षा में दाखिल हुये जो कि उनके पिता की हार्दिक इच्छा थी। परीक्षा में उन्होंने बिना किसी ट्यूशन के 11 वाँ स्थान प्राप्त किया तथा प्राचीन भाषाओं में सर्वाधिक अंक प्राप्त किये इन्हें 80 पौंड की छात्रवृत्ति भी मिलने लगी। परन्तु ये राशि कैम्ब्रिज के अध्ययन के लिये पर्याप्त नहीं थी।

20 नवम्बर 1892 इंडियन सिविल सर्विसेज में 11 वां स्थान प्राप्त कर उसकी सभी त्रैमासिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए लेकिन घुड़सवारी में पास न होने के कारण नौकरी के योग्य नहीं पाये गये। जैसा कि उन्होंने कहा है 'उनका आई.सी.एस. की ओर कोई झुकाव

नहीं था और वह इस बन्धन से छुटकारा पाने का उपाय ढूँढ़ रहे थे। अपने आप तो वह सर्विस खोना नहीं चाहते थे क्योंकि घर वाले ऐसा करने नहीं देते, अतः उन्होंने पिण्ड छुड़ाने की यह तरकीब निकाली कि घुड़सवारी में असफल हो गये।

इस प्रकार श्री अरविंद के बाल्यकाल एवं प्रारम्भिक शिक्षा पर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनका बाल्यकाल संघर्षों से पूर्ण था क्योंकि जिन परिस्थितियों में उन्होंने अपनी शिक्षा को चलाया था उसमें एक आम आदमी द्वारा एक साथ चलाया जा सकना असम्भव था। अपने वजीफे के द्वारा सिर्फ वह अपना ही खर्च नहीं चलाते थे बल्कि अपने दोनों भाईयों का भी खर्च चलाते थे।

अभ्यास प्रश्न भाग : 1

1. **रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।**

(क) श्री अरविन्द .... एवं .... के .... पुत्र थे ।

(ख) श्री अरविंद इंग्लैण्ड में .... के नाम जाने जाते थे।

(ग) श्री अरविंद .... नामक संस्था के कार्यों में सक्रिय भाग लिया करते थे।

2. **बहुविकल्पीय प्रश्न –**

(क) श्री अरविंद के पिता उनके लिए किस अखबार की कतरन भेजते थे?

अ. नेशन ब. द बंगाली स. डेली हेराल्ड द. स्वराज

(ख) श्री अरविंद ने इंडियन सिविल सर्विसेज की परीक्षा में कौन सा स्थान हासिल किया।

अ. पहला ब. तीसरा स. ग्यारवां द. बीसवां

(ग) श्री अरविंद ने लैटिन भाषा का ज्ञान किससे प्राप्त किया।

अ. मिस्टर दुएट ब. डॉ वाकर स. मिस्टर ड्रिएट द. श्रीमती दुएट

11.3.2 : सांसारिक कर्तव्यों का निर्वहन :इस शीर्षक में हम जानेंगे की श्री अरविन्द ने किस प्रकार अपने सांसारिक कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए रोजगार एवं विवाह जैसे बंधनों को स्वीकार किया तो आईये जानते है कि श्री अरविन्द ने रोजगार के रूप में कौन सा पेशा चुना ओर किस कन्या से विवाह किया।

बडौदा के स्वर्गीय महाराजा सायाजी राव गायकवाड़ इंग्लैण्ड गये हुये थे। वह भारत के राजाओं में सर्वाधिक प्रबुद्ध और प्रतिभा सम्पन्न राजा थे और अपने कर्मचारियों का सावधानी और विवके से चुनाव करने के लिए प्रसिद्ध थे। महाराजा ने श्री अरविंद का इन्टरव्यू लिया और परिणाम स्वरूप श्री अरविंद बड़ौदा राज्य की सेवा के लिए चुने गये। इस प्रकार भारत आने के पूर्व ही उनकी नियुक्ति हो गयी।

चौदह वर्ष तक विदेश में रहकर 1893 में श्री अरविंद भारत लौट आये और नौकरी करने बड़ौदा पहुँचे वह 1907 तक लगातार तेरह वर्ष, वहां नौकरी करते रहे जब तक श्री अरविंद बड़ौदा की नौकरी में रहें, प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग नहीं ले सके थे। यद्यपि बाद में वर्षों में राष्ट्रीय गतिविधियों में भाग लेने के लिये वह लम्बी–लम्बी छुट्टियां लेते थे। उन्होंने प्रच्छन्न रूप से राजनीतिक गतिविधियों का संचालन करना उचित समझा ताकि प्रकट रूप में उनका नाम भी मालूम न हो सका। बड़ौदा में दो–तीन सरकारी पदों पर काम करने के पश्चात् उनको वहां के कालेज में फ्रांसीसी भाषा का प्रोफेसर बना दिया गया । कालेज में भी वे निरन्तर उन्नति करते गये और सन् 1906 में जब राजनैतिक कार्य करने के लिए उन्होंने कॉलेज को छोड़ा तब वे वाईस पिंसिपल के पद पर काम कर रहे थे। उन्हें उस समय 750/– रू. मासिक वेतन मिल रहा था। जो आज के सापेक्ष लगभग 95000/– (पंचानवे हजार रूपये) था। बड़ौदा पहुंचते ही अरविंद भारतीय भाषाओं संस्कृत,

इतिहास और धर्म के अध्ययन में मग्न हो गये वह पाश्चात्य परम्परा के प्रकाण्ड विद्वान थे ही। उन्होंने हिन्दी का भी अध्ययन किया। उन्होंने संस्कृत भाषा को बंगला भाषा के माध्यम से नहीं सीखा बल्कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से संस्कृत सीखी। बड़ौदा में सभी साहित्यों का ऐतिहासिक तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त उन्होंने वेदों के महत्व को अनुभव करना आरम्भ कर दिया था। पारस्परिक पाश्चात्य बौद्धिक परम्परा में रंगे श्री अरविन्द के मन पर भारतीय दर्शन के मूल स्रोत के अध्ययन का गहरा असर पड़ा।

बडौदा रहते हुए भी बंगाल के क्रांतिकारी आन्दोलन के बौद्धिक नेता श्री अरविंद ही थे। बड़ौदा राज्य की नौकरी 8 फरवरी 1893 को स्वीकार की और 18 जून 1907 को त्यागपत्र देकर वह सेवामुक्त हुये। इस तरह बड़ौदा में उनका कुल आवास काल 13 वर्ष 5 महिने और 18 दिनों का रहा जो सम्भवतः उनके इंग्लैण्ड प्रवास के लगभग ही था। सन् 1907 में श्री अरविंद का विवाह रांची, बिहार के निवासी श्री भूपालचन्द्र बोस की कन्या मृणालिनी देवी से हो गया। यद्यपि अपनी पत्नी के साथ श्री अरविंद का व्यवहार सदैव प्रेम पूर्ण रहा, पर ऐसे असाधारण व्यक्तित्व वाले महापुरुष की सहधर्मिणी होने से उसे सांसारिक दृष्टि से कभी इच्छानुसार सुख की प्राप्ति नहीं हुई, प्रथम तो राजनीतिक जीवन में हलचल के कारण उन्हें पति के साथ रहने का अवसर कम ही मिल सका फिर आर्थिक दृष्टि से भी श्री अरविंद का जीवन जैसा सीधा–सादा था, उसमें उन्हें कभी वैभवपूर्ण जीवन के अनुभव करने का अवसर नहीं मिला, केवल जब तक वे बड़ौदा में रहे, वह कभी–कभी उनके साथ सुखपूर्वक रह सकी। लेकिन जब समय तथा परिस्थितियों की मांग के अनुसार पॉण्डिचेरी जाकर रहने लगे तो उनकी बढ़ी हुई योग–साधना की दृष्टि से पत्नी का साथ निरापद नहीं था। तो भी कर्तव्य भावना से उन्होंने पॉण्डिचेरी आने को कह दिया पर उसी अवसर पर इन्फ्लुएंजा की महामारी के आक्रमण से उनका देहावसान हो गया।

श्री अरविंद ने प्रारम्भ में ही मृणालिनी को अपने तीन पागलपन के बारे में बताया था।

1 मुझे जो ईश्वर ने दिया है उसमें से केवल निर्वाह हेतु अपने पास रखकर बाकि सब दूसरों को देना चाहता हूँ यदि ईश्वर का अस्तित्व सत्य है, तो।
2 मै ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता हूँ।
3 मैं भारत को अपनी मां मानता हूँ, और उसे पूजना चाहता हूँ, मेरे पास जो कुछ भी है वह भारत माता का ही है।

ये तीन पागलपन अरविंद के जीवन के अत्यन्त उल्लेखनीय प्रसंग है।

अभ्यास प्रश्न भाग : 2

1. **लघुउत्तरीय प्रश्न –**
   (क) श्री अरविंद को किस राज्य ने अपने राज्य में सेवा का अवसर प्रदान किया?
   (ख) श्री अरविंद कितने वर्ष बाद और कब स्वदेश वापस लौटे?
   (ग) श्री अरविंद ने बड़ौदा में कुल कितना समय व्यतीत किया?
2. **एक शब्द में उत्तर दीजिए।**
   (क) श्री अरविंद के पत्नि का क्या नाम था?
   (ख) बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन के बौद्धिक नेता कौन थे?
   (ग) श्री अरविंद किसका साक्षात्कार करना चाहते थे?

11.3.3 : क्रांतिकारी जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर :इस शीर्षक में हम जानेंगे कि किस प्रकार अरविंद ने मातृभूमि की सेवा एक क्रांतिकारी के रूप में उनका क्रान्तिकारी मन

केवल मन केवल जलकल्याण के लिए छाटपटाने लगा और उन्होंने क्रांतिकारी जीवन का त्याग कर आध्यात्मिक पथ को अपना लिया तो आईये जानते ये सब कैसे हुआ।

श्री अरविंद की जीवन यात्रा में भी राजनैतिक क्रांति की अग्नि प्रज्वलित होने लगी। उनके व्यक्तित्व में भरे हुए साहस, कौशल तथा देशप्रेम की भावना इन घटनाओं में मुखरित होती है। 30 अप्रैल को एक घोड़ा गाड़ी पर यह समझ कर बम फेंका गया कि उसमें किंग्स फोर्ड बैठे हैं, जबकि मुजफ्फरपुर नगर क्लब से दो महिलाऐं अपने घर जा रहीं थी। मि. फोर्ड तो बच गये पर दोनों महिलाओं की मृत्यु हो गई। इस उपद्रव से क्षुब्ध होकर ब्रिटिश सरकार ने 2 मई को कलकत्ता में उन अनेक स्थनों की तलाश करवायी जिन पर पहले ही से निगरानी की जा रही थी। ये विभिन्न स्थान थे 32 मुरारी पुक्कूर गार्डन, 15 गोपी मोहन दत्ता लेन, 33/4 राजानावा क्रिस्ता स्ट्रीट, 430/2 तथा 134 हैरीसन रोड, 48ग्रे स्टीट रोड इत्यादि। इन सबमें श्री अरविंद का कलकत्ता का निवास स्थान सबसे ऊँचा था। बाद में श्री अरविंद घोष सहित 13 षड़यन्त्रकारियों को पकड़ा गया।

8 मई प्रातः 5 बजे अरविंद को उनके घर से गिरफ्तार कर दिया गया। जिसका वर्णन उन्होंने कारा–कहानी नामक पत्र में किया था। एक दिन हवालात में रहने के पश्चात श्री अरविंद को अलीपुर जेल भेजा गया। अरविंद को जमानत में भी नहीं छोड़ा गया। 19 अगस्त 1908 मुकदमा सेशन के सुपुर्द किया गया पैसा खत्म होने के कारण अरविंद के वकील ने पैरवी करनी छोड़ दी। ऐसे में चितरंजन दास नाम वकील ने निःशुल्क मुकदमे की पैरवी की।

इस मुकदमें में 206 साक्षियों के बयान लिये गये 4000 दस्तावेज पेश किये गये बम, बन्दूक, गोला आदि विस्फोटक विषैले अम्ल ओर अन्य विस्फोटक मिलाकर 5000 वस्तुएँ साक्ष्य सामग्री के रूप में प्रस्तुत की गई थी। मुकदमा सेशन जज के बीच कम्पाट की अदालत में था जो कि कैम्ब्रिज में अरविंद के सहपाठी थे ओर ग्रीक की परीक्षा में उनके बाद दूसरा स्थान पा सके थे। 136 दिन तक सुनवाई चली 9 दिन तक चितरंजन दास ने भाषण दिया जो कि अद्वितीय था। 6 मई 1909 को अदालत ने अपना निर्णय दिया जिसमें अरविन्द को बरी कर दिया गया।

श्री अरविन्द के जीवन को भी अलीपुर कारागार के 'आश्रमवास' ने एक नयी दिशा दी। जेल में श्री अरविंद का योगाभ्यास, दैवी अनुभूतियाँ, आत्मचिन्तन और गीता उपनिषद् पर विचार चलता रहा। वहां ध्यानस्थ मुद्रा में उन्हें विवेकानंद की वाणी भी सुनाई दी। अपने सब अनुभवों का विवरण श्री अरविन्द ने बाद में पांडिचेरी में साधकों के साथ बातचीत करते हुए समय–समय पर सुनाया था। 14 मई 1909 को उन्होंने देशवासियों के नाम एक पत्र में कृतज्ञता व्यक्त की और लिखा कि जिन लोगों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरे प्रवास के दौरान मेरी मदद की है, मैं उनका आभारी हूँ। यदि देश के प्रति मेरे प्रेम ने मुझे खतरे में डाला था तो देशवासियों के प्रेम ने मुझे सुरक्षित निकाल लिया है।

30 मई 1909 को श्री अरविंद ने उत्तरपाड़ा अभिभाषण में एक जनसभा को सम्बोधित किया। उनका यह उत्तरपाड़ा अभिभाषण बहुत प्रतिद्ध है। अपने जेल प्रवास की अनुभूतियों का विवरण और भावी कार्यक्रम की रूप रेखा का संकेत करते हुए श्री अरविंद ने उत्तरपाड़ा में कहा था – भारत का उठना दूसरे देशों की तरह नहीं है। वह अपने लिये नहीं उठ रहा है कि दुर्बलों को कुचले। वह संसार पर उस शाश्वत् प्रकाश को फैलाने के लिए उठ रहा है, जो उसे सौंपा गया है। भारत का अस्तित्व सदा से ही मानवता के लिए

रहा है, अपने लिए नहीं, अतः यह आवश्यक है कि वह महान बने अपने लिए नहीं, मानवता के लिए।

बाद में भारत के वायसराय लार्ड मिन्टो के अरविंद को देश निकाला दिया जाने का प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। अरविंद ने एक दिन की घटना को बताते हुए कहा है कि – मै आगामी घटनाओं के बारे में अपने मित्रों की जोशपूर्ण टिप्पणियाँ सुन रहा था कि मुझे ऊपर से मेरे सुपरिचित स्वर में एक आज्ञा मिली, केवल तीन स्वर शब्दों में 'चन्द्रनगर को जाओ' । बस, कोई 10 मिनट के अन्दर चन्द्रनगर जाने वाली नाव में सवार था। उसके बाद उसी 'आज्ञा' के अनुसार मैं चन्द्रनगर भी छोड़कर 4 अप्रैल 1910 को पॉडिचेरी जा पहुँचा पॉडिचेरी पहुंचकर श्री अरविंद ने राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेना छोड़ दिया। वह पुनः भारत आने के उद्देश्य से गये थे परन्तु मानव जाति के लिए 19 वीं शताब्दी में होने वाली भौतिक क्रान्ति के साथ वह बौद्धिक क्रांति की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे। उनकी दृष्टि में भारत अब भी अपने गौरवमय अतीत में मानवता के भविष्य में कुंजी के लिए हुआ था। अतः उन्होंने अपनी शक्ति को राजनीतिक गतिविधियों से हटाकर इस दूसरी दिशा में लगा दिया। 1905–1910 तक की अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों के परिणामों पर प्रकाश डालते हुए 1914 में हिन्दु पत्र के संवाददाता को बताते हुए उन्होंने कहा – 1905–1910 तक के गतिविधियों की उपलब्धि भारत में सम्पूर्ण मानवता से अलग राष्ट्रीय स्तर को प्राप्त करना था। उस आन्दोलन ने उस कार्य पूर्ति कर दी। भविष्य के लिए एक अच्छी नींव का निर्माण कर दिया। वास्तव में कहा जा सकता है, कि 1910 तक वह संकुचित अर्थवाली राजनीति से ऊपर उठ गये थे। इस तरह श्री अरविंद के राजनीतिक दर्शन की टेक, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद–अन्त में उनको यहां तक ले गयी कि वह राजनीति को ही त्यागकर आध्यात्मिक उन्नति के माध्यम से अंतिम समाधान की खोज में लग गये केवल अपने लिए नहीं, बंगाल के लिए नहीं, भारत के लिए नहीं सम्पूर्ण मानवता के लिए। 1910 से 1950 तक उनके जीवन के इनके चालीस वर्ष और उच्च आदर्श को यथाशीघ्र प्राप्त करने के प्रयत्न में ही बीते। 18 वर्ष की उम्र में श्री अरविंद ने हकोवा नामक ग्रीक अनुच्छेद का अनुवाद किया था। अकसर वह ग्रीक व लैटिन भाषा में लिखा करते थे। इंग्लैण्ड में लिखी गई उनकी प्रारम्भिक कविताओं के संग्रह का नाम 'सांग्स टू मार्टिला' है।

अभ्यास प्रश्न भाग : 3

1. **एक शब्द में उत्तर दीजिए।**

   (क) श्री अरविंद को अंग्रेजो ने कब गिरफ्तार किया?

   (ख) अलीपुर कारागार में श्री अरविंद को ध्यान करते हुए किसकी वाणीी सुनाई दी ?

   (ग) अरविंद को देश निकाला दिये जाने का प्रस्ताव किसने ठुकराया?

2. **सत्य/ असत्य का चुनाव करें।**

   (क) श्री अरविंद ने अपनी गिरफ्तारी का वर्णन कारा कहानी में किया था। सत्य/ असत्य

   (ख) 31 मई 1909 को श्री अरविंद ने उत्तरपाड़ा का अभिभाषण दिया था। सत्य/ असत्य

   (ग) श्री अरविंद की प्रारम्भिक कविताओं का संग्रह 'सांग्स टू मार्टिला' था। सत्य/ असत्य

11.3.4 : लेखन कार्य–इस शीर्षक में हम श्री अरविंद के लेखन कार्य पर चर्चा करेंगे और जानेंगे कि किस प्रकार श्री अरविंद ने अपने लेखन कार्य से भारतवासियों को मातृभूमि की सेवा के लिए प्रेरित किया।

श्री अरविंद ने पत्रकारिता के क्षेत्र में आश्चर्य जनक ख्याति प्राप्त की थी। उनका एक–एक लेख ऐसा प्रतीत होता था जैसे की शीघ्र ही ब्रीटिश शासन की नीवं भारत से हिलने वाली है। 1886 में लन्दन के स्कूल से ही उन्होंने कविताएं लिखनी शुरू कर दी थी, 64 वर्ष की आयु में 1950 में उन्होंने सावित्री महाकाव्य ग्रन्थ का प्रकाशन किया। अलीपुर केन्द्रीय जेल के अनुभव पर कारा कहानी नामक लेख बंगाली भाषा में लिखा जहां पर वे 1908–1909 तक बन्दी रहे थे।

1893–1909 तक समस्त लेख बंगाली में ही होते थे। इसके अतिरिक्त अपने जीवन के 78 वर्ष के दौरान अंग्रेजी भाषा में ही लेख लिखे थे। 1893–94 के दौरान उन्होंने बहुत से लेख एक सामान्य शीर्षक पुरानों के लिए नए दीप के अंतर्गत इन्दुप्रकाश बम्बई के मराठी पत्र को दिये। 1905 में उन्होंने बंगाल में वन्दे मातरम् पत्र का संपादन भी किया वीरेन्द्र कुमार घोष द्वारा प्रकाशित बंगाल के प्रसिद्ध क्रांतिकारी सप्ताहिक युगान्तर में भी अरविंद के पत्र छपते थे। अलीपुर बम केस से मुक्त होने के बाद 19 जून 1909 अरविंद ने साप्ताहिक पत्रिका 'कर्मयोगिनी' का पहला अंक प्रारम्भ की। 1909 में सप्ताहिक पत्रिका धर्म जो कि बंगाली में भी प्रारम्भ की। अरविंद ने 1906 – 1910 तक 5 वर्ष का सम्पादन कार्य किया। यत्र तत्र वह विभिन्न पत्रिकाओं में बिना अपना नाम दिये हुए सम्पादकीय देते रहे। अपने लेख और पत्रिकाओं के माध्यम से अरविंद का स्वरूप सामने आया उसने उन्हें राष्ट्रीय पत्रकारों की प्रथम श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। उनका लोहा अंग्रेजी सरकार के प्रशासक भी मानने लगे।

श्री अरविंद एक राष्ट्रीय प्रत्रकार के रूप में अग्रणी और सर्वमान्य ही नहीं, वह प्रतीक के रूप में है। उन्होंने अपने लेखों और पत्रकारिता के माध्यम से नवचेतना को जागृत किया ही, नवयुवकों और देश को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया। अरविंद द्वारा लिखित प्रमुख ग्रन्थ के नाम है–दिव्य जीवन, योग समन्वय, वेद रहस्य, गीता प्रबंधन, केन उपनिषद, ईशोपनिषद, योग के आधार, मानव एकता का आदर्श, मानव विकास चक्र, भावी कविता दिसम्बर, द सैसांज इन इण्डिसा, इज इण्डिया सिविलाइज्ड, भारतीय संस्कृति की तर्क बुद्धि परक समीक्षा, भारतीय संस्कृति के बचाव में आदि।

अभ्यास प्रश्न भाग : 4

1. **रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।**

(क) श्री अरविंद ने .... वर्ष की उम्र में .... महाकाव्य लिखा।

(ख) श्री अरविंद के पत्र प्रसिद्ध क्रान्तिकारी साप्ताहिक .... में छपते थे।

(ग) श्री अरविंद ने .... तक .... वर्ष का सम्पादन कार्य किया।

11.3.5 : आध्यात्मिक उन्नयन की ओर :अब हम श्री अरविंद के आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धियों के विषय पर चर्चा करेंगे और जानेंगे कि श्री अरविंद ने किस प्रकार योग साधना के मार्ग पर चलते हुए मानव कल्याण का कार्य किया।

श्री अरविंद जब भारत आये तो वे आध्यात्मिक विषयों से बिल्कुल अनजान थे। हिन्दू धर्म संस्कृति का उन्हें जरा भी परिचय नहीं था। श्री अरविंद फरवरी 1893 में भारत लौटे। भारत

की धरती पर पांव रखते ही श्री अरविंद ने अनुभव किया कि उनमें एक गंभीर शांति का अवतरण हुआ है ओर यह शांति उन्हें चारो ओर से लपेटे रहती थी। स्वयं उन्होंने एक चर्चा में बताया था – ''भारत में आने के बाद से मेरा जीवन और मेरा योग दोनों ही, एक साथ लौकिक और पारलौकिक रहें हैं। किसी एक पर विशेष जोर नहीं दिया गया, अपोलो बंदरगाह पर पैर रखते ही मुझे आध्यात्मिक अनुभूतियां होने लगी थी। लेकिन ये संसार से अलग ले जाने वाली न थी। यह 1893 का वर्ष भारतवर्ष में काफी महत्व का सिद्ध हुआ ऐसा हम मान सकते है। क्योंकि इसी वर्ष में श्री अरविंद ने भारत में पदार्पण किया था, इसी वर्ष में स्वामी विवेकानंद शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिका गये और इसी वर्ष में गांधी जी भारतीय के मामले को हाथ में लेकर दक्षिण अफ्रिका गये और इसी वर्ष में भगिनी निवेदिता भारतवर्ष आयी।

एक समय श्री अरविंद घोड़ा गाड़ी में बैठकर कहीं जा रहे थे। घोड़ा गाड़ी कमाटी बाग के पास आई तब उन्हें अंतर में अचानक ऐसा लगा कि घोड़ा एक कदम आगे बढ़ा तो दुर्घटना हो जायेगी। उनके अंर्तमन में इस दुर्घटना का दृश्य एक क्षण में स्पष्ट आ गया, परंतु उनके आश्चर्य के बीच उनके अंदर से तेजोमय पुरुष बाहर आया और घोड़े की लगाम हाथ में लेकर खींच ली घोड़े पर काबू कर लिया और घोड़ा रूक गया। वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका।श्री अरविंद का भारत में आगमन ही आध्यात्मिक अनुभूति से हुआ। इस परम शांति के अपने भीतर अवतरण के साथ एक दूसरी अनुभूति भी हुई। दार्जलिंग के स्कूल में जिस तमस ने घेर लिया था और जो पूरे इंग्लैण्ड के निवास के दौरान उनमें समाया रहा। वह इस शांति के आते ही चला गया।

शरीर छोड़कर चली गई आत्माओं को जगत में से बुलाकर उनके साथ संपर्क हो सकता है, इसका अनुभव भी श्री अरविंद को बड़ौदा में हुआ। प्लेन्चेट के प्रयोग द्वारा टेबल पर टकोर करके, उसके द्वारा प्रश्न के उत्तर प्राप्त करते थे। प्लेन्चेट द्वारा आत्माओं को बुलाते थे, एक बार उन्होंने रामकृष्ण परमहंस की आत्मा को आमंत्रित किया। जाते जाते उन्होंने मात्र इतना कहा था, मंदिर बनाओ–मंदिर बनाओ। उस समय भवानी मंदिर की योजना सबके मन में चल रही थी। इसलिए इन शब्दों का अर्थ भवानी मंदिर का निमार्ण करो ऐसा सबने किया, परंतु वर्षो बाद यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के बाद श्री अरविंद में इन शब्दों का सही अर्थ करते हुए बताया कि मंदिर बनाओ इसका अर्थ है कि तुम अपने अंदर मां का मंदिर बनाओ। अपने आप को ऐसा रूपान्तरित कर दो कि वह मां के मंदिर का रूप बन जाये।

अनन्त ब्रम्हाण्ड के साक्षात्कार की अनुभूति भी उनके जीवन में अनायस उतर आयी थी। उस समय वे महाराजा सायाजी राव गायकवाड़ के साथ कश्मीर गये थे तब उन्हे निर्वाण या ब्रह्म के विषय में कोई ज्ञान नहीं था। उन्होंने शास्त्रों का ऐसा कोई अध्ययन भी नहीं किया था फिर भी तख्त ए सुलेमान की टेकरी, जिसे शंकराचार्य की टेकरी भी कहते हैं उसी पर अनन्त ब्रह्म का अनुभव हुआ। इस अनुभूति के विषय में उन्होंने शिष्यों से वार्तालाप में कहा था काश्मीर में तख्त ए सुलेमान की टेकरी पर मैं शून्य में सभी वस्तुएँ लोप होने लगी मैं एक सर्व–व्यापी अगम्य शून्य में विलीन हो रहा हूँ, ऐसा मुझे लगा था। इस अनुभव को व्यक्त करते हुए उन्होंने अद्वैत नाम की कविता भी लिखी थी।

इसी प्रकार पत्थर की मूर्ति में भगवान हो सकते हैं, ऐसा पहले श्री अरविंद को स्वीकार नहीं था। परंतु एक चांदौर करनाली के एक छोटे काली मंदिर में गये वहां उन्होंने मां काली की पाषाण प्रतिमा की ओर देखा तो वह मात्र पाषाण प्रतिमा न थी, अपितु साक्षात

मां काली ही थी। इस आध्यात्मिक अनुभव से मूर्तिपूजा के विषय में उनकी शंका निर्मूल हो गयी। तो इस प्रकार अनायास हुए सब आध्यात्मिक अनुभवों ने श्री अरविंद के यूरोपियन संस्कार संपन्न मानस में आध्यात्मिक जगत के प्रति आकर्षण जगा दिया। उनके अंतर को मोड़ दिया जिसने उन्हें योग के मार्ग पर सहज रूप से अंततः पहुँचा ही दिया।

इन आध्यात्मिक अनुभूतियों ने श्री अरविंद को योग के गहरे आयामों को जानने के लिए प्रेरित किया जिससे योग में श्री अरविंद की रूचि जागी। श्री अरविंद जगत का त्याग करके योग मार्ग पर जाने के बिल्कुल भी इच्छुक न थे। उस समय तो उनका एक मात्र ध्येय भारत की स्वतंत्रता था और इस कार्य के लिए उन्हें आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। इस बात के लिए तब वे और अधिक प्रेरित हुए, जब उनके छोटे भाई विरेन्द्र, भवानी मंदिर की स्थापना के लिए विन्ध्य के जंगल गये थे। वहां से विषैला बुखार लेकर बड़ौदा आये। यह बुखार किसी प्रकार से उतर नहीं रहा था। उसी समय एक नागा संन्यासी अरविंद के घर आया। वीरेन्द्र की बिगड़ती स्थिति थी और वे वहीं सोये पड़े थे तभी नांगा संन्यासी की दृष्टि उन पर पड़ी और पूछा यह कौन सोया है। तब उस समय श्री अरविंद ने बताया की वीरेन्द्र की स्वास्थ्य की स्थिति काफी चिंताजनक है तब नागा साधु ने एक प्याला भर जल मंगाया और मंत्रशक्ति से अभिमंत्रित किया ओर उसे वीरेन्द्र को पीने के लिए दे दिया, तत्पश्चात वीरेन्द्र का बुखार उतर गया। इस घटना से श्री अरविंद ने अनुभव किया कि योग शक्ति का व्यवहार में उपयोग कर सकते हैं। तो क्यों इस शक्ति का प्रयोग देश की स्वतंत्रता के लिए किया जाए।

श्री अरविंद ने विधिवत रूप से योग साधना आरभ करने का संकल्प लिया उस समय प्राणायाम को विशेष योग पद्धति के रूप में जाना जाता था। तो फिर श्री अरविंद अपनी योग साधना का प्रारम्भ प्राणायाम से ही किया। उनके मित्र बाबाजी देवधर इंजीनियर स्वामी ब्रह्मानंद के शिष्य थे। वे प्राणायाम के सतत् अभ्यासी थे, श्री अरविंद इनसे ही प्राणायाम की विधिवत पद्धति सीख ली थी। वे प्रतिदिन लगभग पांच घण्टे प्राणायाम करते थे। जिसे वह सुबह तीन घण्टे ओर शाम दो घण्टे अभ्यास किया करते थे। इस प्राणायाम की शक्ति का अनुभव बताते हुए वे बताते थे – ''मेरा अनुभव है कि इससे बुद्धि और मस्तिष्क प्रकाशमय बनते हैं। जब मैं बड़ौदा में प्राणायाम का अभ्यास करता था तो प्रतिदिन पांच से छः घण्टे करता था। तब मन में बहुत प्रकाश और शान्ति छा गई हो ऐसा लगता था। मैं उस समय कविता लिखता था पहले रोज 5–6 पंक्तियाँ और महिने में दो सौ पंक्तियाँ लिखी जाती थी। प्राणायाम के बाद मैं दो सौ पक्तियाँ आटे धण्टे लिख सकता था। मेरी स्मरण शक्ति पहले से मंद थी प्राणायाम के अभ्यास के बाद जब प्रेरणा होती तब सभी पंक्तियां अनुक्रम के अनुसार याद रख लेता था। साथ ही मुझे मस्तिष्क के चारो ओर विद्युतशक्ति का चक्र अनुभव होता था। प्राणायाम करने के बाद अथक परिश्रम करने की शक्ति भी आ गयी थी। पहले बहुत काम करने पर थकान लगती थी प्राणायाम से शरीर स्वस्थ्य हो गया। एक बात और प्राणायाम करते समय मच्छर बहुत हो तो भी मेरे पास भटकते भी नहीं थे। अब अनुभूतियां इतनी प्रगाढ़ होने लगी की विश्वास हो गया कि हिन्दु धर्म का मार्ग सत्यान्वेषण का ही मार्ग है। तथा उन्होंने मांसाहार का भी त्याग कर दिया तथा एक माह के भीतर ही सूक्ष्म जगत आँखो के सामने प्रकट होने लगा। अंर्तदृष्टि जागृत होने लगी।

30 दिसम्बर 1907 में श्री अरविन्द बड़ौदा आये ओर यही पर उनकी मुलाकात महाराष्ट्र के सिद्ध योगी श्री विष्णु भास्कर लेले से हुई। गिरनार पर्वत पर उन्होंने कठोर साधना की थी। भगवान दत्तात्रेय की साधना करते हुए उन्हे भगवान दत्तात्रेय के बाल स्वरूप के दर्शन हुए थे तथा योग विद्या भी उनकी कृपा से ही मिली थी वे वीरेन्द्र को नवसारी में मिले थे। बड़ोदा में खासीराव यादव के घर पर श्री अरविंद तथा योगी लेले की मुलाकात हुई वहां दोनों ने लगभग आधे घण्टे तक बातचीत की तथा श्री अरविंद को उन्होंने कहा की योग साधना नये आयामों की तरफ मुड़ चली जिसका स्वयं श्री अरविंद और योगी लेले को अनुमान न था। इस विषय में श्री अरविंद ने स्वयं लिखा योगी लेले ने मुझसे कहा – बैठ जोओ, देखो और तुम्हे पता चलेगा कि तुम्हारे विचार बाहर से तुम्हार भीतर आते हैं । उनके घुसने से पहले ही उन्हें दूर फेंक दो, मैं बैठ गया और देखा यह जानकार चकित रह गया की सचमुच बात ऐसी ही है मैंने स्पष्ट रूप से देखा एवं अनुभव किया की विचार पास आ रहा है मानों सिर के भीतर से या ऊपर से घुसना चाहता हो और उसके भीतर आने के पूर्व ही मैं स्पष्ट रूप से पीछे धकेल देने में सफल हुआ। तीन दिन में वस्तुतः एक ही दिन में मेरा मन शाश्वत शांति से परिपूरित हो गया – वह शांति अभी तक विद्यमान है। इस प्रकार उन्होंने बताया इस प्रकार अकल्पनीय ढंग से मुझे निर्वाण का अनुभव हो गया, बहुत लम्बे समय तक यह अनुभव मेरे अंदर रहा। मुझे लगा कि अब मैं चाहू तो भी उससे छूट नहीं सकता था। दूसरी प्रवृत्तियों में लगा रहने पर भी यह अनुभव मुझ में स्थायी रूप से बना रहा। इस अनुभव से श्री अरविन्द का मानस जगत समाप्त हुआ तथा ब्रह्म जगत अब उद्घाटित हो गया। अब उनकी विचार करने की पद्धति ही बदल गयी। तीन ही दिन में चेतना इतनी परिवर्तित हो जोयगी इसका ध्यान न लेले को था ना ही स्वयं श्री अरविंद को। इस बारे में श्री अरविंद ने लिखा है, प्रथम फल था अत्यंत शक्तिशाली अनुभूतियों की एक श्रृंखला और चेतना में कुछ ऐसे आमूल परिवर्तन जिनकी लेले ने कल्पना भी न की थी और जो मेरे निजी विचारों के सर्वथा विपरीत थी, क्योंकि उन्होंने मुझे विस्मय जनक तीव्रता साहित स्पष्ट दिखा दिया कि यह संसार परब्रह्म निराकर सर्वव्यापकता में चलचित्रवत शून्य आकृतियों की लीला के समान है।

वेदान्त दर्शन की चरमावस्था की साधना का प्रथम सोपान बना परन्तु उन्हें एक प्रकार की समस्या का भी अनुभव हुआ क्योंकि ज्योंही वे तीन दिन बाद बाहर आये उन्हें मुम्बई के राष्ट्रीय पक्ष की ओर से भाषण देने का निमंत्रण हुआ, परंतु श्री अरविंद ने योगी लेले के समक्ष रखी। उन्होंने कहा कि सभी जाकर श्रोताओं का नारायण मानकर नमस्कार करो ओर फिर ऊपर से आने वाली प्रेरणा के लिये शांत होकर प्रतीक्षा करों, तुम्हें जो बोलना होगा वह वाणी अपने आप उतर आयेगी। फिर इसके बाद श्री अरविंद ने जो भी व्याख्यान दिये वे सब इसी प्रकार ऊर्ध्व से उतर आयी। योगी लेले ओर श्री अरविंद दोनों में से किसी को यह पता नहीं था कि परमात्मा का महान कार्य करने की पूर्व तैयारी का तो यह प्रथम चरण है। अब श्री अरविंद चौबीसों घण्टे ध्यान की स्थिति में रहते थे और सारे कार्य अंतर्यामी के आदेश से होने लगे। श्री अरविंद ने अपने इस बदली हुई स्थिति के बारे में एक पत्र में मृणालिनी को बताया था – तुमसे मिलने के लिये 4 जनवरी का दिन निश्चित था, पर मैं नहीं आ सका यह मेरी अपनी इच्छा से नहीं हुआ है जहां भगवान मुझे ले जाना चाहते है वहां मुझे जाना पड़ता है उस समय मैं अपने काम से नहीं गया था, भगवान के काम से गया था, मेरे मन की दशा एकदम बदल गयी है अभी तो इतना ही कह सकता हूँ कि मैं मेरा स्वामी नहीं हूँ। भगवान मुझे जहां ले जाए वहां कठपुतली की

तरह जाना है। भगवान जो कुछ करवाना चाहते हैं मुझे कठपुतली की तरह करना है, अब से मैं बिल्कुल मुक्त नहीं हूँ। जो कुछ कर रहा हूँ उसका आधार मेरे संकल्प से नहीं परंतु यह सब भगवान की आज्ञा से हो रहा है।

ई.स. 1910 से 1914 तक का समय श्री अरविंद की मौन साधना का काल था। श्री अरविंद ने सन् 1908 में योग में पद्धतिपूर्वक प्रवेश किया था। ई.स. 1914 तक छः वर्ष के अन्तराल में उके समक्ष नई चेतना के अवतरण की साधना का कार्य स्पष्ट हो गया। उत्कट साधना के लिए श्री अरविंद 1926 में एकान्त में चले गये थे । 1926 से 1938 तक का बाहर वर्ष के उनके जीवन का कालखण्ड अभेद्य था। उनके सेवक श्री चंपकलला और श्री माता जी के सिवाय उस एकांत में किसी का प्रवेश नहीं था। दुर्घटना जिसमें उनके जांघ की हड्डी टूट गई थी, कुछ शिष्यों का उनके करीब जाने का अवसर मिला था। छः माह में वे पूर्ण स्वस्थ्य हो गये थे किन्तु प्राणपण से सेवा करने वाले शिष्यों को वह विदा नहीं कर सके। 1938 से 1950 दूसरा बारह वर्ष का समय श्री अरविंद की साधना काल का अनोखा समय था। सवेरे नौ, दस बजे तक वे हिन्दू समाचार पत्र पढ़ते थे और फिर दोपहर तीन, चार बजे तक लम्बा विराम होता था, जिसमें वे विशेष योगसाधनाएँ करते थे वे अकसर आराम कुर्सी पर या बिस्तर या खुली आँसे जाग्रत समाधि में रहते थे।

अभ्यास प्रश्न भाग : 5

1. **बहुविकल्पीय प्रश्न –**

(क) श्री अरविन्द भारत कब लौटे।

अ. फरवरी 1899 ब. फरवरी 1893 स. फरवरी 1895 द. फरवरी 1890

(ख) श्री अरविंद किस प्रयोग के द्वारा आत्माओं को बुलाते थे।

अ. प्लेन्चेट ब क्वीन्चेट स सोलचेट द घोस्टचेट

(ग) बडौदा में श्री अरविंद की मुलाकात किस योगी से हुई।

अ. श्री विष्णु भास्कर लेले ब. ब्रह्मानंद स. स्वामी विवेकानंद द. बाबाजी देवधर

2. **रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।**

(क) .... बंदरगाह पर उतरते ही श्री अरविंद को आध्यात्मिक अनुभूति हुई।

(ख) मंदिर बनाओ का अर्थ अरविंद के बताया कि तुम अपने अंदर ....का मंदिर बनाओ।

(ग) उत्कट साधना के लिए श्री अरविंद .... में एकान्त मे चले गये।

11.3.6 : श्री माँ का सानिध्य व अंतिम समय :अब हम श्री अरविन्द और श्री माँ के दिव्य संबंध को जानेंगे और यह भी जानेंगे की किस प्रकार श्री अरविन्द ने मानव कल्याण कार्यों को करते हुए अंतिम समय व्यतित किया।पॉल रिशार फ्रेन्च इण्डिया की काउन्सिल का चुनाव लड़ने के लिए पॉण्डिचेरी आये। उनके साथ उनकी पत्नी थी। स्टीमर जैसे–जैसे पाण्डिचेरी की आरे गति कर रहा था। वैसे–वैसे मीरा के अंतर से प्रभु की प्रार्थना और अधिक उत्कट होती जा रही थी। उसके हृदय में अवर्णनीय आनन्द और परमशान्ति के अनुभव हो रहा था। स्टीमर जब पॉडिचेरी से दस समुद्री मील दूर था, तब मीरा को एक हल्के तेजोमय वातावरण का स्पर्श हुआ। इस अनुभव के विषय में श्री माता जी ने बताया

था – मैं जब यहां पहली बार आयी थी तब मुझे श्री अरविन्द की साधना का वातावरण का अनुभव सूक्ष्म रूप से दस समुद्री मील दूर से हुआ था।

वर्षों से जिसकी प्रतीक्षा थी वह धन्य पल आ ही गया। जीवन की इस पुण्य घटना के बारे में बताते हुए श्री माँ ने बताया – जैसे ही मैंने श्री अरविन्द को देखा कि तुरन्त वही सुपरिचित व्यक्ति कि जिसको मैं श्री कृष्ण कहती थी, यही है, यह मैं पहचान गई। मेरा स्थान ओर मेरा कार्य उनके साथ भारत में है, इस बात को मुझे विश्वास हो गया। इस प्रसंग में स्वयं श्री माँ ने बताया, मैं उनके चरणों के पास बैठ गई मेरे आगे छोटा सा स्टूल था, वह मेरे कपाल तक आता था। मुझे थोड़ा ढक देता था। मैं उनके पास बैठी रही, जब खड़ी हुई तो बिना माँगे ही उन्होंने मेरे मन में नीरसमा स्थापित कर दी।

अब श्री अरविंद का विदाई दिवस निकट ही था, ओर 5 दिसम्बर 1950 को 1 बजकर 26 मिनट पर उन्होंने शरीर छोड़ दिया तथा उनके शरीर छोड़ने के बाद भी 111 घण्टों तक अपूर्व स्वर्ण आभामय प्रकाश निकलता रहा, इस प्रकाश को डॉ. प्रभात सान्याल तथा नीरोदबरण ने श्री माँ की कृपा से स्पष्ट अपनी आंखों से देखा था। साधारणतः डॉक्टरों ने तो निर्णय दे दिया था कि रूधिर में विषैला द्रव्य पूर्ण रूप से व्याप्त हो चुका है, जिसके प्रभाव से शरीर का रंग थोड़े समय में ही बदलकर काला पड़ने लगता है तथा विकृति के चिन्ह को देखा जा सकता है परंतु श्री अरविंद के देहत्याग के पांचवे दिन तक (एक सौ ग्यारह घण्टे) अतिमानस का प्रकाश घनीभूत होकर उतर रहा था। अंत में 9 दिसम्बर को शाम को पाँच बजे सादगी भरे वातावरण में उनकी देह को समाधि दे दी गयी।

अभ्यास प्रश्न भाग : 6

1. **रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।**

(क) श्री माँ को अरविंद की साधना का वातावरण .... दूर से महसूस हुआ था।

(ख) श्री अरविंद ने .... दिसम्बर .... को अपना शरीर छोड़ दिया।

(ग) श्री अरविंद के शरीर छोड़ने के......................घन्टे बाद भी उनका शरीर आभावान बना रहा।

11.4 : स्वामी कुवल्यानंद का जीवन परिचय :

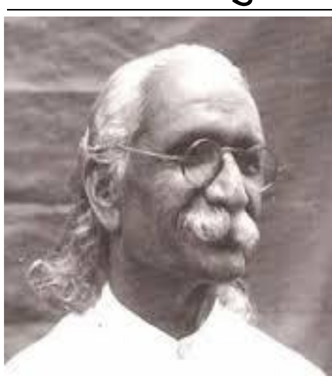

अब आपको एक ऐसे व्यक्तित्व का परिचय देंगें जिसने अपना सारा जीवन योग के वैज्ञानिक पक्ष को मजबूत करने में लगा दिया। कुवल्यानंद के विषय में पढ़ने पर पहले पहल यह नजर आता है, कि इन्होंने योग में साधना से ज्यादा शरीर को महत्व दिया किन्तु ऐसा नहीं था। कुवल्यानंद के द्वारा कई वैज्ञानिक प्रयोग किये गये जिनसे यह सिद्ध हुआ की योगाभ्यास द्वारा मानव शरीर पर क्या क्या सकारात्मक बदलाव आते हैं। जिससे लोगों का योग के प्रति रुझान बढ़ने लगा और समाज अब योग को केवल साधना का माध्यम न मान कर स्वस्थ रहने के माध्यम के तौर पर भी जानने लगा

था। इसका परिणाम यह निकला कि समाज योग के शारीरिक पक्ष के साथ साथ उसके साधनात्मक पक्ष को भी जानने लगा था। और धीरे धीरे सहजता पूर्वक उसे अपने जीवन में उतारने लगा था। और यही महत्वपूर्ण भी था। इस प्रकार कुवल्यानंद ने भारतीय ही नहीं अपितु समस्त विश्व के लोगों को वैज्ञानिक तरीके से योग को अपनाने पर विवश कर दिया। तो आईये जानते हैं, कि आखिर कुवल्यानंद ने ये सब कैसे किया।

11.4.1 : जन्म एवं प्रारम्भिक जीवन :स्वामी कुवलयानंद जी का जन्म 13 अगस्त सन् 1883 को हुआ था। स्वामी जी अपनी विद्यार्थी जीवन में एक मेधावी छात्र के रूप में जाने जाते थे। ये संस्कृत के अग्रणी छात्र के रूप में रहे। मैट्रिक परीक्षा के बाद इन्होंने संस्कृत विषय में छात्रवृत्ति प्राप्त की। इन्होंने मैट्रिक में राज्य स्तर में सभी विद्यार्थियों में संर्वाधिक अंक प्राप्त किये। विद्यार्थी जीवन में ये लोकमान्य तिलक और श्री अरविन्द जैसे राजनीतिज्ञों से अत्यधिक प्रभावित थे। इनसे प्रभावित होकर इन्होंने मानवता की सेवा करने का अपना विचार बनाया। इनके पहले गुरु राजरत्न प्रोफेसर मलिक राय थे। इनसे इन्होंने 1907 से 1910 तक शारीरिक शिक्षा में प्रशिक्षण प्राप्त किया। सन् 1919 में स्वामी जी 'परमहंस माधव दास जी' महाराज के सम्पर्क में आये। इनसे इन्होंने योग विद्या के गुप्त रहस्यों को जाना और अन्य यौगिक क्रियाएँ भी सीखी। माधवदास जी की शिक्षा से प्रभावित होकर इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन योग की वैज्ञानिक विधि को सामान्य मनुष्यों तक पहुँचाने के लिए समर्पित कर दिया। ये योग की विधियों और अपने गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धावान एवं समर्पित थे इनके विचार में योग एक ऐसी विद्या है, जिसके माध्यम से एक सामान्य मनुष्य भी ऊँचे स्थान पर पहुँच सकता है।

इसके पश्चात इन्होंने मन व शरीरस्थ शक्ति का विस्तृत अध्ययन किया और यौगिक क्रियाओं का शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों का नवीन विज्ञान की विधियों के द्वारा प्रयोगात्मक रूप में जानना प्रारम्भ किया। इनके प्रयोग मुख्यतया योग की मुख्य क्रियाओं, मुद्रा, प्राणायाम, बंध आदि के ऊपर रहे। इन क्रियाओं का प्रयोग करते समय इन्होंने चिकित्सकों व एक्स–रे मशीनों आदि की सहायता लेकर शरीर पर पड़ने वाले इन क्रियाओं के प्रभावों को देखा। इन सभी क्रियाओं का शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव को देखने के लिए उन्हें आधुनिक प्रयोगशाला में जांचा परखा। सन् 1924 में इन्होंने मन बनाया कि योग विषय पर अनुसंधान कार्य होना चाहिए। इसी भाव के साथ ही सन् 1924 ई0 में ही इन्होंने ''कैवल्यधाम'' नामक संस्था की स्थापना लोनावाला (महाराष्ट्र) में की। यही से इन्होंने ''योग मीमांसा'' नामक पत्रिका निकालना भी प्रारम्भ किया।

अभ्यास प्रश्न भाग : 7

1. **एक शब्द में उत्तर दिजिए।**
   क. स्वामी कुवल्यानंद का जन्म कब हुआ था?
   ख. स्वामी कुवल्यानंद के पहले गुरु कौन थे?
   ग. स्वामी कुवल्यानंद परमहंस माधवदास जी के सम्पर्क में कब आए?
   घ. कैवल्यधाम की स्थापना कब हुई?
   ड. कैवल्यधाम से किस पत्रिका का सम्पादन स्वामी कुवल्यानंद ने किया?

11.4.2 : योग के क्षेत्र में प्रवेश: पोरबंन्दर के राणा नटवर सिंह के नाम पर इन्होने कैवल्यधाम में ही राणा नटवर सिंह शरीर–विकृति विज्ञान प्रयोगशाला की स्थापना की। आगे चलकर इसका काफी विस्तार हुआ। सन् 1936 में चौपाटी के पास इन्होंने ''बॉम्बे हैल्थ सैन्टर'' के नाम से एक केन्द्र खालो। सौराष्ट्र के राजकोट नामक शहर में सन् 1943

में कैवल्यधाम की एक शाखा खोली। इसी वर्ष इन्होंने यौगिक साहित्य और उनमें नवीन वैज्ञानिक अनुसंधान करने के लिए कैवल्यधाम में ही श्रीमाधव योग मंदिर नामक एक समिति का गठन किया। इस समिति में आजीवन सदस्यों के रूप में विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों को रखा गया।

योग के चिकित्सा संबंधी महत्व को देखते हुए सन् 1961 में इन्होंने लोनावाला में ही श्रीमती अलका देवी तीरथ राम गुप्ता यौगिक अस्पताल की स्थापना की । श्री स्वामी जी द्वारा स्थापित यह पहला यौगिक चिकित्सालय था। लोनावाला में ही इन्होंने यो संस्कृति व अध्यात्म के लिए एक विद्यालय की स्थापना की। इसमें महत्वपूर्ण योजनायें स्वामी जी की देख–रेख में ही चलती थी। इस विद्यालय में योग विषय के ऊपर विभिन्न महत्वपूर्ण शोध कार्य किये गये। देश–विदेश में कैवल्यधाम के प्रशिक्षित युवक योग शिक्षकों के रूप में नियुक्त हुए।

अभ्यास प्रश्न भाग : 8

1. **अति लघुउत्तरीय प्रश्न**

   क. बॉम्बे हेल्थ सेन्टर की स्थापना स्वामी कुवल्यानंद ने कहां की?

   ख. सौराष्ट्र में कैवल्यधाम की शाखा कहां खुली ?

   ग. लोनावाला में किसके नाम यौगिक अस्पताल खोला गया ?

   घ. राणा नटवर सिंह के नाम पर कैवल्यधाम में किसकी स्थापना की गयी ?

11.4.3 : योग का प्रचार–प्रसार :अब तक आपने उनके जीवन परिचय का सारांस जाना अब हम आपको उनके योग के प्रचार प्रसार से अवगत कराने का प्रयास करेंगे।

स्वामी कुवल्यानंद जी द्वारा सन् 1924 में योग संस्था कैवल्यधाम ने योग के प्रचार व प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। स्वामी जी के समय में ही कैवल्यधाम से एक योग मीमांसा नाम पत्रिका निकाली जाती थी। जिसमें योग से संबंधित शोध पत्र होते थे। जिनका आधार वैज्ञानिक और लोक प्रचलित दोनों प्रकार का होता था। इसमें शरीर क्रिया विज्ञान, मनोविज्ञान तथा योग क्रियाओं में संबंधित लेख होते थे। सन् 1936 में सरकार से प्राप्त भूमि पर श्री चमनलाल जी के दान से तथा उनके बेटे के नाम पर श्री ईश्वर चुन्नीलाल योगाश्रम यौगिक स्वास्थ्य केन्द्र रखा।

लोनावाला में ही इन्होंने योग के प्रचार–प्रसार के उद्देश्य से योग, संस्कृति व अध्यात्म के लिए एक विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय में योग विषय के ऊपर विभिन्न महत्वपूर्ण शोध कार्य किये जाते रहे हैं। बहुत सी राज्य सरकारों ने स्वामी जी को अपने यहां योग शिक्षा व योग चिकित्सा के प्रचार–प्रसार हेतु बुलाया। विभिन्न शिविरों में इन्होंने योग की शिक्षा देते हुए क्रियात्मक योग में बहुत से लोगों को प्रशिक्षित किया। स्वामी जी भारतीय योग विज्ञान में पूर्ण श्रद्धा रखते थे। वे मानते थे कि योग भारत की एक ऐसी धरोहर है, जिसके द्वारा व्यक्ति का सर्वांगिण विकास हो सकता है, यह जीवन जीने की एक ऐसी कला है, जिससे हम शरीर, मन व बुद्धि को स्वस्थ बनाते हुए एवं सुन्दर ढंग से जीते हुए आध्यात्मिक विकास कर सकते है। योग के इस महान वैज्ञानिक ने 18 अप्रैल 1966 को इस दुनिया से प्रस्थान कर अपने पीछे एक ऐसी विरासत छोडी जो आज भी अपने गौरवपूर्ण इतिहास को लेकर कार्य कर रही है। इस योगी के कार्यों के बल पर भारत ही नहीं अपितु समस्त विश्व योग के क्षेत्र में निरन्तर अनुसंधान करता जा रहा है। जिससे मानव कल्याण का मार्ग और अधिक प्रकाशित हुआ है।

स्वामी कुवलयानंद जी के समय से ही कैवल्यधाम संस्था भारत भर में प्रशिक्षण शिविरों, सम्मेलनों तथा संगोष्ठियों आदि के माध्यम से योग शिक्षा के प्रचार–प्रसार में लगी है। भारत के विभिन्न शहरों में आज इसकी विभिन्न शाखायें कार्यरत और योग शिक्षा के अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ योग चिकित्सा व यौगिक प्रशिक्षण का कार्य भी सुचारू रूप से कर रही है। यहां से निकलने वाले विद्यार्थी देश–विदेश के विभिन्न भागों में योग के शिविरों द्वारा योग का प्रचार व प्रसार कर रहें है।

अभ्यास प्रश्न भाग : 9

1. **रिक्त स्थान की पूर्ति किजिए।**
   क. कैवल्यधाम द्वारा योग के प्रचार प्रसार के लिए एक पत्रिका .... निकाली गई।
   ख. कैवल्यधाम की स्थापना .... में हुई।
   ग. कैवल्यधाम .... में है।
   घ. कैवल्यधाम में प्रशिक्षण शिविरों, सम्मेलनों तथा .... आदि के माध्यम से . ... शिक्षा का प्रचार प्रसार किया गया।
   ड. योग सीमांसा में .... लेख होते थे।

11.5 सारांश

श्री अरविन्द और कुवल्यानंद को समान्यतः एक दूसरे के विपरीत योग पद्धतियों के प्रचारक के रूप में देखा जा सकता है। किन्तु फिर भी ये दोनों योगी आधुनिक योग के प्रमुख प्रचारकों में से थे। श्री अरविन्द ने जहाँ योग के दार्शनिक पक्ष को अपने ही ढ़ंग से गढा वहीं कुवल्यानंद ने योग के शारीरिक पक्ष को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। दानों ही पद्धतियों में तथ्यात्मक रूप से यही सबसे बड़ा अतंर था।

श्री अरविन्द ने पॉण्डिचेरी (वर्तमान पुडुचेरी) में अपना आश्रम ओरोविल स्थापित कर देश विदेश के योग साधको के लिए साधना का एक स्थान प्रदान किया तो कुवल्यानंद ने महाराष्ट्र के लोणावला में कैवल्यधाम की स्थापना करके योग का प्रचार किया।

जहाँ अरविन्द के अतिमानस कि अवधारणा अध्यात्मिक अनुभवों की एक विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत करती है, तो वहीं कुवल्यानंद द्वारा आसनों और प्राणायामों का वैज्ञानिक अध्ययन कर उनका शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव की जानकारी को जनसामान्य तक पहुँचाया। हालांकि दानों योगीयों की योग पद्धति में काफि अंतर था। फिर भी दानों के द्वारा प्रदत्त योग के स्वरूप से समाज को बहुत लाभ हुआ। जनसामान्य में योग को लोकप्रिय बनाने का कार्य दोनों ही योगीयों द्वारा उत्कृष्टता पूर्वक किया गया। इसलिए इनका नाम योग के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में लिखा गया है।

11.6 पारिभाषिक शब्दावली :

1. निर्वहन – जिम्मेदारी को निभाना
2. पाश्चात्य – पश्चिमी देश
3. परस्पर – एक दूसरे के लिए
4. क्षुब्ध – दुःखी एवं निराश
5. कृतज्ञता – आभार मानना
6. बौद्धिक – बुद्धि वाला

7. पारलौकिक – दूसरे लोक (दुनिया) की या असामान्य
8. निर्मूल – पूरी तरह से खत्म कर देना
9. प्राणपण – पूरे प्रयास के साथ या समर्पित होकर
10. घनीभूत – छाया हुआ
11. मेधवी – बुद्धिमान
12. शरीरस्थ – शरीर में स्थित

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

भाग : 1

1. (क) डॉ0 कृष्णधन घोष, श्रीमती स्वर्णलता देवी, तृतीय
   (ख) अरविन्दा एक्रायड घोष
   (ग) इण्डियन मज़लिस
2. (क) ब. द बंगाली
   (ख) स. ग्यारवां
   (ग) अ मि. दुएट

भाग : 2

1. (क) श्री अरविंद को बड़ौदा के महाराज सायाजी राव गायकवाड़ ने अपने राज्य बड़ौदा में सेवा का अवरसर प्रदान किया।
   (ख) श्री अरविंद 14 वर्ष बाद सन् 1893 में भारत लौट आये।
   (ग) श्री अरविंद बड़ौदा में कुल 13 वर्ष 5 महिने ओर 18 दिनों का समय व्यतीत किया।
2. (क) मृणालिनी देवी (ख) श्री अरविंद (ग) ईश्वर का

भाग : 3

1. (क) 9 मई 1908
   (ख) स्वामी विवेकानंद
   (ग) वायसराय लार्ड मिन्टो
2. (क) सत्य (ख) असत्य (ग) सत्य

भाग : 4

1. (क) 64, सावित्री
   (ख) युगान्तर
   (ग) 1906 – 1910, 5

भाग : 5

1. (क) ब–फरवरी 1893
   (ख) अ–प्लेन्चेट
   (ग) अ–विष्णु भास्कर लेले
2. (क) अपोलो (ख) माँ (ग) 1926

भाग : 6

1. (क) समुद्री मील

(ख) 5, 1950
(ग) तीन

भाग : 7

क. 13 अगस्त 1883
ख. मलिक राय
ग. 1919
घ. 1924
ड. योग मीमांसा

भाग : 8

क. चौपाटी
ख. राजकोट
ग. श्रीमति अलका देवी तीरथराम गुप्ता
घ. राणा नटवर सिंह षरीर विकृति विज्ञान प्रयोगषाला

भाग : 9

क. योग मीमासा
ख. 1924
ग. लेनावाला
घ. संगोष्ठियों, योग
ड. शोध परक

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Heehs,Peter (2008) The life of Sri Aurobindo, Columbia University Press
2. Yadav,Saryug (2007) Sri Aurobindo's life Mind and Art, Sarup & Sons,Delhi
3. Kaivalyadham (2012) Biography Yogi and Scientist Swami Kuvalayanand, Kaivalyadham Lonavala

11.9 : सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री :

1. www.sriaurobindoashram.org
2. www.aurovill.org
3. www.lonavalayoga.org
4. www.yogatharpy.com
5. www.astanga-yoga-victory.com

11.10 : निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्री अरविन्द द्वारा मातृभूमि की सेवा' पर विचार प्रस्तुत किजिए।
2. श्री अरविन्द के जीवन में योग की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
3. स्वामी कुवल्यानंद द्वारा योग के विकास हेतु किये गये कार्यों की समीक्षा कीजिए।

इकाई 12 ईश्वर

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 ईश्वर के स्वरुप का वर्णन

12.3.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार–

12.3.2 हरिहरानन्द के अनुसार–

12.3.3 वेदान्त के अनुसार–

12.3.4 माडूक्य उपनिषद के अनुसार–

12.3.5 तैतरीय उपनिषद के अनुसार–

12.3.6 यजुर्वेद के अनुसार–

12.3.7 व्यास भाष्य के अनुसार–

12.3.8 श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार–

12.4 ईश्वर के गुणों का वर्णन

12.4.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार

12.4.2 व्यास भाष्य के अनुसार–

12.4.3 श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार–

12.5 ईश्वर की महिमा का वर्णन –

12.5.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार–

12.5.1 व्यास भाष्य के अनुसार–

12.6 **ईश्वर का प्रणव रूप में वर्णन**

12.6.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार–

12.6.1 हरिहरानन्द के अनुसार–

12.6.1 गीता के अनुसार–

12.6.1 कठोपनिषद के अनुसार–

12.6.1 भोजवृत्ति के अनुसार–

12.6.1 प्रश्नोपनिषद के अनुसार–

12.6.1 छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार–

12.6.1 माण्डूक्य उपनिषद के अनुसार–

12.6.1 नारद भक्ति सूत्र के अनुसार–

12.6.1 विवेकानन्द के अनुसार–
12.6.1 गीता में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन
12.6.1 न्याय दर्शन में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन
12.6.1 श्रुतियों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन
12.6.1 वेदान्त में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन
12.7 ईश्वर प्राप्ति के लिए जप का वर्णन
12.8 सारांश
12.9 शब्दावली
12.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.12 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

पाठकों ईश्वर नाम आते ही अपने आराध्य ईष्ट देवता का हम स्मरण करते है। अलग–अलग शास्त्रो में तथा अनेकानेक विद्वानो ने ईश्वर के स्वरूप की कल्पनायें की हैं। महर्षि पतंजलि ने योग शास्त्र में आत्मा से परमात्मा का मिलन हेतु एक सूत्र दिया है।
योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। अर्थात चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाना ही योग है। वृत्तियों को शान्त करने, उनके निरोध हेतु उन्होंने पहला अभ्यास और वैराग्य का मार्ग बताया है, इसके सिवा उन्होंने अन्य एक दूसरा सुलभ मार्ग भी बताया है जो ईश्वर प्राणिधान का है। यह निर्बीज समाधि प्राप्त करने का सुलभ मार्ग है। इसका वर्णन करते हुए पतंजलि ऋषि कहते हैं–

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'।

अर्थात– ईश्वर प्राणिधान से भी निर्बीज समाधि की प्राप्ति हो सकती है।

जिस तरह बाह्य चित्त वृत्तियों को अभ्यास और वैराग्य के द्वारा शान्त कर दिया जाता है, उसी प्रकार समस्त वृत्तियों को ईश्वर को समर्पित कर देने और अनासक्त कर्मयोग को अपना लेने से वृत्तियाँ चन्चलता रहित हो जाती हैं। जब साधक संसार से विरक्त होकर अपनी समस्त भावनाएँ ईश्वर में समर्पित कर देता है तब ईश्वर कृपा करके भक्त की सारी वृत्तियों को समाप्त कर देता है। जिससे निरुद्धावस्था प्राप्त कर साधक निर्बीज समाधि को सिद्ध हो जाता है।आत्मा के अन्दर अर्थात हृदय के अन्दर (क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से रहित) ईश्वर की सत्ता का अनुभव करके आत्मनिवेदन पूर्वक उसी पर निश्चित रहना भक्ति का स्वरुप है। सारे कार्यों को ईश्वर के द्वारा सम्पन्न हुआ मानना चाहिऐ। शास्त्रों में कहा गया है– "अपनी इच्छा और अनिच्छा से मैं भी कर्म करता हूँ, उससे जो सुख और दुःख का फल मिलता है वह आपको समर्पित है। इस प्रकार का निष्काम और ईश्वर समर्पण कर्म ही ईश्वर प्रणिधान है।"ईश्वर प्रणिधान से सांसारिक लाभ प्राप्त करना अज्ञान दर्शाता है। ईश्वर प्रणिधान से ईश्वर की अभिमुखता प्राप्त करके उनकी कृपा से विषेष ज्ञान पाया जाता है। प्रस्तुत इकाई में अब हम ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करेगें।

12.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़कर आप जान पायेंगे कि –

- ईश्वर क्या है?
- ईश्वर के स्वरुप के सम्बन्ध में विभिन्न मत का वर्णन क्या है।
- ईश्वर के विविध नामों की चर्चा कहाॅ की गई है।
- ईश्वर प्राणिधान की आवश्यकता क्या है।
- ईश्वर प्राणिधान के साधन के साधन कौन से है।

12.3 ईश्वर के स्वरुप का वर्णन –

संस्कृत व्याकरण पर अगर दृष्टिपात करे तो ईश्वर शब्द ईश + वरच् से बनता है।

"ईश" धातु का अर्थ है = ईशनशील अर्थात इच्छा मात्र से जो कैवल्य की प्राप्ति करा दें। शास्त्रो में कहा गया है कि–

"ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः।"

अर्थात– जो ईशनशील है यानि इच्छा मात्र से सम्पूर्ण जगत के उद्धार करने में समर्थ है वही ईश्वर है। अगर ईश्वर के स्वरूप की बात करे तो स्पष्ट है कि–

"त्रैकालिक बन्ध शून्य"

अर्थात– भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में जो बन्धन आदि से मुक्त है। अनेकानेक विद्वानो ने ईश्वर के स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार किया है–

12.3.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार–

जिस प्रकार परमेश्वर के प्रणिधान से शीघ्र समाधि लाभ होता है, महर्षि पतंजलि उस ईश्वर के स्वरुप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः। 1/24 पा० यो० सू०

अर्थात– क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इन चारों से जो मुक्त है वह पुरुष विशेष परम आत्मा ही ईश्वर है। महर्षि पतंजलि ने 5 प्रकार के क्लेश का वर्णन किया है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। क्लेश वे होते हैं जो दुःख दें। इन्हीं क्लेशों में जीवात्मा फँसी रहती है जो कि ईश्वर में नहीं है।

12.3.2 हरिहरानन्द जी के अनुसार–

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयः

(हरिहरानन्द पा०यो०द० व्यास भाष्य)

कर्म– पुण्य (शुभ), अपुण्य (अशुभ), कर्मों से उत्पन्न जाति आयु तथा भोगरुप फलकर्म का परिणाम हैं। ईश्वर में ये नहीं होते हैं।

विपाक– शुभ अशुभ कर्मो के फल को विपाक कहते हैं।

आशय– कर्म फलों के अनुसार जो वासनाऐं होती हैं उन्हें आशय कहते हैं। इन्हीं को संस्कार भी कहते हैं। ये चित्त में संचित पड़े रहते हैं। संस्कार के अनुसार ही कर्म पुनः जाग्रत हो जाते हैं।

12.3.3 वेदान्त के अनुसार–

"माया विशिष्ट चैतन्यम् ईश्वरः" (वेदान्त)

अर्थात– माया विशिष्ट चेतन तत्व का नाम ईश्वर है।

12.3.4 माण्डूक्य उपनिषद के अनुसार–

"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभावाय्ययौ हि भूतानाम्"

(माण्डूक्य उप० 6)

अर्थात– वह परमेश्वर सबका ईश्वर है। वह सर्वज्ञ है। वह अन्तर्यायी सम्पूर्ण जगत का कारण है। क्योंकि समस्त भूत प्राणियों की उत्पत्ति स्थिति और लय का स्थान वही है।

12.3.5 तैतरीय उपनिषद के अनुसार–

यतो वा इमानि – – – – – – – – – तद्ब्रह्मेति

(तै० उप० भृगुवल्ली)

अर्थात– जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। स्थिर होते हैं और जिसमें लय भाव को प्राप्त हो जाते हैं वही ब्रह्म है।

12.3.6 यजुर्वेद के अनुसार–

"परमेश्वर शरीर रहित सर्वव्यापक बन्धनों से मुक्त है" (यजुर्वेद 40/8)

अर्थात– जीवात्मा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों के बन्धन से मुक्त है। वह योगाभ्यास द्वारा ही मुक्त हो सकती है। ईश्वर बन्धन मुक्त है। जीवात्मा अल्पज्ञ है। ईश्वर वेद ज्ञान का उपदेष्टा सर्वज्ञ है।

12.3.7 व्यास भाष्य के अनुसार–

"ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धों न भूतो न भावी"

(व्यास भाष्य)

अर्थात– ईश्वर का सम्बन्ध शरीर आदि से न कभी हुआ है न कभी होगा।

हरिहरानन्द आरण्य पा० यो० द० में भाष्य करते हुये कहते हैं कि–

मुक्तस्यपुर्वाबन्ध कोटि	–	मुक्त पुरुष पूर्वबन्ध कोटि के है
प्रकृतिलीनस्य उन्तराबन्ध कोटि	–	प्रकृति लीन पुरुष उत्तरबन्ध के कोटि है
सतु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति	–	ईश्वर सदा मुक्त है

12.3.8 श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार– "ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्त भग्रे ज्ञानैर्षिभर्ति"

(श्वेताश्वर 5/2)

अर्थात– ईश्वर से ज्ञान की प्राप्ति कपिल ऋषि ने की, फिर ऋषि द्वारा शास्त्रों में ज्ञान लिखा गया।

अतः ईश्वर से शास्त्रों में ज्ञान आया और फिर शास्त्रों से ही ईश्वर का ज्ञान भी होता है। ये पुरानी परम्परा है। पाठको स्मरण रहे कि अविद्या आदि क्लेशों में फँसी जीवात्मा कर्म में लगी रहती है और फिर कर्म फल का भोग भोगती हैं। जिन कर्मों का फल भोग वर्तमान जन्म में नहीं हो पाता वे कर्म वासना एवं संस्कार के रुप में पुरुष (आत्मा) के साथ रहते हैं। इस प्रकार पुरुष (आत्मा) जन्म जन्मान्तरों के संस्कार रुपी बीज अपने साथ लेकर जन्म–मरण के चक्रव्यूह में फँसा रहता है। पुरुषों में एक विशेष पुरुष ऐसा होता है जो क्लेशों से अछूता होता है। उनसे लिप्त नहीं रहता है। वह कर्म नहीं करता है, जिससे

कर्म फल का भोग भी उसे नहीं भोगना पड़ता है। फलतः कर्म फल के संस्कार भी उस पुरुष विशेष के साथ चिपके नहीं रहते। यह पुरुषों में विशेष पुरुष ही ईश्वर होता है।

अर्थात हम कह सकते है कि जो पुरूषो में विशेष है वह ईश्वर है।

मुक्त पुरुष और ईश्वर में भी अन्तर पाया जाता है। मुक्त पुरुष वे होते हैं जिन्होंने अपने जन्मों – जन्मातरों के इकट्ठा हुऐ कर्म संस्कारों को योग तप द्वारा समाप्त कर दिया है। परन्तु ईश्वर तो तीनों कालों (भूत काल, वर्तमान काल, भविष्य काल) में संस्कारों से कभी लिप्त ही नहीं होता है। ईश्वर हमेशा ही क्लेशादि से मुक्त रहता है। वह कभी भी इससे लिप्त नहीं रहता।

महर्षि पतंजलि का व्यक्तिवादी ईश्वर में विश्वास नहीं है। वह उच्च आध्यात्मिक चेतना को ईश्वर मानते हैं, जो परम पवित्र होती है और जो कर्मों के प्रभावों से अछूती होती है। संसार में जब व्यक्ति को अपनी सीमाओं का बोध होता है तो वह ईश्वर के प्रति ही समर्पित होता है।

ईश्वर, प्रधान तत्व या पुरुष तत्व नहीं है। इसको भली भाँति जानना चाहिये। ईश्वर, प्रधान पुरुष द्वारा निर्मित होता है। वे पुरुष विशेष और उसकी ईश्वरीय उपाधि प्राकृत है।

12.4 ईश्वर के गुणों का वर्णन

ईश्वर अनेकानेक गुणों से युक्त है अनेकानेक ग्रन्थो में विद्वानो ने ईश्वर के गुणो की चर्चा की है–

12.4.1 महर्षि पतंजलि जी के अनुसार–

"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्"। I/25 पा०यो०सू०

अर्थात– उस ईश्वर में (सर्वज्ञ बीजम्) सर्वज्ञता का ज्ञान (निरतिशयं) सर्वोच्च है।

जिससे बढ़कर कोई दूसरा हो वह सतिशय कहलाता है। किन्तु जिससे बढ़कर कोई दूसरा न हो उसे निरतिशय कहते हैं। ईश्वर का ज्ञान सर्वोच्च है। वह सर्वज्ञ है, उसके ज्ञान से अधिक किसी का ज्ञान नहीं है। संसार में जो भी ज्ञान–विज्ञान और ऐश्वर्य आदि है इन सभी की सीमा ईश्वर है। आत्मा में यह वस्तुऐं सीमित हैं पर परमात्मा में असीमित हैं।

तत्र निरतिशयं	सर्वज्ञबीजम्
↓	↓
असीम, जिससे बड़ा कोई ज्ञान न हो ज्ञान न हो	जिसके ज्ञान से बढ़कर किसी का भी

12.4.2 व्यास भाष्य के अनुसार–

यति दमतीतानागतम प्रत्युत्पन्नं प्रत्येकसमुच्चयतिन्द्रिन्य ग्रहवमतपं बहिति।
सर्वज्ञ बीजमेतद्विवर्द्धमानं यत्र निरविशयं स सर्वज्ञ।।

अर्थात– भूत भविष्य वर्तमान का ज्ञान यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त कर मन द्वारा ग्रहण किया जाता है। ये ज्ञान सभी प्राणियों को होता है चाहे वह अल्प हो या अधिक। जब यही ज्ञान बढ़ते–2 अवधि को प्राप्त कर ले तो वही 'सर्वज्ञ' है।

योग भाष्यकार व्यास जी के अनुसार योग सूत्र कार ने ईश्वर का सामान्य स्वरुप बताया है विशेष रुप नहीं।

संसार में किसी में ज्ञान का कम होना, तथा किसी के ज्ञान का अधिक होना सहज रुप से पाया जाता है। जिस प्रकार कोई भी दो व्यक्तियों की आकृति कभी पूर्णतः समान नहीं होती ठीक इसी प्रकार दो व्यक्तियों में ज्ञान का स्तर भी समान नहीं होता है। परन्तु ईश्वर का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है इसके ज्ञान से बढ़कर किसी का ज्ञान नहीं है। ईश्वर में ज्ञान की पराकाष्ठा है तथा ज्ञान की अन्तिम सीमा है। यह मानना उचित है कि ज्ञान के मूल की जो भी अधिकतम संभावनाऐं हो सकती हैं वह ईश्वर अर्थात पुरुषों में विशेष पुरुष में है।

12.4.3 श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार– ईश्वर का शरीर इन्द्रियाँ नहीं है। उसके समान बढ़कर कोई नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान की पराकाष्ठा का आधार ईश्वर है उसी प्रकार धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री तथा विभूति की पराकाष्ठा का आधार भी ईश्वर ही है। इसलिऐ वह सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है।

12.5 ईश्वर की महिमा का वर्णन –

12.5.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार– महर्षि पतंजलि ने ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हुऐ महर्षि पतंजलि कहते हैं कि–

पुर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। 1/26 पा०यो०सू०

अर्थात– वह ईश्वर पूर्वजों का भी गुरु है। क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं है। अर्थात वह काल के द्वारा सीमित नहीं है।

सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने के कारण ब्रह्माजी को सबका गुरु माना गया है। परन्तु वह काल द्वारा सीमित हैं। परन्तु ईश्वर काल से बँधा नहीं है। वह सृष्टि के पूर्व तथा महाप्रलय के पश्चात भी हर स्थिति में विद्यमान रहता है। वह सभी देवताओं को भी ज्ञान प्रदान करता है। अतः वह गुरुओं का भी गुरु है।

वेद ईश्वर का ज्ञान है। इसलिऐ उपरोक्त परिभाषा दी गई है।

12.5.2 व्यास भाष्य के अनुसार–

'पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिधन्ते' व्यास भाष्य 1/26

अर्थात– आज तक जितने भी पूर्वज हुये हैं वे सब देह धारण करने के कारण काल से सिमित हैं ईश्वर देह धारण नहीं करता इसलिऐ वह बन्धन मुक्त है। व्यास जी ने यह भी कहा है–

कहा है– ज्ञः काल कालः

अर्थात– जो काल का भी काल है।

हमने ज्ञान अपने गुरु से पाया उन्होंने अपने गुरु से पाया। इस प्रकार गुरु शिष्य परम्परा चलती गई और अन्त में पता चला कि ज्ञान प्राप्ति की क्रिया ब्रह्मा जी तक जाती है। परन्तु ब्रह्मा जी भी काल से बन्धित होने के कारण परम गुरु नहीं हैं। अतः स्पष्ट है कि एक मात्र परमेश्वर ही उन गुरुओं का भी गुरु है इसलिऐ परम गुरु कहलाता है।

12.6 ईश्वर का प्रणव रूप में वर्णन –

ईश्वर की महिमा बताकर अब उसकी उपासना (प्रणिधान) किस प्रकार से करनी चाहिऐ यह बताने के लिये उसका वाचक नाम का वर्णन किया गया है–

12.6.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार– महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के समाधिपाद में कहा है कि– **तस्य वाचकः प्रणवः 1/27 पा०यो०सू०**

अर्थात– उसका वाचक नाम प्रणव है। प्रणव अर्थात ओम्कार।

'अव रक्षणे' धातु से ओम् शब्द बनता है। जिसका अर्थ है रक्षा करना। अवतीति ओम् यह उसकी व्युत्पत्ति है।
अर्थात– जो रक्षा करे वह ओम् परमेश्वर है।

ईश्वर को ओम् वाचक शब्द के द्वारा जाना जाता है। नामी का नाम से अनादि और बहुत गहरा सम्बन्ध है। इसलिये शास्त्रों में नाम जप की महिमा वर्णित है। विभिन्न भाषाओं में और देशों में ईश्वर के भिन्न–2 नाम हैं।

"एकं सतविप्राः बहुधा वदंति"

अर्थात– एक ही सद् वस्तु है, उसी को वेद, शास्त्र, उपनिषद अनेक नामों से बोलते हैं।

ईश्वर के विभिन्न नामों में सर्वश्रेष्ठ नाम ऊँ माना गया है।

12.6.2 हरिहरानन्द के अनुसार–

'वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य'

(हरिहरानन्द आरण्य पा०यो०द० यो०27 / 1 टीका व्यास भाष्य)

अर्थात– प्रणव ही ईश्वर का नाम है।

ओउम् ध्वनि मन नही मन उच्चारित होने से कण्ठ से मस्तिष्क की ओर एक प्रयत्न जाता है किन्तु मुँह में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ओमकार का जाप एकाग्रता बढ़ता है। ओहम शब्द भी ओमकार अकार और मकार के रुप में ही जपा जाता है।

ईश्वर के लिए वाच्य–वाचक–संकेत आवश्यक है। ईश्वर इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। ईश्वर को अनन्त कल्याण गुणों से विशिष्ट माना जाता है। इसलिये प्रत्येक कल्याण गुण के आधार पर उसके अनन्त नाम हैं। भक्ति परम्परा में ईश्वर के शिव विष्णु आदि जिन रुपों की अथवा उनसे उद्भव को स्वीकार करते हुए जिन देवी–देवताओं की कल्पना की गयी है, प्रायः उन सभी देवी देवताओं को अष्टोन्तर शत (108) और सहस्त्र (1000) नामों से परम्परागत रुप से जाना जाता है। पुराणों, ग्रन्थों आदि पौराणिक ग्रन्थों में इन नामों की चर्चा मिलती है। ग्रन्थों में वर्णित सभी नाम ईश्वर के ही नाम हैं।
ऊँकार को ईश्वर का प्रमुख नाम बताया गया है। वेदों, उपनिषदों आदि ग्रन्थों में ऊँकार का अनेक बार उल्लेख मिलता है। इसे सब नामों में, सभी मन्त्रों में, विशेष एवं अति प्रभावकारी बताया गया है।

12.6.3 गीता के अनुसार– भगवान कृष्ण अपने ब्रह्म स्वरुप की समग्रता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोकांर ऋक्साम यजुरेव च ।। (गीता 9 / 17)

अर्थात– जानने योग्य ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। इस सम्पूर्ण जगत का पिता, धाता, माता, पितामह मैं ही हूँ।

प्रकृति और ईश्वर का जिस स्थान पर सम्बन्ध है वहाँ से निन्तर ऊँकार ध्वनि गूँजती रहती है। वही ध्वनि शक्ति स्वरुपा होकर संसार के विभिन्न कार्यों को पूर्ण करती है।

पिता, पुत्र का रिश्ता समझाने के लिऐ शब्द की आवश्यकता होती है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर पद का अर्थ भी एक प्रकार की शब्दमयी भावना है। कुछ शब्द वाच्य पदार्थो की कल्पना किये बिना ईश्वर का बोध नहीं होता।
आर्षशास्त्र में– ओम् शब्द को आदर दिया जाता है। क्योंकि वह कहता है कि प्रणव के द्वारा चित्त की जैसी स्थिरता होती है वैसी किसी दूसरे के द्वारा नहीं होती। व्यन्जन वर्णों

का उच्चारण एक तान भाव से नहीं होता। स्वर वर्णों का उच्चारण एक तान भाव में होता है। परन्तु उनमें वाक् शक्ति की आवश्यकता होती है। केवल ओम् ही एकमात्र भाव से उच्चारित होता है।

12.6.4 कठोपनिषद के अनुसार– "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्" (कठ० 1/2/17) परमार्थसाधन के आलम्बनों में प्रणव ही श्रेष्ठ और परम् आलम्बन स्वरुप है।

12.6.5 भोजवृत्ति के अनुसार– – प्रणव का अर्थ यह है कि जिसके द्वारा उत्तम रीति से स्तुति की जाये अथवा उत्तम रीति से उपासना की जाये। प्रणव नाम ओंकार का है। ओमकार और ईश्वर वाच्य वाचक, दीपक और प्रकाश भाव सम्बन्ध नित्य है। पर वर्ण रुप संकेत से उसे प्रकाशित मात्र किया जाता है।

12.6.6 प्रश्नोपनिषद के अनुसार– "परं चापरं ब्रह्म यदोकांरः"
अर्थात– निश्चय ही वह ओमकार ही पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म है।

12.6.7 छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार –"ओंकार एवेदं सर्वम्"
(छान्दोग्य उप0 2/23/3)

अर्थात– ओंकार ही सबकुछ है। आगे कहा है कि–
"एकं मे वाद्वितीयम्"

अर्थात– वह एक अद्वितीय ब्रह्म तत्व ही है दूसरा कोई नहीं है।

श्रुति से ज्ञात होता है। कि योग दर्शन में प्रतिपादित ईश्वर केवल क्लेश, कर्म, विपाक आशय से रहित ही नहीं है बल्कि अपर और पर ब्रह्म भी वही है। कठोपनिषद कहता है कि–
"ब्रह्मा एक शाश्वत वृक्ष है जिसकी जड़े ऊपर और शाखाऐं नीचे समस्त सृष्टि पर आधारित है। कोई उससे परे नहीं है।" (कठो०)

12.6.8 माण्डूक्य उपनिषद के अनुसार– ओम सबकुछ है। भूत, भविष्य, वर्तमान, में सभी कुछ उसकी व्याख्या मात्र हैं। इसके सिवा अन्य जो त्रिकालातीत वस्तुएँ हैं वह भी ओंकार ही हैं।

12.6.9 नारद भक्ति सूत्र के अनुसार– सः ईश्वर अनिर्वचनीव प्रेम स्वरुप
अर्थात– ईश्वर अविर्वचनीय प्रेम स्वरुप है।

12.6.10 विवेकानन्द के अनुसार– "मैंने अज्ञान अंधकार माया से परे उस परमेश्वर को प्राप्त कर लिया है। (निर्विकल्प समाधि से लौटने पर)

12.6.11 गीता में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन– गीता में भगवान कृष्ण ने अपने स्वरुप को स्थान–2 पर अपनी वाणी द्वारा बताया है। उनकी दिव्यता को इस प्रकार समझ सकते हैं– गीता में भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकारा गया है। ईश्वर को अनन्त और ज्ञान स्वरुप बताया गया है। ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जो विश्व की भौतिक व्यवस्था को कायम रखता है, तथा इसके साथ ही संसार के प्राणियों को उनके कर्मो के अनुसार उनको फल देता है। वह सुख–दुख के रुप में होता है। ईश्वरीय सत्ता को परम पिता के रुप में वर्णित किया गया है। वह सबके पिता, माता एवं मित्र के रुप में स्वीकारा गया है। पुरुषोत्तम के रुप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है। गीता में प्रकृति और पुरुष से परे श्रेष्ठ ईश्वर को माना गया है और उसे परमात्मा एवं परम ब्रह्म के रुप में स्वीकारा गया है। इसमें ईश्वर के स्वरुप को व्यक्त और अव्यक्त अर्थात– जो स्थूल रुप में दिखाई देता है वह व्यक्त तथा जो स्थूल रुप में दिखाई नहीं देता है वह अव्यक्त रुप है।

12.6.12 न्याय दर्शन में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन– न्याय दर्शन में भी ईश्वरीय सत्ता को स्वीकारा गया है। न्यान दर्शन के रचिता गौतम ने ईश्वर को एक आत्मा कहा है जो चैतन्य से युक्त है। इन्होंने दो प्रकार बताये हैं–

(1) जीवात्मा (2) परमात्मा

परमात्मा ही ईश्वर है। ईश्वर का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि–

– ईश्वर का ज्ञान नित्य है।
– ईश्वर सभी प्रकार की पूर्णता से युक्त है।
– ईश्वर न बद्ध है और न मुक्त
– ईश्वर द्वारा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा के माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।
– ईश्वर की शक्ति सीमित नहीं है।
– ईश्वर के अभाव में सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।
– ईश्वर स्रष्टा और पालन कर्ता होने के साथ–2 संहारकर्ता भी माना गया है।
– ईश्वर मनुष्य के कर्मों के अनुसार उन्हें फल प्रदान करता है। पुण्य कर्मों का फल सुख और पाप कर्मों का फल दुःख के रुप में देता है।
– ईश्वर व्यक्तिपूर्ण है जिनमें ज्ञान, सत्ता और आनन्द निहित है।
– ईश्वर की कृपा से ही मानव मोक्ष को अपनाने में सफल होता है। ईश्वर की कृपा से ही तत्व का ज्ञान प्राप्त होता है। तत्व ज्ञान के आधार पर मानव मोक्षानुभूति का इच्छा करता है। इस प्रकार ईश्वर की कृपा के बिना मोक्ष असम्भव है।

ईश्वर अनन्त गुणों से युक्त है। जिनमें छः गुण अत्यधिक प्रधान हैं। वे छः गुण इस प्रकार हैं–

(1) अधिपत्य
(2) वीर्य
(3) यश
(4) श्री
(5) ज्ञान
(6) वैराग्य

गौतम ऋषि ने विभिन्न तर्कों के द्वारा भी ईश्वरीय सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

12.6.13 श्रुतियो में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन– श्रुतियो में भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकारा गया है। श्रुतियाँ ईश्वर के अस्तित्व की चर्चा इस प्रकार करती हैं–

– ईश्वर सब विषयों का स्वामी है।
– ईश्वर सर्वज्ञ व अन्तर्यामी है।
– ईश्वर जगत का कारण स्रष्टा व संहारकर्ता है।
– ईश्वर सभी जड़–चेतन वस्तुओं को चलाने वाला है।
– ईश्वर सबके हृदय में वास करता है।

हम कह सकते हैं कि विश्व का निर्माण परमाणुओं के संयोग से होता है। परमाणु निष्क्रिय हैं। अतः उनके आवश्यक संयोग के लिये किसी सत्त के द्वारा गति मिलना परमावश्यक होता है। परमाणुओं में गति का संचार ईश्वर ही करता है। ईश्वर के अभाव मे

परमाणुओं की गति के बिना विश्व की सृष्टि सम्भव नहीं है। अतः ईश्वर का अस्तित्व इससे सिद्ध होता है।

12.6.14 वेदान्त दर्शन में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन– शंकाराचार्य जी ने ईश्वर को विश्व में व्याप्त तथा विश्वातीत माना है। कहा है कि ईश्वर विश्व में व्याप्त है फिर भी वह विश्व की बुराइयों से प्रभावित नहीं होता है। जिस प्रकार घड़ी साज की सता घड़ी से अलग रहती है उसी प्रकार ईश्वर विश्व का निर्माण कर अपना सम्बन्ध विश्व से विच्छिन्न कर विश्वातीत रहता है।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म तो सत्य, अनन्त तथा ज्ञानरुप है। परन्तु माया से संयुक्त ब्रह्म को ईश्वर कहा जाता है। जगत की उत्पत्ति संरक्षण एवं संहार कर्ता ईश्वर ही है। शंकर ने एक उपमा द्वारा इसे स्पष्टतः समझाया है।शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में ईश्वर को इस प्रकार से सिद्ध किया है–

ब्रह्म निर्गुण और निराकार है। ब्रह्म को जब हम विचार से जानने का प्रयास करते हैं तो वह ईश्वर हो जाता है।

– ईश्वर सगुण ब्रह्म है।
– ईश्वर को सविशेष ब्रह्म भी कहा जाता हैं।
– ईश्वर सर्वज्ञ है।
– ईश्वर सर्वव्यापक है।
– ईश्वर स्वतंत्र है।
– ईश्वर एक है।
– ईश्वर अन्तर्यामी है।
– ईश्वर नित्य एवं अपरिवर्तनशील है।
– ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब माया में पड़ता है तो तब वह ईश्वर हो जाता है।
– ईश्वर माया के द्वारा विश्व की सृष्टि करता है और माया ईश्वर की शक्ति है। जिसके कारण वह विश्व का प्रबन्ध रचता है।
– ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है।
– ईश्वर कर्म का फल देने वाला है।
– ईश्वर पूर्ण है।
– ईश्वर धर्म–अधर्म से परे है।
– सृष्टि ईश्वर का एक खेल है। ईश्वर स्वंय विश्व का स्रष्टा है।

जिस प्रकार एक नट रंगमंच पर राजा की भूमिका पर काम करता है, देश विजय करता है, नाटक की दृष्टि में वह राजा है। यह उसका तठस्थ लक्षण है। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह एक नट है। यह उसका स्वरुप लक्षण है। अतः इस प्रकार शंकराचार्य ने ब्रह्म एवं ईश्वर के स्वरुप में भेद बताया है।

12.7 ईश्वर प्राप्ति के लिए जप का वर्णन–

ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रणव जप करना भी एक साधन बताया गया है जिसके माध्यम से ईश्वर प्रणिधान हो जाता है। इसका वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि–

तज्जपस्तदर्थभावनम् (यो०सू० 2/28)

अर्थात– उस प्रणव का जप, उस प्रणव के अर्थ भूत ईश्वर का पुनः चिन्तन करना ईश्वर प्रणिधान है।

ओमकार का मानसिक जाप करना और उसमें ईश्वर के स्वरुप का, गुणों का भाव करके पुनः–पुनः ध्यान करना ईश्वर प्रणिधान होता है। चित्त को सब ओर से निवृत करके केवल ईश्वर में स्थिर कर देने का नाम भावना है। इस भावना से अविद्या आदि क्लेश, सकाम कर्म, कर्म फल और वासनाओं के संस्कार जो बन्धन का कारण होते हैं ये सभी चित्त से धुल जाते हैं, और सात्विक शुद्ध ज्ञार का संस्कार उदय होता है। विभिन्न स्थानों में ईश्वर के स्वरुप को उपरोक्तः समझाया गया है। भारतीय दर्शन में विभिन्न विद्वानों ने अपने अनुभव के आधार पर ईश्वर के स्वरुप को भिन्न प्रकार से बताया है।

12.8 सारांश–

पाठको अगर देखा जाय तो प्रणव और ईश्वर में गहरा सम्बन्ध दिखाया गया है। शास्त्रों में कहीं–2 प्रणव ध्वनि को केवल ध्यानावस्था में अनुभव करने योग्य बताया गया है, जिसका मुख से उच्चारण सम्भव नहीं है। तथापि गौण रुपी जो प्रणव मन्त्र उच्चारण किया जाता है व अ, उ, म् रुप में होता है। जिसके तीन अक्षर त्रिगुणमयी प्रकृति क्रमशः अपने तीनों गुणों सत, रज, तम अथवा कारण, सूक्ष्म, स्थूल तीनों जगत तथा सर्वशक्तिमान परमेश्वर उनके अधिष्ठाता विराट हिरण्यगर्भ और ईश्वररुप से अथवा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, एवं ब्रह्मा, विष्णु, महेश विद्यमान हैं।

प्रस्तुत इकाई में आपने ईश्वर के स्वरूप के बारे में विस्तार से जाना आपने जाना कि

– ईश्वर क्या है ?
– ईश्वर का स्वरूप कैसा है ?
– विभिन्न ग्रंथो में ईश्वर सम्बन्धी चर्चा किस प्रकार से की गई है?
– ईश्वर को और किस नाम से जाना जाता है?
– ईश्वर प्रणिधान का क्या अर्थ है?

ईश्वर शब्द इतना विराट है कि इसकी जितनी व्याख्या की जाए उतनी कम ही है। यह चेतना न भौतिक है, न मानसिक ,यह शुद्ध आध्यात्मिक चेतना होती है यदि कोई आध्यात्मिक साधक श्रद्धा और उर्जा के सोपानों से गुजरने में स्वयं को सक्षम नहीं पता है तो उसे ईश्वर के प्रति तीव्र समर्पण करना चाहिए महर्षि पतंजलि ने इसी विधि का वर्णन किया है इस मार्ग में जाने वाले साधक को निश्चित रूप से लक्ष्य कि प्राप्ति होती है।

महर्षि ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वाले सभी भारतीय दर्शनों और उनके आशय में पनपी भारतीय संस्कृति में निर्विवाद रूप से स्वीकृत ईश्वर के स्वरूप को समाधि पाद के 24,25,26,27,सूत्र में विस्तार से समझाया है 24 वें सूत्र में ईश्वर के निरंजन ,निर्विकार गुणों का वर्णन है 25वें सूत्र में ईश्वर की सर्वज्ञता का एवं 26 वें सूत्र में सर्वज्ञ होने के साथ ही उसके अनादी ,अजन्मा और अनंत आदि गुणों से युक्त बताया है 27वें सूत्र में प्रणव के नाम रूप में ईश्वर के रूप को बताया है और 28वें सूत्र में जप के द्वारा ईश्वर पर पूर्ण समर्पण से कल्याण है इस बात पर बल दिया है।

ईश्वर की सत्ता को सर्वव्याप्त माना जाता है, कहा जाता है कि जिस प्रकार दूध में उज्जवलता निहित होती है ठीक उसी प्रकार संसार में ईश्वर व्याप्त है। वह सब में होता हुआ भी किसी में लिप्त नहीं रहता, किसी में आसक्त नहीं रहता है। ईश्वर भक्त की समस्त परेशानियों को दूर करने वाला होता है। वह पापों को दूर कर मुक्ति प्रदान करने में भी सहायक होता है। ईश्वर व्यक्तित्व रहित, निर्गुण, निराकार, अव्यक्त है। गीता में ईश्वर के अवतार की चर्चा भी मिलती है इसमें कहा गया है कि ईश्वर पाप को नाश करने के

लिए संसार, के कल्याण के लिए समय–2 पर जन्म भी लेता है अतः यह सिद्ध होता है कि ईश्वरीय अस्तित्व के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने भिन्न–2 मत दिये हैं पर हर ग्रन्थ एवं दर्शन किसी न किसी रुप में ईश्वर के स्वरुप को स्वीकार करता है।

12.9 शब्दावली

स्रष्टा – सृष्टि करने वाला
प्रमाणित – सत्यापित करना
पराकाष्ठा – उच्च स्तर
त्रिगुणमयी– तीन गुणों से युक्त (सत्, रज, तम)
प्रलय – विनाश
निवृत्त – हटाकर
सकाम – इच्छायुक्त
सर्वव्यापक – सब ओर विद्यमान
अल्पज्ञ – कम ज्ञान रखने वाला
उपासना– निकट बैठना

12.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मुक्ति के चार सोपान – स्वामी दयानन्द सरस्वती
योग सूत्र – प्रकाश गीता प्रेस गोरखपुर
भारतीय योगदर्शन – हरेन्द्र प्रसाद सिनदा
योग प्रभाकर – स्वामी केशवानन्द जी

12.11 निबंधात्मक प्रश्न –

1– ईश्वर क्या है? इसके स्वरुप को विस्तार से समझायें।
2– महर्षि पतंजलि ने ईश्वर प्राप्ति का क्या साधन बताया है?
3– 'प्रणव' का विस्तार से वर्णन करें।
4– ईश्वर को गुरु के रुप में किस प्रकार समझाया गया है?
5– पुरुष विशेष के रुप में ईश्वर के स्वरुप को समझाऐं।

इकाई 13 पुरूष एवं प्रकृति

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 प्रकृति और पुरुष का संयोग, दुःख का कारण
13.31 गीता के अनुसार
13.3.2 व्यास भाष्य के अनुसार
13.4 दृश्य (प्रकृति) का वर्णन
13.4.1 व्यास भाष्य के अनुसार
13.4.2 वेदान्त के अनुसार
13.4.3 कठोपनिषद के अनुसार
13.5 गुणों की अवस्थायें
13.5.1 सांख्य सूत्र के अनुसार
13.5.2 गीता के अनुसार
13.5.3 स्मृतियों के अनुसार
13.5.4 आदित्य पुराण के अनुसार
13.6 द्रष्टा पुरुष का स्वरुप
13.6.1 व्यास भाष्य के अनुसार
13.6.2 पंचाशिखाचार्य के अनुसार
13.6.3 विज्ञान भिक्षु के अनुसार
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.10 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना –

पिछली इकाई में आपने ईश्वर के स्वरूप के बारे में जाना। प्रस्तुत इकाई में आप पुरूष एवं प्रकृति के विषय में विस्तार से जानकारी प्राप्त करोगे। योग दर्शन एवं सांख्य दर्शन विस्तार से हमें इस विषय की जानकारी देता है। दृष्टा चेतन आत्मा है जिसे सांख्य योग में पुरूष कहा गया है। दृश्य समस्त प्रकृति जन्य पदार्थ है। जिसमें बाह्य पदार्थ (रुप, रस, ग्रन्थ) तथा अन्य भोग पदार्थ हैं। दृश्य चित्त है जो 'स्व' बनकर पुरूष को गुणों के परिमाण स्वरुप संसार को दिखाता है। चित्त द्वारा देखे जाने के कारण यह सारा गुण का परिणाम विषय, शरीर, इन्द्रियाँ आदि भी सब दृश्य ही है। पुरूष अपने वास्तविक स्वरुप को भूलकर प्रकृति द्वारा दिखाये गये दृश्यों में मग्न हो जाता है ये संयोग है। यही संसार के बन्धन का

कारण है। संयोग से निवृत्ति से पुरूष अपने वास्तविक स्वरुपमें आ जाता है। सांसारिक दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।

13.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप

- पुरूष तत्व के बारे में अध्ययन करेगे।
- प्रकृति तत्व के बारे में विस्तार से समझ सकेगें।
- पुरूष–प्रकृति संयोग के कारण का विश्लेष्ण कर सकेगें।
- सृष्टि प्रक्रिया को जान सकेगें।
- योग सूत्र में वर्णित पुरूष–प्रकृति का संदर्भ सहित विस्तृत वर्णन कर सकेगें।

13.3 प्रकृति और पुरुष का संयोग, दुःख का कारण–

महर्षि पंतजलि ने अपने द्वारा रचित योग सूत्र में कहा है–

द्रष्ट्रदृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः (2/17 पा० यो० सू०)

अर्थात – दृष्टा और दृश्य का संयोग ही दुःख (हेय) का कारण (हेतु) है। दृष्टा = पुरूष, दृश्य = प्रकृति। दृष्टा चेतन आत्मा है जिसे सांख्य योग में पुरूष कहा गया है। दृश्य समस्त प्रकृति जन्य पदार्थ है। जिसमें बाह्य पदार्थ (रुप, रस, ग्रन्थ) तथा अन्य भोग पदार्थ हैं। दृश्य चित्त है जो 'स्व' बनकर पुरूष को गुणों के परिमाण स्वरुप संसार को दिखाता है। चित्त द्वारा देखे जाने के कारण यह सारा गुण का परिणाम विषय, शरीर, इन्द्रियाँ आदि भी सब दृश्य ही है। संयोग – दुबारा देखने वाला साक्षी चैतन्य पुरूष और दृश्य शाब्दिक आकार में परिणत हुई बुद्धि इन दोनों को जो अविवेक के कारण संयोग होता है इससे एकता का अहंकार होता है वहीं संसार के दुःख का कारण है। इसी संयोग की निवृत्ति से दुःखों की निवृत्ति होती है।पुरूष अपने वास्तविक स्वरुप को भूलकर प्रकृति द्वारा दिखाये गये दृश्यों में मग्न हो जाता है ये संयोग है। यही संसार के बन्धन का कारण है। संयोग से निवृत्ति से पुरूष अपने वास्तविक स्वरुपमें आ जाता है। सांसारिक दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।

13.3.1 गीता के अनुसार – पुरूषः प्रकृतिस्यो हि भुक्ते प्रकृतिजान् गुणान।
कारणं गुणसंगोस्य सदसद्योनिजन्मसु।।

प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरूष से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को भोगता है। इन गुणों का संग ही जीव के अच्छी बुरी योनि में जन्म लेने का कारण होता है।

सत्व गुण – देवयोनि में जन्म
रजो गुण – मनुष्य योनि में जन्म
तमो गुण – पशु पक्षी, नीच योनि में जन्म

आइये उपरोक्त वर्णित तीन गुणों (सत्, रज, तम) को विस्तार से जानें–

सत्व– सत्व गुण ज्ञान का प्रतीक है। यह स्वंय प्रकाशपूर्ण है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। सत्व के कारण मन तथा बुद्धि विषयों को ग्रहण करते हैं। इसका रंगत श्वेत है। यह सुख का कारण होता है। सत्व के फलस्वरुप ही सूर्य पृथ्वी को अलौकिक करता है तथा दर्पण में प्रतिबिम्ब की शक्ति निहित रहती है। इसका स्वरुप हल्का तथा लघु होता है। सभी हल्की वस्तुओं तथा 'धुएँ' का ऊपर की दिशा में गमन सत्व के कारण ही

सम्भव होता है। सभी प्रकार की सुखात्मक अनुभूति जैसे हर्ष, उल्लास, संतोष, तृप्ति आदि सत्व के कार्य हैं।

रजस्– रजस् क्रिया प्रेरक है। यह स्वंय चलायमान है तथा वस्तुओं को भी उत्तेजित करता है। इसका स्वरुप गतिशील एवं उपष्टम्भक (stimulating) है। रजस् के कारण ही हवा में गति दीख पड़ती है। इन्द्रियाँ अपने विषयों के प्रति दौड़ती हैं। रजस् के प्रभात में आकर मन कभी–कभी चंचल हो जाता है। इसका रंग लाल है। सत्व और तमस् गुण व्यक्तित्व के रुप में निष्क्रिय हैं। रजस् के प्रभाव में आकर ही वे सक्रिय हो जाते हैं। इस प्रकार रजो गुण सत्व और तमस् को क्रियाशील बनाता है ताकि वे अपना कार्य सम्पादित कर सकें। यह दुःख का कारण है। सभी प्रकार की दुःखात्मक अनुभूतियाँ जैसे विषाद, चिन्ता, असंतोष, अतृप्ति आदि रजस् के कार्य हैं।

तमस्– तमस् अज्ञान अथवा अन्धकार का प्रतीक है। यह ज्ञान का अवरोध करता है। यह सत्व का प्रतिकूल है। सत्व हल्का होता है परन्तु यह भारी होता है। सत्व ज्ञान प्राप्ति में सहायक होता है, परन्तु यह ज्ञान प्राप्ति में बाधक होता है। तमस् निष्क्रियता और जड़ता का द्योतक है। इसका रंग काला होता है। यह सत्व और रजस् गुणों की क्रियाओं का विरोध करता है। तमस् के फलस्वरुप मनुष्य में आलस और निष्क्रियता का उदय होता है।

13.3.2 व्यास भाष्य के अनुसार –

दृष्टा नाम बुद्धि – प्रतिसंवेदी पुरूष का है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर उसी का आकार धारण कर दृश्य नाम सत्व में स्थिर हुई सब धर्मों वाली/वाला कर नाम है।

पन्चशिखाचार्य – दुःख का कारण प्रकृति संयोग है। इसके हट जाने से दुःख नाश हो जाता है। प्रकृति जड़ होने के कारण विषय भोग नहीं कर सकती। पुरूष द्वारा इनको भोगा जाता है। (भावार्थ सूत्र 17)

13.4 प्रकृति (दृश्य) का वर्णन –

उपरोक्त सूत्र में द्रष्टा, दृश्य और संयोग इन तीनों का नाम आया है। इनमें से दृष्टा और दृश्य के संयोग को स्पष्ट कर दिया गया है। अब दृश्य का स्वभाव, स्वरुप और उसके प्रयोजन को आगे बताया गया है–

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। (2/18 पा० यो० सू०)

प्रकाश, क्रिया, स्थिति–शील जिसका स्वभाव है, भूत, इन्द्रिय जिसका स्वरुप है। भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है। वही दृश्य है।

प्रकाश शील = सत गुण

क्रिया शील = रज गुण

स्थिति शील = तम गुण

गुणों का धर्म – यह सम्पुर्ण दृश्यमान विश्व–ब्रह्माण्ड त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है (रज, सत, तम)। इन 3 गुणों से जो कुछ भी बनता है वह दृश्य है। ये तीनों गुण प्रारम्भ में साम्य अवस्था में रहते हैं। विषमावस्था (संयोग के उपरान्त) में आपस में एक दूसरे से परस्पर मिलकर व्यक्त कार्यों को उत्पन्न करते हैं। अर्थात सात्विक प्रकाश रुप कार्य जब उत्पन्न होता है तब सत्व गुण मुख्य और राजस और तमस गौण होते हैं। इसी प्रकार 3 गुणों में से जो प्रकाशित होता है वह दूसरे को दबा देता है।

गुणों का कार्य– 5 स्थूल भूत और 5 सूक्ष्म महाभूत उक्त 3 गुणों का ही कार्य है। हमारे 5 ज्ञानेन्द्रिय एवं 5 कर्मेन्द्रिय और चार अन्तःकरण भी इन्हीं 3 गुणों के कार्य हैं। अर्थात बाहर और भीतर 'पुरूष' के अतिरिक्त जो कुछ भी है सब 'दृश्य' है।
गुणों का प्रयोजन– दृश्य का प्रयोजन पुरूष को भोग और अपवर्ग देना है।
भोग– संसार के सुख और दुःख को भोगना 'भोग' है।
अपवर्ग– विवेक ख्याति द्वारा संसार के बंधनों की निवृत्ति 'अपवर्ग' है।
अर्थात बाहर के दृश्यों को देखना भोग है और अपने स्वरुप का अवलोकन अपवर्ग (मोक्ष) है।
इस प्रकार परस्पर मिलने से इनकी शक्तियाँ भिन्न–2 हो जाती हैं। अतः सब कार्य विलक्षण होते हैं।
पंचशिखाचार्य के सूत्र से व्यास जी ने अपने भाष्य में दर्शाया है कि–
पुरूष 3 गुणों का कर्ता होते हुए तथा उनकी क्रियाओं का साक्षी होते हुए चित्त द्वारा प्राप्त कराये गये सारे भावों को स्वाभाविक देखता है तथा अन्य दर्शन की समझ नहीं करता।
वास्तव में भोग और अपवर्ग (मोक्ष) ये चित्त के कर्म हैं। उसी वर्तने पर उसी के धर्म हैं। चित्त में होते हुए भी इन कर्मों को पुरूष में कहा जाता है। क्योंकि यह चित्त (बुद्धि) का स्वामी और उसके फल का भोक्ता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि जय और पराजय योद्धा और योद्धाकृत में होने पर भी उसके स्वामी राजा में कही जाती है। क्योंकि वह उसका स्वामी और भोक्ता है।

13.4.1 व्यास भाष्य के अनुसार –

प्रकाश शील – सत्व है।
क्रिया शील – रज है।
स्थिति शील – तम है।

एक दूसरे के सहारे पर अपना मूर्तरुप भूतादि और इन्द्रियादि की उत्पत्ति की है। ये गुण संयोग विभाग धर्म वाले हैं। यह गुण त्रय ही कार्य कारण भाव युक्त दृश्य कहे जाते हैं। इनके सिवा अन्य दृश्य नहीं हैं।
ये ही गुण न्याय और वैशेणिक द्वारा द्रव्याष्टक नाम से बाँठे गये हैं।

13.4.2 वेदान्त के अनुसार – वेदान्तों ने इनको माया कहा है –

'मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति श्रुतेः'

माया को ही प्रकृति जान ,ये श्रुति कहती है।

नाम रुप विनिर्मुक्तं ———————————— परे त्वणन्। (वृहदवासिष्ठ)

नाम और रुप से विनिर्मुक्त यह जगत जिसमें ठहरता है लीन होता है, उसको कोई प्रकृति कहता है, दूसरे माया कहते हैं, और कुछ अणु नाम लेते हैं।
पुरूष (आत्मा) को फल का भोक्ता कहा गया है। अब प्रश्न उठता है कि पुरूष का भोक्तापन स्वाभाविक है या औपाधिक ?
यदि स्वाभाविक है तो पुरूष को 3 गुणों के भोग से निवृत्ति 3 कालों में भी नहीं मिलेगी। और यदि औपाधिक है तो किस तरह?
पुरूष का भोक्ता पन औपाधिक है। इसको सिद्ध करते हुये श्रुति में कहा गया है कि–

13.4.3 कठोपनिषद के अनुसार -

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। (कठ० 1/3/4)
शरीर, इन्द्रियाँ, मन के संयोग से ही पुरूष (आत्मा) भोक्ता है। इनके वियोग में विशुद्ध आत्मा कर्ता भोक्ता नहीं होता। यही इसका आशय है। अतः आत्मा में स्वाभाविक कर्ता भोक्तापन सिद्ध न होकर औपाधिक ही सिद्ध हुआ, यही श्रुति सम्मत सिद्धान्त है।

13.5 गुणों की अवस्थायें –

विशेषाविशेष लिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि। 2/19 पा० यो० सू०
विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग ये चार उपयुक्त सात्विक गुणों की अवस्थायें होती हैं।

(1) **विशेष–** 5 स्थूल महाभूत – पृथ्वी जल आदि वायु आकाश
5 ज्ञानेन्द्रियाँ – आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा
5 कर्मेन्द्रियाँ – हाथ, पैर, मुख, गुदा, जननेन्द्रियाँ
1 मन

ये 16 तीन गुणों के विशेष परिणाम हैं। इनको विशेष इसलिए कहते हैं कि गुणों के जो विशेष धर्म हैं सुख, दुख, मोह वे इन में अनुस्यूत हैं।

(2) **अविशेष–** 5 तन्मात्रायें – शब्द, रुप, रस, गन्ध, स्पर्श
1 अहंकार – जिससे इन्द्रिय उत्पन्न होती है।

ये 6 महत्व के कार्य गुणों के अविशेष परिणाम हैं। इनमें शन्त, घोर ओर मूढ़रुप विशेष धर्म नहीं रहते। इसलिए इनको अविशेष कहते हैं।

(3) लिंग मात्र (चिन्ह मात्र) उपरोक्त तत्वों का कारण भूत जो तत्व है वह महतत्व है जिसको कठोपनिषद में बुद्धि नाम से कहा गया है। वह केवल चिन्ह मात्र तीन गुण का परिणाम है। लिंग इसलिए कहते है कि वह केवल चिन्ह मात्र ही व्यक्त है।

(4) **अलिंग–** (अव्यक्त प्रकृति)– मूल अव्यक्त प्रकृति को अलिंग के नाम से जाना जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति से पहले 3 गुण साम्य अवस्था में होते हैं। इसलिए इसे प्रलयावस्था कहते हैं। ये अलिंग अवस्था पुरूष के लिऐ कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करती इसलिये ये अवस्था निष्प्रयोजन है। इस साम्यावस्था में गुणों के स्वरुप की अभिव्यक्ति नहीं होती है। इसलिऐ प्रकृति को चिन्ह रहित (अलिंग) कहते हैं।

समाधि की प्रतिप्रसव प्रक्रिया के संदर्भ में गुणों की चार अवस्थाएँ होती हैं। यह सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाओं से मिलती–जुलती है। इसको इस प्रकार से समझा जा सकता है–

(1) **विशेष–** विर्तकानुगत समाधि की मनः स्थिति। इसमें साधक भिन्नता से परिचित हो जाता है।

(2) **अविशेष–** विचानुगत समाधि की मनः स्थिति। इसमें साधक साध्य में विलिन हो जाता है।

(3) **लिंगमात्र–** आनन्दानुगत समाधि की मनः स्थिति। इसमें साधक वस्तु को सार भूत रुप में देखता है। वास्तु की मूल प्रकृति मात्र एक चिह्न के रुप में देखी जाती है।

(4) **अलिंग–** अस्मितानुगत समाधि की मनः स्थिति। इसमें कोई चिह्न शेष नहीं रह जाता।

13.5.1 सांख्य सूत्र के अनुसार–

सत्वरजस्तमसांसाम्यावस्थां प्रकृतिः – – – – –।। (सांख्य सूत्र I/26)

अर्थात– सत्व, रज और तम इन 3 गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। गुणों में विषमता होने पर सर्वप्रथम महतत्व की उत्पत्ति हुई, महतत्व से अहंकार, अहंकार से शब्द आदि 5 तन्मात्राएं, 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण की उत्पत्ति होती है। 5 तन्मात्राओं से 5 स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। इन्हीं तत्वों से सम्पूर्ण जगत का निर्माण होता है।
यह सृष्टि क्रम इसलिये बताया गया है कि योगी योग साधना के द्वारा इस स्थूल तत्वों से सूक्ष्मतम तत्वों की ओर अग्रसर हो सके।

13.5.2 गीता के अनुसार–

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।

अर्थात– 3 गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है।

गुणानां परमं रुपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यन्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्।।

अर्थात– गुणों का असली साम्य रुप मूल प्रकृति अव्यक्त होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता, जो विषम परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं वह माया जैसा है और विनाशी है।

13.5.3 स्मृतियों के अनुसार– स्मृतियों में कहा गया है–

गुणों की साम्यावस्था जो कि गुणों से कम या अधि नहीं है, प्रकृति हेतु, प्रधान कारण और पर कहलाती है।

13.5.4 आदित्य पुराण के अनुसार –

नासद्रुपा न सद्रुपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूत सनातनी।।

अर्थात– माया न असद्रुपा है, न सद्रुपा है, न उभयरुपा है। वह सत् या असत् से अनिर्वाच्या है, मिथ्या रुप और नित्य है। आदित्य पुराण में माया नामक प्रकृति को परमार्थक सत्व आदिरुप में अनिरुपा कहा गया है।
आप प्रकृति के स्वरुप को इस प्रकार समझ सकते हैं–

प्रकृति और उसके गुण

जब हम विश्व की ओर नजर दौड़ाते हैं तो पाते हैं कि विश्व में अनेक वस्तुएँ हैं, जैसे नदी, पहाड़, कुर्सी, मन, बुद्धि, अहंकार इत्यादि। इनमें से प्रत्येक को अलग–अलग कार्य कहा जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व कार्य का प्रवाह है।
विश्व में दो प्रकार की वस्तुएँ दीख पड़ती हैं जिनमें एक स्थूल है, दूसरी सूक्ष्म। नदी, पहाड़, टेबुल, वृक्ष आदि विश्व के स्थूल पदार्थ हैं और मन, बुद्धि, अहंकार आदि विश्व के सूक्ष्म पदार्थ हैं। विश्व का कारण उसे ही माना जा सकता है जो विश्व के स्थूल और सूक्ष्म दोनों पदार्थों की व्याख्या कर सके।
सांख्य विश्व का कारण मानने के लिऐ प्रकृति की स्थापना करता है। प्रकृति एक है। इसलिए उससे विश्व की व्यवस्था की व्याख्या हो जाती है। प्रकृति जड़ होने के साथ–ही–साथ सूक्ष्म पदार्थ भी हैं। इसलिए प्रकृति सम्पूर्ण विश्व की जिसमें स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थ हैं, व्याख्या करने में समर्थ है। इसीलिये सांख्य ने विश्व का आधार प्रकृति को माना है। प्रकृति का प्रकृति इसीलिए कहा जाता है कि विश्व का मूल कारण है। परन्तु वह स्वंय कारणहीन है। प्रकृति को प्रकृति के अतिरिक्त विभिन्न नामों से सांख्य–दर्शन में सम्बोधित किया गया है।

प्रकृति को प्रधान कहा जाता है, क्योंकि वह विश्व का प्रथम कारण है। प्रथम कारण होने के कारण विश्व की समस्त वस्तुएँ प्रकृति पर आश्रित हैं। किन्तु प्रकृति स्वयं स्वतन्त्र है। प्रकृति को ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा उसे कहा जाता है जिसका विकास हो। प्रकृति स्वंय विकसित होती है। इसका विकास भिन्न–भिन्न पदार्थों में है। प्रकृति विश्व का कारण है। कारण होने के नाते विश्व के सभी पदार्थ प्रकृति में अव्यक्त रुप से मौजूद रहते हैं। इसी कारण प्रकृति को अव्यक्त कहा गया है।

प्रकृति को जड़ कहा जाता है, क्योंकि वह मूलतः भौतिक पदार्थ है।

प्रकृति को माया कहा जाता है। माया उसे कहा जाता है जो वस्तुओं को सीमित करती है। प्रकृति विश्व की समस्त वस्तुओं को सीमित करती है, क्योंकि वह कारण है और विश्व की समस्त वस्तुएँ कार्य हैं। कारण सम्भवतः कार्य को सीमित करता है। अतः भिन्न–भिन्न वस्तुओं को सीमित करने के फलस्वरुप प्रकृति को माया कहा गया है।

प्रकृति को शक्ति कहा जाता है, क्योंकि उसमें निरन्तर गति विद्यमान रहती है। प्रकृति जिस अवस्था में भी हो निरन्तर गतिशील दीख पड़ती है। प्रकृति को अविद्या कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञान का विरोधात्मक है।

प्रकृति एक है। सांख्य दो तत्वों की सत्ता स्वीकार करता है जिसमें पहला तत्व प्रकृति है। इसलिऐ प्रकृति को तत्व माना गया है। प्रकृति स्वंय स्वतन्त्र है। यद्यपि विश्व की प्रत्येक वस्तु प्रकृति पर आश्रित है। प्रकृति की सत्ता के लिए किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं है।

प्रकृति विश्व की विभिन्न वस्तुओं का कारण है, परन्तु स्वयं अकारण है। वह जड़ द्रव्य, प्राण, मन, अहंकार आदि का मूल कारण है। यद्यपि प्रकृति समस्त वस्तुओं का मूल कारण है, परन्तु वह स्वंय उन वस्तुओं से भिन्न है।

प्रकृति अव्यक्त है। सांख्य सत्कार्यवाद में विश्वास करता है जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में मौजूद रहता है। प्रकृति विश्व की विभिन्न वस्तुओं का कारण है। अतः सम्पूर्ण विश्व कार्य के रुप में प्रकृति में अन्तर्भूत रहता है।

प्रकृति अचेतन है क्योंकि वह जड़ है। जड़ में चेतना का अभाव रहता है। यद्यपि प्रकृति अचेतन है, फिर भी वह सक्रिय है। प्रकृति में क्रियाशीलता निरन्तर दीख पड़ती है, क्योंकि उसमें गति अन्तर्भूत है। प्रकृति एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय नहीं हो सकती है।

सांख्य प्रकृति को दिक् और काल की सीमा से परे मानता है। प्रकृति दिक् और काल में नहीं है, बल्कि यह दिक् और काल को जन्म देती है।

प्रकृति को व्यक्तित्वहीन माना गया है, क्योंकि बुद्धि और संकल्प व्यक्तित्व के दो चिह्न का पूर्ण अभाव है।

(अलिंग) प्रकृति + पुरूष

↓

(लिंगमात्र) महत् (बुद्धि, चित्त)

↓

(अविशेष) अहंकार

↓

(विशेष) सत + रज + तम

5 ज्ञानेन्द्रिय	5 कर्मेन्द्रिय	1 मन	5 तन्मात्राऐं		5 महाभूत
(1) आँख	हाथ		रुप	→	अग्नि
(2) कान	पैर		रस	→	जल
(3) नाक	मुख		गन्ध	→	पृथ्वी
(4) जीभ	गुदा		स्पर्श	→	वायु
(5) त्वचा	जननेन्द्रियाँ		शब्द	→	आकाश

ये तीन गुण सत्व, रज, तम सदा एक दूसरे को बाँधे रखते हैं। जिस प्रकार तेल बाती और आग से प्रकाश उत्पन्न होता है ठीक उसी प्रकार 3 गुणों के कारण सांसारिक विषय उत्पन्न होते हैं। संसार की स्थूल व सूक्ष्म सभी वस्तुओं में ये 3 गुण विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक गुण एक दूसरे को दबाने का प्रयास करता है। तथा जो गुण ज्यादा प्रबल होता है उसी के अनुरुप उस वस्तु का स्वरुप निर्धारित होता है। बाकि गुण उस वस्तु में गौण रुप में विद्यमान रहते हैं।

क्हा गया है कि– एक अद्वितीय ब्रह्म ही था, उससे अव्यक्त अक्षर उत्पन्न हुआ, उस अक्षर से महत्व और इससे अहंकार, अहंकार से 5 तन्मात्राऐं, इनसे 5 महाभूत आदि उत्पन्न हुए हैं। वेदान्त में भी बुद्धि आदि के क्रम से सृष्टि कही है।

मोक्ष धर्म में बुद्धि को भगवान हिरण्यगर्भ कहा गया है। इन्होंने ही अपने आत्मरुप से एकात्मक समस्त तीनों लोकों को धारण किया हुआ है।

प्रकृति के तो 23 तत्वों के कारण सत्व आदि नाम वाले सूक्ष्म द्रव्य असंख्य हैं। इनको गुण इसलिये कहा गया है कि वे पुरूष के उपकरण हैं। और उसे बाँधने वाले हैं।

13.6 द्रष्टा (पुरुष) का स्वरुप –

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोपि प्रत्ययानुपश्यः (2/20 पा० यो० सू०)

द्रष्टा – द्रष्टा पुरूष

दृशिमात्र – देखने की शक्ति मात्र है।

शुद्धःअपि – निर्मल, निर्विकार होने पर भी

प्रत्यय–अनुपश्यः – चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है।

अर्थात– द्रष्टा जो देखने की शक्ति मात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है।

दृशिमात्र– इस शब्द का अभिप्राय यह है कि देखने वाली शक्ति केवल ज्ञान मात्र है देखना उसका धर्म नहीं है, बल्कि देखने की शक्तिमात्र उसका धर्म है। जिस प्रकार दीपक चाहे छोटा हो या बड़ा प्रकाश रुप ही होता है। वैसे ही सब प्राणियों के अन्दर आत्मा को भी ज्ञार रुप जानना चाहिये। ज्ञान न तो आत्मा का धर्म है न गुण है। आत्मा तो नित्य, विभु और शिव (कल्याणकारी) ज्ञान स्वरुप है।

प्रत्ययानुपश्य– चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला। चित्त की वृत्तियाँ गुणमयी होने से परिणाम वाली होती हैं। विषय में उपराग होने से वह विषय का चित्त में ज्ञान होता है। पुरूष तो चित्त का सदैव साक्षी बना रहता है। चित्त पुरूष के ज्ञानरुपी प्रकाश से प्रतिबिम्बित होकर चेतन युक्त लगता है। इस प्रकार चित्त जिन–2 वृत्तियों को ग्रहण

करता है वह पुरूष से छिपी नहीं रहती है। पुरूष में चित्त की तरह कोई परिणाम नहीं होता।

द्रष्टा शुद्ध स्वरुप है। परिणाम आदि से रहित होता है। सर्वदा एकरस रहता है। पुरूष चित्त की वृत्तियों का ज्ञान रखने वाला है। क्योंकि चित्त में उसके ही ज्ञान का प्रकाश है। चित्त पुरूष के ज्ञान से ही प्रतिबिम्बित है। चित्त परिणामी, पुरूष अपरिणामी है। चित्त का साक्षी होने के कारण उसमें ये वृत्तियाँ अज्ञान से अपनी प्रतीत होती हैं।

दूसरे शब्दों में द्रव्य–आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और असंग है। फिर भी इसका सम्बन्ध अविद्या के कारण चित्त (प्रकृति) से मिलकर चित्त वृत्तियों को ही देखना रहता है। और जब तक देखता है तभी तक उसको दृष्टा की संबा दी जाती है।

अब प्रश्न उठता है कि दृश्य के अभाव में दृष्टा क्या कहलायेगा?

अतः ये शंका होती है कि दृश्य बाहर है और आत्मा अन्दर, ऐसी दशा में आत्मा किस प्रकार दृश्यों का दृष्टा है?

समाधान– यह सम्पूर्ण जगत दृश्यरुप है। नेत्र इस दृश्य का दृष्टा है। क्योंकि नेत्र द्वारा हम दृश्य देखते हैं। पर नेत्र भी दृश्य है मन नेत्र का दृष्टा है, क्योंकि नेत्र द्वारा ग्रहण किये गये दृश्यों का ज्ञान हमें मन के द्वारा ही होता है। परन्तु मन और मन की वृत्तियाँ भी दृश्य ही हैं। साक्षी आत्मा मन और मन वृत्तियों का दृश्य है। आत्मा ही मूल दृष्टा है। जिसकी सत्ता स्फूर्ति को प्राप्त कर मन और नेत्र आदि दृष्टा बनते हैं। आत्मा सदा दृष्टा बना रहता है, दृश्य नहीं बनता अन्यथा वह अनात्म बन जायेगा। आत्मा दर्शन में भी आत्मा ही द्रव्य होता है क्योंकि जो दिखाई पड़ता है वह चित्त में पड़े चेतन का प्रतिबिम्ब मात्र ही होता है। वास्तविक आत्मा नहीं। जिस प्रकार शीशे में पड़ा प्रतिबिम्ब वास्तविक व्यक्ति नहीं होता, किन्तु जिसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और जो देखने वाला है वही वास्तविक व्यक्ति है।

13.6.1 व्यास भाष्य के अनुसार– "सब धर्मों से रहित जो केवल चेतनमात्र अर्थात ज्ञानस्वरुप पुरूष है, वह दृष्टा कहा जाता है।"

13.6.2 पंचाशिखाचार्य के अनुसार– "अपरिणामी जो पुरूष है उसका किसी विषय से सम्बन्ध नहीं वह 'निर्लेष' है। परिणामी चित्त में प्रतिबिम्बित होने के कारण वह वृत्तियुक्त दिखाई देता है।"

13.6.3 विज्ञान भिक्षु के अनुसार– दृष्टा यहाँ गुण नहीं है किंतु प्रकाश स्वरुप द्रव्य है।

पुरूष की सत्ता स्वंय सिद्ध है। मैं हूँ, ये मेरा है। 'मैं' आत्मा का परिचय देता है। कोई व्यक्ति ये स्वीकार नहीं कर सकता कि 'मैं नहीं हूँ' क्योंकि अस्वीकार करने में भी चेतन मन की आवश्यकता होती है। इसलिये पुरूष स्वर सिद्ध है। ये स्वंय प्रकाश है, उसे प्रकाश करने के लिऐ किसी की आवश्यकता नहीं होती।

आत्मा चेतन रुप है ये ज्ञाता है। ज्ञान का विषय नहीं चेतन्यता उसका स्वभाव है।

वेदान्त– आत्मा को आनन्द रुप मानता है।

सांख्य– आनन्द को प्रकृति का रुप मानता है और प्रकृति पुरूष से भिन्न है।

पुरूष निष्क्रिय उदासीन होता है। प्रकृति के क्रियाकलापों को देखता रहता है। पुरूष में कभी भी विकार उत्पन्न नहीं होते अतः वह अपनी दिशा से विचलित नहीं है। पुरूष नित्य व्यापक है। अज्ञान के कारण हम इन्द्रिय मन शरीर को आत्मा मान लेते हैं। योग के अनुसार विवके ख्याति द्वारा पुरूष, प्रकृति की भिन्नता का ज्ञान होता है। योग के द्वारा दोनों का ज्ञान होता है।

पुरूष के स्वरुप को इस प्रकार से समझ सकते हैं–

जिस सत्ता को अधिकांशतः भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा कहा है उसी सत्ता को सांख्य ने पुरूष की संज्ञा से विभूषित किया है। पुरूष और आत्मा इस प्रकार एक ही तत्व के विभिन्न नाम हैं।

पुरूष की सत्ता स्वंय–सिद्ध (self-evident) है। इसे सत्ता का खण्डन करना असम्भव है। यदि पुरूष की सत्ता का खण्डन किया जाये तो उसकी सत्ता खण्डन के निषध में निहित है। अतः पुरूष का अस्तित्व संशयरहित है। पुरूष को शुद्ध चैतन्य माना है। चैतन्य आत्मा में सर्वदा निवास करता है। आत्मा को जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था या सुषुप्तावस्था में से किसी भी अवस्था में माना जाये उसमें चैतन्य वर्तमान रहता है। इसलिये चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं, बल्कि स्वभाव माना गया है। आत्मा प्रकाश रुप है। वह स्वंय तथा संसार के अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करती है।

पुरूष अपरिवर्तनशील है। इसके विपरित प्रकृति परिवर्तनशील है। पुरूष काल औन दि्क की सीमा से बाहर है। वह काल औन दिक् में नहीं है, क्योंकि वह नित्य है।

पुरूष सुख–दुःख से रहित है, क्योंकि वह राग और द्वेष से मुक्त है। राग सुख देने वाली और द्वेष दुःख देने वाली इच्छा है।

पुरूष पाप–पुण्य से रहित है। पाप और पुण्य उसके गुण नहीं हैं, क्योंकि वह निर्गुण है।

आत्मा सत्+चित्+आनन्द='सच्चिदानन्द' है। सांख्य आत्मा को आनन्दमय नहीं मानता है। आनन्द औन चैतन्य विराधात्मक गुण हैं। एक ही वस्तु में आनन्द औन चैतन्य का निवास मानना भ्रान्तिमूलक है। इसके अतिरिक्त आनन्द सत्व का फल है। आत्मा सतोगुण से शून्य है, क्योंकि वह त्रिगुणातीत है।

– पुरूष विभिन्न गुणों का साक्षी है परन्तु वह स्वंय इनसे परे है।
– चेतन पुरूष अचेतन प्रकृति, महत्, अहंकार, मन आदि पदार्थों का पथ प्रदर्शक है।
– प्रकृति द्वारा उत्पन्न समस्त वस्तुओं का भोक्ता पुरूष है।
– पुरूष में मुक्ति की इच्छा होती है। क्योंकि वह चेतन औन अशरीरी है।
– सांख्य पुरूष को अनेक मानता है।

हम कह सकते हैं कि–

जब तक दृष्टा नहीं होगा तब तक दर्शन का प्रश्न ही नहीं उठता। समाधि ऊँची स्थिति में दृष्टा ही देखता है। ज्ञान तभी उदय हो सकता है जब दृश्य और दृष्टा दोनों होते हैं। दृष्टा ही पुरूष है। जिस प्रकार विभिन्न रंग रंगीन काँच के बर्तन में रखा पानी रंगीन सा दिखता है ठीक उसी प्रकार परमशुद्ध पुरूष भी विभिन्न विषयों के कारण वैसा रुप धारण कर लेता है। यही कारण है कि निर्गुण, निराकार, परमशुद्ध चेतनरुप पुरूष हमें विषय के अनुरुप गुणयुक्त, आकारयुक्त और विकृत दिखता है। परन्तु पुरूष दुःख, सुख, अविद्या, जन्म, मृत्यु, आदि विषयों में फँसा हुआ नहीं होता, उनसे लिप्त नहीं होता है।

तदा द्रष्टुः स्वरुपेवस्थानम् 1/3 पा0यो0सू0

अर्थात– सर्व वृत्तियों का विरोध होने पर द्रव्य (पुरूष) की अपने विशुद्ध चैतन्य मात्र स्वरुप में अवस्थित होती है।

वृत्तिसारुप्य मितस्र। 1/4 पा0यो0सू0

व्युत्थान दशा में पुरूष (दृष्टा) वृत्ति के समान स्वरुप वाला होता है।

इस द्रश्य का प्रयोजन पुरूष के लिये है, इसका वर्णन इस प्रकार है–

तदर्थ एवं दृष्यस्यात्मा 2/21 पा0यो0सू0

तद – अर्थ एवं – उस (द्रष्टा पुरूष) के लिये ही दृश्यस्य आत्मा – दृश्य का स्वरुप है।

अर्थात– पुरूष के लिये ही दृश्य का स्वरुप है। यह सारा दृश्य पुरूष के भोग और मोक्ष के लिए है। जब भोग और मोक्ष पूर्ण हो जाता है तो फिर पुरूष इस दृश्य को नहीं देखता। अभिप्राय यह है कि पुरूष के कर्म और फल के भोगार्थ दृश्य है। उसकी प्रयोजन सिद्धि के लिये ही दृश्य का स्वरुप होता है। जड़ होने के कारण दृश्य का परस्वरुप चेतन रुप से ही प्राप्त होता है।

बछड़े की वृद्धि के निमित्त जिस प्रकार अचेतन की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरूष के मोक्ष के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार सज्जन पुरूष सबका भला करता है और अपना कोई प्रत्युत्तर नहीं चाहता ठीक इसी प्रकार उपकारिणी प्रकृति अनुपकारी गुणरहित पुरूष के लिये निःस्वार्थ काम करती है।

व्यासभाष्य– पुरूष के कर्म और फल के भोगार्थ दृश्य है। उसकी प्रयोजन सिद्धि के लिये ही दृश्य का स्वरुप होता है।

भोजवृत्ति सूत्र 21– प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजन की अपेक्षा से प्रवृत्त नहीं होती, किंतु पुरूष के भोक्तत्व–सम्पादन के लिये प्रवृत्त होती है। प्रकृति केवल पुरूष के लिये ही विद्यमान है। प्रारम्भ से ही विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया पुरूष के लिये होती है। सारा ज्ञान पुरूष का ही होता है। प्रकृति तो ज्ञान का माध्यम बनती है। प्रकृति के द्वारा पुरूष अनुभव करता है और मुक्ति प्राप्त करता है।

कृतार्थ प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधानणत्वात्।(2/22 पा० यो० सू०)

कृतार्थ – प्रति – नष्टम् – अपि – जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिए नष्ट हुआ दृश्य भी अनष्टम – नष्ट नहीं होता।

तद – अन्य – साधानणत्वात् – क्योंकि वह दृश्य दूसरों की साधारण वस्तु है।

अर्थात– जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये दृश्य नष्ट हुआ भी नष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह दूसरों पुरूषों के साथ साझे की वस्तु है। इस सारे दृश्य की रचना समस्त पुरूषों के भोग के लिए है न कि किसी विशेष के लिये, इसीलिए जिसका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यद्यपि इस दृश्य का कार्य समाप्त और नाश के तुल्य हो जाता है, तथापि इसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता क्योंकि एक पुरूष के मुक्त हो जाने से सब मुक्त नहीं हो जाते। यह दूसरों के इसी प्रयोजन को साधने में लगा रहता है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरुपोपलब्धिहेतुः संयोगः। (2/23 पा० यो० सू०)

स्व शक्ति और स्वामी शक्ति संज्ञक स्वरुप की उपलब्धि का जो कारण है (दृश्य–दृष्टा का स्व–स्वाभाविक) संयोग है। अर्थात स्वामी शक्ति के स्वरुप की उपलब्धि संयोग के वियोग के कारण है। चित्त और यह सारा जड़ दृश्य स्व है। चेतन पुरूष इसका स्वामी है शक्ति का अर्थ स्वभाव या स्वरुप है। दृश्य ज्ञेय है और द्रष्टा ज्ञाता है। दृश्य और द्रष्टा दोनों नित्य और व्यापक हैं। इस दृश्य के भोग्यत्व और द्रष्टा के भोगकृत्व भाव को ही संयोग कहते हैं। गीता 13/26–में कहा गया है–

हे अर्जुन! इस संसार में जो कुछ भी स्थावर–जंगम वस्त उत्पन्न होती है उस सम्पूर्ण को तू क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरूष) के संयोग से ही उत्पन्न हुई जान। अर्थात प्रकृति पुरूष के संयोग से ही सम्पूर्ण जगत की स्थिति है।

सांख्यकारिका (21)– में कहा गया है–

पुरूष (लंगड़ा) प्रकृति (अंधे) का मिलन लंगड़े और अन्धे के संयोग की तरह है, इसी से सृष्टि है।

दर्शन = वियोग का कारण है

अदर्शन = संयोग का कारण है

अदर्शन का अभाव कह संयोग रुपी बन्धन का अभाव है। विवके ज्ञान द्वारा संयोग से वियोग होता है, यही केवल मोक्ष है।

तस्य हेतुरविद्या । (2/24 पा० यो० सू०)

उस संयोग का मूल कारण अविद्या है।

दृष्टा (साक्षी) इस दृश्य से भिन्न है पर दृश्य के साथ ऐसा सम्बन्ध बना हुआ है कि वह अपने आपको उससे पृथक नहीं समझता। अतः इस संयोग का मुख्य कारण अज्ञान, अविवेक, अविद्या ही है।

इसके विपरित ज्ञान की वासना से भरी हुई बुद्धि कार्यनिष्ठा या आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाती। संसार में हम जिसे ज्ञान समझते हैं वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। इसलिऐ यह ज्ञान अविद्या की विवृत्ति नहीं कर सकता है। विवेक ख्याति से उत्पन्न विवेक ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। ये ही मोक्ष देने में समर्थ है।

आचार्य शंकर–

तत्र चित्त निवृत्तिरेव मोक्ष

चित्त की निवृत्ति मोक्ष है।

चित्त के दो परिणाम है 1. भोग 2. मोक्ष (अपवर्ग)। इन दोनों से रहित होने पर चित्त का स्वरुप निवृत्ति हो जाता है, इसे चित्त निवृत्ति कहते हैं। ये ही मोक्ष है। अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है।

13.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई को पढ़कर आपने प्रकृति और पुरूष के बारे में जानकारी प्राप्त की। जिसमें आपने इनके स्वरुप के बारे में जाना साथ ही ये भी जाना कि किस प्रकार ये दोनों मिलकर सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं और इसका विकास करते हैं। इसके मूल में अविद्या ही वास करती है। अतः प्रकृति के मूल स्वरुप एवं पुरूष के स्वरुप को समझकर दार्शनिक मान्यताओं से परिचित होना आपके लिए नया विषय रहा होगा। परन्तु दर्शन से जुड़ने के कारण आपके लिए इन्हें जानना आवश्यक हो जाता है। विषय के अन्त में अविद्या का नाश परम आवश्यक बताया गया है। तभी पुरूष मुक्ति की प्राप्ति के लिये प्रयास करेगा जो कि आवश्यक भी है और उसके हित में है।

13.8 शब्दावली

निवृत्ति – छुटकारा

संयोग – मिलना

अवलोकन – निरिक्षण (देखना)

प्रयोजन – उद्देश्य
प्रवृत्ति – स्वभाव
प्रत्युपकार – बदले में किया गया उपकार

13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मुक्ति के चार सोपान – स्वामी दयानन्द सरस्वती
योग सूत्र – प्रकाश गीता प्रेस गोरखपुर
भारतीय योगदर्शन – हरेन्द्र प्रसाद सिनदा
योग प्रभाकर – स्वामी केशवानन्द जी

13.10 निबंधात्मक प्रश्न

(1) पुरूष तत्व को विस्तार से समझाये।
(2) प्रकृति तत्व का विस्तृत वर्णन करें।
(3) प्रकृति–पुरूष के संयोग का कारण क्या है? स्पष्ट करें।
(4) योग दर्शन में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया को विस्तार से समझाऐं।
(5) योग सूत्र में प्रकृति–पुरूष एवं इसके संयोग से विश्व रचना का विस्तार वर्णन करें।

इकाई 14 कैवल्य तथा कैवल्य प्राप्ति के उपाय

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 कैवल्य
14.4 कैवल्य का स्वरूप
14.4.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार
14.4.2 नागार्जुन के अनुसार
14.5 कैवल्य के पर्यायवाची
14.6 प्रकृति–पुरूष का संयोग
14.7 कैवल्य प्राप्ति के साधन
14.7.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार
14.7.2 गीता के अनुसार
14.7.3 व्यास भाष्य के अनुसार
14.8 कैवल्य की उच्च अवस्था प्राप्ति के साधन एवं साधन एवं साधक की स्थिति–
14.8.1 प्रथम साधन एवं स्थिति–
14.8.2 द्वितीय साधन एवं स्थिति–
14.9 सारांश
14.10 शब्दावली
14.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.12 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई आप 'कैवल्य' जिसे मोक्षादि नामों से भी जाना जाता है, के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त करेंगे। कैवल्य सम्बन्धित समस्त जिज्ञासाओं का निवारण आप प्रस्तुत इकाई को पढ़कर कर पायेंगे। योग में कैवल्य की क्या मान्यता है तथा इसको किस प्रकार से वर्णित किया गया है, इन सभी विशयों को आप जान पायेंगे।

कैवल्य योग विद्या का परम लक्ष्य है। सृश्टि में जितना सद्ज्ञान है वह सभी कैवल्य मार्ग की ओर ही अग्रसित करता है। सांसारिक प्रपंच में फंसी हुई जीवात्मा अज्ञान के वष

में आकर, उसके अधीन हो जाती है और उसी के अनुसार सांसारिक विशय–वासनाओं में ही लिप्त रहते हुऐ सांसारिक भोग करती है। इसी में उसे सुख–दुख ईर्श्या–द्वेश, राग–मोह आदि वृत्तियों का सानिध्य प्राप्त होता है। इसप्रकार जीवात्मा निरंतर जन्म–मरण के चक्रव्यूह में घुमती रहती है। इस चक्रव्यूह में फंसे रहना जीवात्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं है। जन्म जन्मान्तरों से चित्त में इकट्ठा किये हुऐ संस्कार के प्रभाव के कारण ये सब प्रपंच जुड़ता है। पुराने संस्कार नये संस्कारों को उत्पन्न करने में सहयोगी होते हैं और संस्कारों का यह खजाना कभी खाली नहीं होता वरन् बढ़ता ही रहता है। इसके मूल में देखा जाय तो अर्थात अज्ञान की ही मूल सत्ता हमें वहां प्राप्त होती है। अज्ञान में जीती हुई जीवात्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में गोते खाती रहती है। सैकड़ों जन्मों के अभ्यास से भ्रमपूर्ण संसारी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, इन्हें केवल योगाभ्यास द्वारा नश्ट किया जा सकता है। योग में वर्णित अनेकानेक विधियाँ व्यक्ति को उसके कर्म बन्धनों से मुक्त कराने में सहायक होती है। विवेकपूर्ण प्रयत्नों के द्वारा भोग–कामना को दूर हटाकर व्यक्ति को मन की उस अवस्था का अभ्यास करना चाहिये जिसमें वह वासनाओं से बिल्कुल षून्य हो जाता है।

ब्रह्म का स्वरूप निराकार है, वह सब में रहता हुआ भी किसी में लिप्त नहीं है, किसी में बंधा नहीं है। इसमें कोई वासना नहीं है। समस्त वासनाओं का समूल नाष केवल निर्विकल्प समाधि में ही होता है। केवल निर्विकल्प समाधि ही अषुद्ध वासनाओं के बीज को पूर्णतया दग्ध कर सकती है। ऐसे विषुद्ध चित्त वाले को ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिसके लिये व्यक्ति संसार में रहता हुआ ही प्रयास कर सकता है। गीता के द्वितीय अध्याय के चौंसठवें ष्लोक में कहा भी गया है कि निगृहीत चित्त पुरूश रागद्वेशादि से रहित स्व–वषीभूत इन्द्रियों द्वारा विशय–समूह को ग्रहण करता हुआ भी आत्म प्रसाद प्राप्त करता है। विभिन्न विद्वानों के मत एवं ग्रन्थों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि समस्त साधनाओं का एकमात्र लक्ष्य या ध्येय केवल मोक्ष की प्राप्ति ही है। महर्शि वषिश्ठ जी ने वषिश्ठ संहिता में भी इसी बात पर जोर दिया है।

14.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे

- कैवल्य क्या है?
- कैवल्य के विभिन्न नामों के बारे में।
- कैवल्य प्राप्ति के साधन के बारे में।
- कैवल्य प्राप्ति में साधक की स्थिति।

14.3 कैवल्य –

कैवल्य को मोक्ष के नाम से भी जाना जाता है। कैवल्य शब्द केवल से बना है जिसका अर्थ एकदम अकेला होता है जहाँ कोई दूजा नहीं होता। यह एक प्रकार से अद्वैतावस्था होती है। यह किसी विलक्षण विधायक ज्ञान की उपलब्धि अथवा ईष्वर लाभ की अवस्था नहीं है बल्कि यह वर्णनातीत अवस्था होती है इसे सब कुछ खोकर अथवा त्यागकर ही पाया जा सकता है। यह एकदम अकेलेपन अथवा अद्वैत की अवस्था होती है।

महर्शि पतंजलि ने योगदर्शन नामक ग्रन्थ में कैवल्य को इस प्रकार से समझाया है –

महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन में पुरूशतत्व और प्रकृति तत्व का वर्णन करते हुए सृष्टि के विकास को समझाया है इसमें उन्होंने पुरूष को आत्मा कहा है, और इसी के बन्धन में बंधने और बन्धन के कारण को स्पष्ट किया है। उन्होंने पुरूष के स्वरूप, बन्धक एवं मुक्त स्वरूप को इस प्रकार से वर्णन किया है –

जीवात्मा स्वभावतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। वह शारीरिक बन्धन एवं मानसिक विकारों से मुक्त रहती है। अविद्या के कारण जीवात्मा की चित्त के साथ एकता हो जाती है जिसके कारण आत्मा अपने को कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि से युक्त मानकर सुख एवं दुख का अनुभव करने लगती है। चित्त मूल प्रकृति का प्रथम विकार है। चित्त स्वभावतः जड़ है परन्तु चेतन आत्मा के सम्पर्क में आने के कारण चेतन प्रतीत होती है। चित्त पुरूष के प्रकाश से प्रकाशित होता है। जब चित्त का इन्द्रियों के माध्यम से किसी विषय से सम्बन्ध होता है, तब विषय का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण वह विषयाकार प्रतीत होता है। चित्त में प्रतिबिम्बित होने के कारण पुरूष को सहप्रतिबिम्बित विषयों का ज्ञान होता है। यद्यपि पुरूष अपरिणामी है उसमें किसी प्रकार का परिणाम(विकार) नहीं होता है फिर भी प्रतिक्षण बदलते रहने वाले चित्त में प्रतिबिम्बित होने के कारण उसमें भी परिवर्तन का आभास होता है, यही पुरूष (जीवात्मा) का कर्तव्य और भोक्तृत्व है।

चित्त की पाँचों वृत्तियों का निरोध हो जाने पर उसमें केवल पुरूष का ही प्रतिबिम्ब रह जाता है। इस स्थिति में पुरूष अपने स्वरूप का दर्शन करता है। इसे ही आत्मज्ञान या तत्वज्ञान कहते हैं। यह अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है। इसके बाद की अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की आती है जिसमें चित्त का लय हो जाता है, फलतः योगी को ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान किसी का भी भान नहीं रहता है। जैसा कि हम जानते ही हैं कि चित्त हमारे समस्त कर्म संस्कारों का आधार आश्रय होता है, चित्त के नाश हो जाने से समस्त कर्म संस्कारों का भी नाश हो जाता है। संस्कार ही व्यक्ति के जन्म और मृत्यु का कारण होते हैं जब संस्कार ही समाप्त हो जाते हैं तब जन्म–मरण का कारण भी स्वतः समाप्त हो जाते है। इसलिये असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बिज समाधि के नाम से भी जाना जाता है। योग में इस अवस्था में पहुँच जाने के बाद पुरूष अर्थात् जीवात्मा का पुनः जन्म नहीं होता है। इस स्थिति को ही मोक्ष या कैवल्य कहते हैं।

योग को परिभाषित करते हुऐ महर्षि अपने प्रथम अध्याय के द्वितीय सूत्र में कहते हैं कि –

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः

अर्थात् – चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।

महर्शि कहते हैं कि जब चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब यह अवस्था योग की पूर्णावस्था है। ऐसी स्थिति में वे पुरूष (आत्मा) की स्थिति का वर्णन करते हुऐ कहते हैं कि –

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (1/3 पा0यो0सू0)

अर्थात् – जब चित्त की वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं तो द्रष्टा (देखने वाला पुरूष) अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

उपरोक्त अवस्था आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है इस अवस्था में अविद्या से ग्रसित आत्म तत्व को अपना ज्ञान हो जाता है और इस समय वह अपने वास्तविक स्वरूप जो कि विकार रहित है उसे देख कर उसमें स्थित हो जाता है। यह कैवल्य की ही स्थिति है। इस लक्ष्य को केवल वे साधक ही प्राप्त कर पाते हैं जिन्होंने साधना तथा शुद्ध आहार–विहार

द्वारा अपने मन को पूरी तरह शुद्ध कर लिया है। साथ ही जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है। ऐसा व्यक्ति वासना शून्य होता है।

14.4 कैवल्य का स्वरूप –

14.4.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार– कैवल्य के स्वरूप का वर्णन कहते हुऐ महर्षि कहते हैं कि –

पुरूषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति

(4 / 34 पा0यो0सू0)

अर्थात् – जिसका पुरूष के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना कैवल्य है, अथवा द्रष्य का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रकृति का वर्णन करते हुऐ उसे त्रिगुणात्मक बताया गया है, गुणों की हलचल के कारण ही सारा प्रपन्च शुरू होता है। गुण की साम्यावस्था में प्रकृति अपने मूल स्वरूप में स्थित रहती है। प्रकृति में दो प्रक्रिया घटित होती है। पहली विकास की प्रक्रिया दूसरी प्रतिप्रसव की। विकास की प्रक्रिया में प्रकृति से एक–एक करके सृष्टि की उत्पत्ति होना प्रारम्भ होता है। एक के बाद एक विकार प्रकृति से उत्पन्न होता रहता है। जिन्हें चित्त, अहंकार, मन, 5 कर्मेन्द्रियां, 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 तन्मात्राऐं, 5 महाभूत आते हैं। ये सब पुरूष के आनन्द के लिये होता है पुनः उसी कारण में विलीन होता चला जाता है अन्त में प्रकृति और पुरूष ही शेष रह जाते हैं। प्रकृति में फिर गुण ही शेष रह जाते हैं। ये तभी सम्भव होता है जब गुणों के प्रयोजन अर्थात् भोग, और पुरूष ने कैवल्य प्राप्त कर लिया होता है। प्रतिप्रसव की प्रक्रिया पुरूष को कैवल्य प्राप्त करने पर समाप्त हो जाती है। चित्त के अभाव में पुरूष फिर कभी जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ता, सदा उसी रूप में स्थित हो जाता है।

हम कह सकते हैं कि पुरूष का अपना मूल स्वभाव विशुद्ध चेतना में स्थित होना है। अनेकानेक साधनाओं के द्वारा चेतना को शुद्ध किया जाता है, उदाहरण के लिये ध्यान, समाधि संयम आदि साधनाओं के फलस्वरूप आत्मा में पड़ा आवरण धीरे–धीरे हटता चला जाता है और फिर साधक की अविद्या का नाश हो जाता है ऐसी स्थिति में उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह चेतना का उच्चतम स्तर है, ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त कर धर्ममेध समाधि को साधक प्राप्त करता है। इस प्रकार साधक की चेतना शुद्ध होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है।

उपरोक्त वर्णन से स्पश्ट होता है कि प्रकृति की प्रसव प्रक्रिया से पूर्व एक और प्रक्रिया होती है जिसमें चेतना जड़ प्रकृति से मिलती है। इसी के बाद ही प्रकृति में हलचल उत्पन्न होती है। पुरूष और प्रकृति इन दोनों के स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण है वह संयोग हैं।

प्रकृति का स्वरूप पुरूष के लिये है, पुरूष प्रकृति का स्वामी है। इन दोनों का सम्बन्ध पुरूष द्वारा स्वयं को और प्रकृति को जान लेने के लिये ही है। ज्ञान शक्ति से जब तक पुरूष इस प्रकृति के अनेक रूपों को देखता रहता है तब तक वह भोगों को भोगता है। जब इसके दर्शन से विरक्त होकर अपने स्वरूप का दर्शन करता है तो पुरूश (आत्मा)

को अपने स्वरूप का दर्शन हो जाता है। ऐसे में फिर संयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती है। ये अवस्था पुरूष (आत्मा) की कैवल्यावस्था ही है।

14.4.2 नागार्जुन के अनुसार–नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका के 25 वें परिच्छेद में निर्वाण की व्याख्या इस प्रकार की है –

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्। अनिरूद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाण मुच्यते।।

अर्थात् – निर्वाण (मोक्ष) न छोड़ा जा सकता है, न प्राप्त किया जा सकता है। यह न तो उच्छिन्न होने वाला पदार्थ है और न शाश्वत् पदार्थ है, न निरूद्ध है और न उत्पन्न।

14.5 कैवल्य के पर्यायवाची

कैवल्य को मोक्ष, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, स्वरूपावस्थिति गुणाधिकार समाप्ति, परमधाम और परमपद आदि नामों से भी जाना जाता है।

14.6 प्रकृति–पुरूष संयोग

प्रकृति–पुरूश का जो संयोग है, उसका एक मात्र कारण अविद्या ही है, महर्शि इसका वर्णन करते हुऐ कहते हैं कि –

'तस्य हेतुरविद्या' (2/24 पा0यो0सू0)

अर्थात् – प्रकृति पुरूष के संयोग का कारण अविद्या है। यह वास्तविक संयोग नही है। जब पुरूष को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब यह संयोग समाप्त हो जाता है। पुरूष तो सदैव मुक्त है। अज्ञान के कारण वह स्वयं को संयुक्त एवं बंधा हुआ समझता है। यह माया के सदृश्य ही है। विद्या द्वारा माया का खेल समाप्त हो जाता है। स्वरूप ज्ञान द्वारा उसके बाद प्रयोजन न रहने पर वह ज्ञान भी शान्त हो जाता है। यही पुरूष का कैवल्य अपने अगले सूत्र में महर्षि कैवल्य का वर्णन करते हुऐ कहते हैं कि –

'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृषेः कैवल्यम्' (2/25 पा0यो0सू0)

अर्थात् – अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव हो जाता है। यही हान पुनर्जन्मादि भावी दुःखों का अत्यन्त अभाव है और वही चेतना आत्मा का कैवल्य है।

पुरूष जब ज्ञान द्वारा आत्मदर्शन कर लेता है तब अज्ञान सम्भव हो जाता है, ऐसी स्थिति में अज्ञान द्वारा हुऐ संयोग का भी अभाव हो जाता है फलतः पुरूष का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और ऐसी स्थिति में पुरूष के जन्म–मरण आदि सम्पूर्ण दुःखों का सदा के लिये अभाव हो जाता है। अतः पुरूष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

14.7 कैवल्य प्राप्ति के साधन–

14.7.1 महर्षि पतंजलि के अनुसार–उपरोक्त वर्णन के पश्चात महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र में वर्णन करते हैं कि–

'विवकेख्यातिरविप्लता हानोपायः' (2/26 पा0यो0सू0)

अर्थात् – निश्चल और निर्दोष विवेकज्ञान हान का उपाय है।

प्रकृति तथा उसके कार्य–बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ और शरीर– इन सबके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने से तथा आत्मा इनसे सर्वथा भिन्न और असंग है, आत्मा का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार पुरूष के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने से जो प्रकृति और पुरूष के स्वरूप का अलग–अलग यथार्थ ज्ञान होता है, इसी का नाम विवेक ज्ञान है। उस समय चित्त विवेकज्ञान में निमग्न और कैवल्य के रहता है। यह ज्ञान जब समाधि की निर्मलता–स्वच्छता होने पर पूर्ण और निश्चल हो जाता है, उसमें किसी प्रकार का भी मल नहीं रहता तब वह निश्चित और निर्दोष विवेकज्ञान कहलाता है। ऐसा विवेकज्ञान ही समस्त दुःखों के अत्यन्त अभावरूप मुक्ति का उपाय है।

ज्ञान प्राप्ति के विभिन्न साधन है जैसे इन्द्रियों द्वारा, बुद्धि, तर्क, व्यक्तिगत संपर्क, कल्पना, स्मृति आदि। इन साधनों द्वारा पुरूष का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही है। इसके लिये विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान के इस स्रोत को विवेक ख्याति के नाम से जाना जाता है। यह ज्ञान प्राप्ति की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें इन्द्रिय, बुद्धि, आदि ज्ञान प्राप्ति के साधनों का प्रयोग नहीं होता है। जिसप्रकार किसी भार मापक यन्त्र द्वारा पृथ्वी का भार नही नापा जा सकता तथा दूरी मापक यन्त्र द्वारा सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहों की दूरी को नहीं मापा जा सकता, इसके मापन हेतु विशेष प्रकार की गणना करनी पड़ेगी। ठीक इसी प्रकार आत्मतत्व को जानने और अविद्या को दूर करने के लिये जो साधन है उसे विवेक कहते हैं। विवेकख्याति अविद्या को नष्ट करने का अचूक उपाय है, जब तक अविद्या और उससे उत्पन्न वासना की निवृत्ति नहीं हो जाती तब तक विवेक ख्याति स्थिर नहीं होती। विवेक का उदय होने पर जब मिथ्याज्ञान और उसकी वासना जले हुऐ बीज की भांति अंकुरित होने में असमर्थ हो जाती है, उस समय रजोगुण प्रभाव से उत्पन्न होने वाले सभी क्लेश पूर्णतः और सदा के लिये दूर हो जाते हैं और साधक परवैराग्य में स्थित हो जाता है। फलतः सांसारिक ब्रह्माण्डिय दोनों प्रकार के विषयों के प्रति उसकी तृष्णा सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में साधक का विवेक प्रवाह पूर्णतया निर्मल हो जाता है। वह विवेक ख्याति की दिव्य स्थिति में गमन करता है। ये ही मोक्ष या कैवल्य का मार्ग है।

14.7.2 गीता के अनुसार– गीता के तेरवें अध्याय के 34वें श्लोक में इस प्रकार से वर्णन किया गया है कि–

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुशा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।। (13/34 गीता)

अर्थात् – इस प्रकार क्षेत्र (प्रकृति) और (पुरूश) के भेद को तथा विकारसहित प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरूष ज्ञान नेत्रो द्वारा (विवेकख्याति द्वारा) तत्व से जान लेते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

जिस स्थिति में विवेकख्याति निरन्तर बनी रहती है तब उसको अविप्लव विवेकख्याति कहते हैं।अब आप अविप्लव विवेकख्याति को विस्तार से जानें –

आरम्भ में अभ्यासी को क्षणिक विवेकख्याति होती है। उसी को पर्याप्त समझकर योगी प्रयत्न को ढीला न कर दे, इसलिये अविप्लव – कभी भी न हटने वाली विवेकख्याति मोक्ष का उपाय है, यह सूचित किया गया है।विवेकख्याति में जो आत्मसाक्षात्कार होता है उससे चित्त इतना विशुद्ध हो जाता है कि यह विवेकख्याति भी चित्त की ही एक वृत्ति

प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार इस विवेकख्याति से भी जो आसक्ति का हट जाना है उसी नाम पर वैराग्य है।

14.7.3 व्यास भाष्य के अनुसार–व्यास भाश्य में द्वितीय अध्याय के 26वें सूत्र की इस प्रकार से व्याख्या की गई है।

व्यास जी कहते हैं कि बुद्धि और पुरूश की भिन्नता का ज्ञान विवेकख्याति है और वह मिथ्या ज्ञान जिससे निवृत्त हो गया है, ऐसी विवकेख्याति अविप्लव अर्थात षुद्ध और निर्मल कहलाती है। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीज के समान बन्धन की अनुत्पत्ति के योग्य होता है तब रजोगुणनिमित्तक क्लेष के दूर हो जाने पर सत्व के परम् प्रकाष में परमवषीकारसंज्ञक वैराग्य में वर्तमान हुए योगी के विवके ज्ञान का प्रवाह षुद्ध होता है। वह निर्मल विवकेख्याति हान का उपाय है। उससे मिथ्याज्ञान दग्धबीज भाव को प्राप्त हो जाता है। पुनः उत्पत्ति के योग्य नहीं होता है, यह मोक्ष का मार्ग है। यही, हान का उपाय है।

14.8 कैवल्य की उच्च अवस्था प्राप्ति के साधन एवं साधक की स्थिति

14.8.1 प्रथम साधन एवं स्थिति–

महर्षि पतंजलि के अनुसार– महर्षि पतंजलि ने सम्प्रज्ञात समाधियों और उनसे प्राप्त फलों का वर्णन किया है साथ ही ऋतम्भरा प्रज्ञा आदि उपलब्धियों को भी समझाया है और बताया है कि किस प्रकार अभ्यास करते रहने से साधक ऊँचाइयों को प्राप्त करते हुऐ दिव्य क्षमताओं को करता चला जाता है। वे आगे वर्णन करते हुऐ कहते हैं कि –

'तद्वैराग्यादपि दोशबीजक्षये कैवल्यम्'

(3/50 पा0यो0सू0)

अर्थात – प्राप्त सिद्धि में भी वैराग्य होने से दोश के बीज का नाष हो जाने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है।

समाधि के अभ्यास में जब साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि बुद्धि और पुरूश दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, इनका संयोग अविद्या के द्वारा हुआ है, वास्तविक नहीं है, उस समय उसके सामने ऋतम्भराप्रज्ञा एवं सिद्धियाँ (मनोजवित्व, विकरणभाव, प्रधानजय) का प्रादुर्भाव होता है। उनमें न रूककर जो योगी पुरूश को सर्वथा असंग, निर्विकार, कूटस्थ, आनन्दमय और चेतन तथा समस्त गुणों और उनके कार्यों को जड़ दुःखप्रद और प्रतिक्षण बदलने वाले समझकर सम्पूर्ण गुणों से और उनके कार्यों से अत्यन्त विरक्त हो जाता है, उस परवैराग्य से जब दोशों के बीजरूप अन्तिम वृत्ति का भी सर्वथा निरोध हो जाता है, तब निर्बीज समाधि हो जाती है। इस अवस्था में अपनी वृत्तियों के संस्कारों सहित चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है और पुरूश की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। यह पुरूश का गुणों के साथ अत्यन्त वियोग है, इसी को कैवल्य कहते हैं।

व्यास भाष्य के अनुसार– इस पर व्यास भाष्य का भाषानुवाद इस प्रकार से है –
क्लेष और कर्मों के क्षय होने पर जब योगी का ऐसा भाव होता है कि विवके प्रत्यय बुद्धिरूप सत्व का धर्म है और बुद्धि अनात्म होने से त्यागने योग्य है और षुद्ध स्वरूप पुरूश बुद्धि से भिन्न है, तब इस प्रकार के विवेक से विवेकख्याति में भी वैराग्य उदय हो जाता है। उस पर वैराग्य वाले पुरूश के चित्त में जो क्लेष बीज विद्यमान है वे चावल के दग्धबीज के सदृष अपने अंकुरोत्पादन में असमर्थ हुए मन के सहित ही नश्ट हो जाते हैं।

उन क्लेष आदि के प्रलीन होने पर पुरूश तीनों दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के भोग को नहीं भोगता और समस्त क्लेष आदि विकार स्वकारण में लय हो जाता है। यह पुरूष का आत्यान्तिक गुण वियोग कैवल्य है।
विवेकज्ञान उत्पन्न होने पर उसमें में अनासक्त भाव रखकर कैवल्य की उच्च अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

14.8.2 द्वितीय साधन एवं स्थिति–

महर्षि पतंजलि के अनुसार– अगले सूत्र में महर्षि एक ओर साधन बताते हैं जो इस प्रकार से है –

'सत्वपुरूषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'(3/55 पा0यो0सू0)

अर्थात् – जब बुद्धि अत्यन्त निर्मल होकर अपने कारण में विलीन होने लगती है और पुरूष का बुद्धि के साथ जो सम्बन्ध है उसका और उससे उपजे मल–विक्षेप–आवरण का अभाव होने से पुरूष भी निर्मल हो जाता है। इसप्रकार जब दोनों की सम्भाव से शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य होता है।

जब चित्त में अंतिम सत्य की चेतना वृद्धि पर होती है तो वह शुद्ध एवं प्रकाशयुक्त होता है। जब अवरोध आये तो चित्त अशुद्ध रहता है। अशुद्ध चित्त में ही बाह्य जगत का विकृत रूप प्रतिबिम्बित होता है। परन्तु चित्त शुद्ध होने पर पुरूष अपने यथार्थ स्वरूप में दिखता है। इस अवस्था में पुरूष प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होता है। यह एक आध्यात्मिक स्थिति है जिसमें साधक की व्यष्टि चेतना हर तल पर चित्त तथा बाह्य जगत की बाधाओं से अप्रभावित रहते हुऐ कार्य करती है। कैवल्य योग की पराकाष्ठा है। यह साधक का अन्तिम लक्ष्य है।

मुण्डकोपनिषद के अनुसार –मुण्डकोपनिषद 3/2/8 में वर्णन मिलता है कि –

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

अर्थात् – जैसे बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूप को त्यागकर समुद्र में जाकर मिल जाती है उसी प्रकार विद्वान नाम व रूपादि से मुक्त होकर परम पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् नाम और रूपादि समस्त उपाधियों को छोड़कर ब्रह्म में एक हो जाता है।

14.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने कैवल्य के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त की। आपने जाना कि केवल शब्द से कैवल्य बना है। जिसका अर्थ होता है विरक्त भाव में स्थिति एकदम अकेला। यह योग की एवं अध्यात्म की उच्च स्थिति है। योगियों का लक्ष्य है। प्रस्तुत इकाई में आपने जाना कि किस प्रकार अभ्यास के द्वारा साधक सिद्धियों एवं उपलब्धियों को प्राप्त करता हुआ योग की उच्च अवस्था कैवल्य को प्राप्त करता है। कैवल्य सम्बन्धी अन्य विचारों को भी आपने जाना, साथ ही कैवल्य प्राप्ति की दिव्य प्रक्रिया से आप परिचित हुऐ। विषय सम्बन्धी समस्त जिज्ञासाओं को आप इस इकाई के माध्यम से सन्तुष्ट कर पायेंगे।

14.10 शब्दावली

भ्रम – संदेह
लुप्त – छिपना

वशीभूत – वश में होना
कर्तृत्व – जिन्हें करा जाये
भोक्तृत्व – जिन्हें भोगा जाये
दृष्टा – जो देखता है (पुरूष)
प्रतिप्रसव– लय होना, जो जिससे उत्पन्न हुआ उसी में मिल जाना

14.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

योग प्रभाकर	–	स्वामी केशवानन्द
योग विज्ञान	–	स्वामी विज्ञानन्द सरस्वती
मुक्ति के चार सोपान	–	स्वामी सत्यानन्द
योग दर्शन	–	गीता प्रेस गोरखपुर
पातंजल योगपद्रीप	–	गीता प्रेस गोरखपुर

14.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. कैवल्य क्या है? अर्थ बताते हुये परिभाशित करें।
2. कैवल्य को विस्तार से समझायें।
3. प्रकृति–पुरूष के रूप में कैवल्य की स्थिति को विस्तार से समझायें।

इकाई 15 चित्त, चित्त भूमि

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 चित्त शब्द का नामकरण एवं अर्थ

15.4 चित्त का स्वरूप

15.5 चित्त की भूमियॉ

15.5.1 मूढ़ावस्था

15.5.2 क्षिप्तावस्था

15.5.3 विक्षिप्तावस्था

15.5.4 एकाग्रतावस्था

15.5.5 निरुद्धावस्था

15.6 चित्त की अवस्था

15.6.1 जाग्रत अवस्था (बहिष प्रज्ञा)

15.6.2 स्वप्न या अन्तः प्रज्ञा अवस्था

15.6.3 सुषुप्ति या प्रज्ञा धन अवस्था

15.6.4 तुर्यावस्था या समाधि

15.7 सारांश

15.8 शब्दावली

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.10 निबंधात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में पाठकों की चित्त सम्बन्धित समस्त जिज्ञासाओं का समाधान किया जायेगा। ये विषय योग का बहुत महत्वपूर्ण विषय है। योग विषयक ज्ञान को लेने के लिए सर्वप्रथम चित्त को समझना अत्यन्त आवश्यक होता है। चित्त क्या है? ये कैसे बना? इसकी योग में क्या भूमिका है? आदि समस्त जानकारी आपको इस इकाई में दी जा रही है। चित्त चेतना का जड़ रुप है। चेतना का अर्थ बहुत ही गहन है। यह सृष्टि की सबसे अद्भुत चीज है। इसकी गहराई और व्यापकता की कोई सीमा नहीं है। सृष्टि के हर घटक में, कण–2 में जो हलचल परिवर्तन गति दिखाई दे रही है वो चेतना ही है। चेतना के विषय में सबसे सरल दृष्टिकोण यह है कि यह वह व्यापक पृष्ठभूमि है, जिसके आधार पर जीवन के विविध अनुभव रुप एवं आकार लेते रहते हैं। व्यक्तिगत जीवन में हम जो सोच विचार करते हैं, दुःख–सुख का अनुभव करते हैं, जो कुछ भी निर्णय लेते हैं ये सभी चेतन की प्रमाणिकता को सिद्ध करते हैं।

भारतीय चिंतन में चेतन का मूल स्रोत स्वंय परमात्मा है। जिसे सत्–चित्–आनन्द के रुप में परिभाषित किया गया है। इसका चित् स्वरुप चेतना का द्योतक है। यही उसकी रचना सृष्टि एवं इसके विविध घटकों, जीवधारियों एवं प्राणियों में परिलक्षित होता है। इसी प्रकार सृष्टि के कण–2 में स्पन्दित हो रही है।

महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि– जिस प्रकार जल में लहरों की चंचलता है, जलते हुए दीपक में प्रकाश किरणों की स्फुरणा, अग्नि में चिंगारियाँ, चन्द्रमा में किरणें, वृक्ष में फूल–पत्तियों की शोभा है उसी प्रकार सृष्टि के अणु–2 में वही परम चेतना व्याप्त है।

आधुनिक विज्ञान भी इसी आधार की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार पदार्थ के अन्दर विद्यमान न्यूट्रॉन, प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन, पाजिट्रॉन, क्वार्क जैसे सूक्ष्म कण पदार्थ के अन्दर तीव्र गति से हलचल मचा रहे हैं और यह सिद्ध कर रहे हैं कि वे सचेतन हैं।

इसी चेतना की उत्पत्ति चिति धातु से हुई है जब इसमें 'ति' प्रत्यय लगता है तो चित्त 'शब्द' बनता है जिसका विस्तार से वर्णन इस प्रकार से है–

15.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे कि–

1. चित्त क्या है?
2. महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योग ग्रन्थ में चित्त को किस प्रकार से समझाया गया है?
3. चित्त का क्या स्वरुप है?
4. चित्त किस प्रकार मन से सूक्ष्म है?
5. चित्त की कितनी अवस्थाएँ होती हैं?
6. चित्त की कौन–2 सी भूमियाँ होती हैं?
7. महर्षि पतंजलि ने चित्त की क्या भूमिका बताई है?
8. चित्त में तीन गुणों की क्या भूमिका है?

15.3 चित्त शब्द का नामकरण एवं अर्थ –

चित्त शब्द की उत्पत्ति 'चिति' धातु से हुई है। जिसका अर्थ है चेतना या ज्ञान। इसी चित् धातु में 'त' प्रत्यय लगाने से 'चित्त' शब्द बना है। जो कि काल वाचक है। अतः चित्त का अर्थ हुआ चेताया हुआ। मानव मात्र में जो चेतना का विस्तार है वह चित्त के कारण ही है।

15.4 चित्त का स्वरूप

योग दर्शन में प्रस्तुत चित्त शब्द का अर्थ मन, बुद्धि, अहंकार है। मन, बुद्धि, अहंकार को अन्तःकरण का नाम दिया गया है। मन भी चित्त का ही भाग है। परन्तु साधारण शब्दों में मन को भी चित्त कह सकते हैं। परन्तु मन की तुलना में चित्त का श्रेय काफी व्यापक है। प्रधान प्रकृति की साम्यावस्था की प्रथम विकृति है बुद्धि (महत्) तथा बुद्धि की विकृति है अहंकार और अहंकार की विकृति है मन, इन तीनों (मन, बुद्धि, अहंकार) का समुच्चय ही चित्त है। चित्त का उद्गम अंतिम तत्व आकाश से हुआ है। अतः चित्त वायु से भी सूक्ष्म व श्रेष्ठ है। चित्त में जीव के जन्म जन्मान्तरों के संस्कार एकत्रित रहते हैं। अधिकांशतः चित्त सत्वगुण वाला होता है, परन्तु जब चित्त रजो व तमो गुण के सम्पर्क में आता है तो वह विभिन्न स्वरुप व परिणाम वाला हो जाता है। जिस प्रकार वायु के प्रवाह से जल में लहरें आती हैं ठीक उसी प्रकार से चित्त बाह्य विषयों से आकर्षित व प्रभावित होकर अनेक

आकारों वाला हो जाता है। जहाँ चेतना का अस्तित्व है वहाँ–2 चित्त का वास है। चित्त एक सूक्ष्म शरीर है। चित्त में चित्त की सारी बातें समायी हुयी हैं। चित्त का एक भाग ही मनस या मन है। यह कभी सत्व गुण वाला हो जाता है, कभी रजो गुण से युक्त हो जाता है और कभी तमो गुण से युक्त प्रतीत होता है।

मन और बुद्धि अहंकार से जुड़े रहते हैं। यह चेतना जब चित्त में मिल जाती है तो अशुद्ध हो जाती है। जब चेतना अकेली हो जाती है, शुद्ध हो जाती है। जो भी कुछ चेतना में प्रतीत हो रहा है उसी से चित्त और चित्त की उत्पत्ति होती है। चेतना में मन, अहंकार, इन्द्रियाँ और तन्मात्राऐं मिली हुई हैं।

चित्त की क्रिया या कार्य को इस प्रकार से समझाया गया है। सबसे पहले मन, मन इन्द्रियों के माध्यम से स्थूल भू को स्पर्श करने से मस्तिष्क तक उसका ज्ञान पहुँचता है। ये ज्ञान फिर मस्तिष्क से मन तक पहुँचता है, फिर बुद्धि निर्णय लेती है। मन उसे स्वीकार करता है या नहीं यह निर्णय बुद्धि ही लेती है। तत्पश्चात चित्त में बुद्धि द्वारा अहंकार उत्पन्न होता है।

हमारा मन, बुद्धि के द्वारा सूचना ग्रहण करता है और फिर बुद्धि उसका निर्णय लेती है कि यह सही है या गलत। इसे स्वीकार करना है या नहीं या यह हमारा है या नहीं। इस तरह बुद्धि के द्वारा लिये गये निर्णय और सूचना अहं को पैदा करती है। इसी को अहंकार कहते हैं।

हरिहरानन्द जी के अनुसार **-**ज्ञान, चेष्टा भाव, संस्कार–धर्म से विशिष्ट अन्तःकरण चित्त है।

'चितं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्'

("पातंजलयोगदर्शनम्" स्वामी हरिहरानन्द आरण्य)

अर्थात– प्रकाश शीलत्व (सत), प्रवृत्ति शीलत्व (रज) और स्थितिशीलत्व (तम) इन तीन स्वभावों के कारण चित्त त्रिगुणात्मक है।

चित्त + रज + तम– के संसर्ग से ऐश्वर्य और विषय प्रिय लगते हैं।

चित्त + तम –के संसर्ग से अधर्म, अज्ञान, आसक्ति और अनैश्वर्य प्रवृत्ति।

चित्त में जब मोह रुपी आवरण नहीं होता है तो ध्याता, ध्येय, ध्यान तीनों का पूर्ण ज्ञान होता है और इस अवस्था में रजो गुण के थोड़ा उजागर होने पर चित्त में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। जब रजगुण भी समाप्त होता है, लेश मात्र भी नहीं रहता है तब चित्त का स्वरुप स्थिर हो जाता है। उसमें केवल बुद्धि और पुरुष का भेद ज्ञान रहता है और तब धर्म मेघ समाधि सिद्ध हो जाती है।

चित्त रुप में परिणत जो सत्व गुण है वही चित्तसत्व अर्थात विशुद्ध ज्ञान वृत्ति है।

आचार्य विज्ञान भिक्षु– अन्तःकरण के चारों भेद मनबुद्धि अहंकार यद्यपि योग में स्वीकृत हैं लेकिन फिर भी वृत्तिरुप से पहले ही अन्तःकरण के चार भेद हैं।

व्यासभाष्य में– चित्त चुम्बक के समान बताया गया है यदि उसको निरोध द्वारा बाह्य विषयों के सम्पर्क से नहीं रोका गया तो वह लोहे के सदृश ही बाह्य विषयों को अपनी ओर खींचता है।

वाचस्पति मिश्र– चित्त शब्द को बुद्धि ,अन्तःकरण के रुप में ग्रहण किया है। चित्त को त्रिगुणात्मक तथा त्रिभुः कहा जाता है। सत्व गुण प्रधान होने के कारण इसे चित्त सत्व भी कहते हैं।

कैवल्योपनिषद– 'श्रद्धा भक्ति ध्यान योगाऽवेहि'

अर्थात– श्रद्धाभक्ति ध्यान के द्वारा आत्मा को जानना ही योग है।

चित्त की एकाग्रता के द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक हुई आत्मा का साक्षात्कार करना योग है।

हम पहले भी इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि चित्त इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान का अर्जन और क्रियाओं का सम्पादन करता है। इसके अतिरिक्त विविध प्रकार के संकल्प–विकल्प अथवा इन्द्रियों के बिना भी अनुमान आगम और बाह्य तथा अन्तर प्रत्यक्ष के द्वारा जो भ्रमात्मक संशयात्मक अथवा प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सब चित्त के ही व्यापार के कारण हो पाता है। जब चित्त में ये सभी व्यापार शान्त हो जाते हैं तो चित्त पूर्ण एकाग्र हो जाता है। इस अवस्था में ध्याता, ध्येय, ध्यान क्रिया का भी बोध नहीं रहता है। यह अवस्था योग की उच्चावस्था अर्थात समाधि की अवस्था होती है।

सामान्यतः व्यक्ति चेतना के चेतन, अचेतन एवं अचेतन तीनों तत्वों की समग्रता की अभिव्यक्ति को चित्त कहते हैं। यद्यपि वेदान्त में चित्त को विभिन्न अर्थों में स्वीकारा गया है। फिर भी यहाँ पर उसे व्यष्टि चेतना के अर्थ में ही लिया गया है। चित्त के तीन सोपान माने गये हैं जिन्हें इन्द्रिय चेतना अथवा वस्तुनिष्ठ चेतना, आत्मनिष्ठ चेतना तथा शुद्ध चेतना अथवा मन की अचेतन अवस्था कहा गया है।

चित्त और आत्मा मिलकर जीवात्मा बनती है, जीवात्मा को हम व्यष्टि चेतना कहते हैं। यदि आत्मा को चित्त से अलग कर दे तो जो सर्वोच्च चेतना शेष रहेगी वही चेतना आत्मा कहलायेगी।

सांख्यशास्त्र– प्रकृति का पुरुष से संयोग होने पर अचेतन प्रकृति चेतन चित्त मे व्यक्ति के स्तर पर परिवर्तित हो जाती है। अब यह कहना उचित होगा कि मानव मात्र में जो चेतना का विस्तार है वह चित्त के कारण ही है।

चित्त त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणी प्रकृति से जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं वह सभी त्रिगुणात्मक होते हैं। सत, रज, तम इन तीनों गुणों का प्रभाव क्रमषः हमारे शरीर पर पड़ता ही रहता है। प्रधान प्रकृति साम्यावस्था की प्रथम विकृति है बुद्धि $\rightarrow$ अहंकार $\rightarrow$ मन विकृति है। इन तीनों का समुच्चय है चित्त का उद्गम अन्तिम तत्व आकाश से हुआ है। अतः वह वायु से भी सूक्ष्म व श्रेष्ठ है। वायु प्रकृति का चतुर्थ तत्व है। चित्त की अपेक्षा वह स्थूल एवं निम्न कोटि का है।

चित्त स्वभावतः जड़ है, परन्तु पुरुष के सम्पर्क के कारण चित्त उसके प्रकाश से प्रकाशित रहता है और सचेतन प्रतीत होता है। निर्मल होने के कारण उसमें आत्मा का प्रकाश पड़ता है। जिससे उसमें चेतनता का आभास होता है। जब किसी विषय से उसका सम्बन्ध होता है तब विषय का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण वह विषयाकार प्रतीत होता है।

चित्त में जीव के जन्म जन्मान्तरों के संस्कार एकत्रित रहते हैं। जब तक चित्त क्षीण नहीं होता तब तक अनादि संसार वासनाक्षय को प्राप्त नहीं होता । हजारों जन्मों के संस्कारों से चित्त भरा होता है इसलिऐ चित्त को जीतना सहज नहीं है।

15.5 चित्त की भूमियॉ- जैसा कि योग का अर्थ समाधि ही है और वह युक्ति सिद्ध भी यह चित्त का सर्वभौम धर्म है। अर्थात वह समाधि चित्त की एकाग्र तथा निरुद्ध आदि भूमियों में ही हो सकती है। चित्त की 5 भूमियाँ हैं।

चित्त की पाँच भूमियाँ हैं–

15.5.1 मूढ़ावस्था– मूढ़ावस्था में तमो गुण प्रधान रहता है तथा सत व रजो गुण दबे रहते हैं। यह अवस्था काम, क्रोध, लोभ तथा मोह के कारण उत्पन्न होती है। इस अवस्था में व्यक्ति अज्ञान, अर्धम तथा राग, द्वेष के अन्धकार में पड़ा रहता है। तमो गुण के चेतना सम्मोहित हो जाती है, बुद्धि भ्रस्ट हो जाती है तथा व्यक्ति की स्मृति का नाष हो जाता है। चेतना पूर्ण रुप से आच्छादित हो जाती है। इस अवस्था में व्यक्ति को यह भी ज्ञात नहीं होता है कि उसके साथ क्या हो रहा है। इस अवस्था व्यक्ति आत्महत्या करने की सोचता है। यह अवस्था सुषुप्त होती है। यह अवस्था नीच मनुष्य की है।

तमो गुण चेतना को सम्मोहित कर देता है या चेतना आषादीप हो जाती है जिससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। विषयों का ध्यान हाने से आषक्ति होती है। आषक्ति विवेक (बुद्धि) को भ्रष्ट कर देती है तब व्यक्ति की जागरुक अवस्था समाप्त हो जाती है और वह मूढ़ हो जाता है।

तमो गुण जब थोड़े रुप में रहता है तब आलस्य मनुष्य को घेरे रहता है। जब तमो गुण ज्यादा होता है तो व्यक्ति को निद्रा सताने लगती है। हम कह सकते हैं कि आलस्य और निद्रा की प्रधानता मूढ़ावस्था का प्रधान धर्म है। इसमें व्यक्ति के सोचने की प्रक्रिया बिल्कुल मन्द पड़ जाती है और कभी–2 पूरी तरह से अवरुद्ध हो जाती है। ऐसी अवस्था में मानसिक निष्क्रियता बड़ी जटिल होती है और सिर दर्द के लक्षण तक दिखाई देने लगते हैं।

15.5.2 क्षिप्तावस्था– मुख्य रुप से रजोगुण प्रधान होता है। तमो गुण और रजो गुण प्रधान तथा सत्व गुण की न्यूनता रहती है। सत तथा तमो गुण दबे रहते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति का ध्यान एक स्थान पर नहीं लग पाता तथा वह अत्यन्त चंचल रहता है। व्यक्ति किसी बात का निर्णय नहीं कर पाता। यह अवस्था साधारण सांसारिक मनुष्य की होती है। जिसकी क्रमबद्धता नहीं होती उसे पागल की संज्ञा दी जाती है। क्षिप्तावस्था में रजोगुण का भारी प्रभाव होता है। इस अवस्था में व्यक्ति की बुद्धि अत्यन्त चंचल रहती है। किसी भी कार्य को व्यक्ति क्रमपूर्वक नहीं कर पाता है। इसी कारण व्यक्ति अत्यन्त चंचल होने से वह चित्त की क्षिप्त भूमि होती है। जहाँ हमें क्रिया का फल तुरन्त चाहिऐ होता है। काम, क्रोध, लोभ और होता है।

क्षिप्तावस्था में चित्त में राग–द्वेष का साम्राज्य रहता है। चित्त सदा अस्थिर रहता है। रजोगुण से अभिभूत सत्व और तमस् में भी यदि सत्व की अधिकता रहती है तो चित्त में धर्म भावना का उदय होता है। लौकिक ज्ञान के साथ कभी–2 परालौकिक ज्ञान की ओर भी चित्त प्रकृत होता है। किन्तु मूलतः रजस की प्रधानता के कारण इन भावनाओं में स्थिरता नहीं रह पाती। यदि सत्व की अपेक्षा तमोगुण प्रभावित हुआ तो व्यक्ति की समस्त वृत्तियाँ अधर्म अज्ञानादि में लग जाती हैं। उस व्यक्ति का ज्ञान यथार्थ के विपरित रहता है।

15.5.3 विक्षिप्तावस्था– यह अवस्था ज्यादा तो सतोगुण से युक्त हुआ करती है। मगर विक्षिप्तावस्था में कोई भी एक गुण प्रधान नहीं रहता है। इसमें तमो गुण की न्यूनता, सतो

गुण के विकास से सम्बन्ध होकर रजो गुण से युक्त हुआ करती है। इस अवस्था में मन परिवर्तित होता रहता है, कभी एक विचार आता है कभी दूसरा विचार आता है, कभी दुःखी कभी सुखी। सतगुण के कारण विक्षिप्तावस्था की स्थिरता आती है। क्योंकि विक्षिप्तावस्था में कभी–2 सतो गुण का उदय रहता है। उस समय तमोगुण और रजोगुण रहते हैं। इस अवस्था में तमोगुण और रजोगुण विक्षिप्तावस्था है।

इस अवस्था में व्यक्ति अपना ध्यान एक स्थान पर लगाना चाहता है लेकिन लगा नहीं पाता है क्योंकि इसमें बाधाऐं उत्पन्न होती हैं। इसलिऐ थोड़ी देर तक ही एकाग्रता कायम रह पाती है। फिर एकाग्रता भंग हो जाती है। इस अवस्था में आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की भावना तो प्रकट होती है, इस अवस्था में साधक धर्म ज्ञान वैराग्य में प्रवृत्त होता है। लेकिन यह कुछ ही क्षणों की स्थिरता होती है। कभी–2 चित्त चंचल हो जाता है और साधक का ध्यान भंग हो जाता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि को छोड़ने पर इस अवस्था में व्यक्ति योग साधना का अभ्यास शुरु कर सकता है।

विक्षिप्तावस्था में तीनों (सत, रज, तम) गुणों का मिलाजुला प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है। जब व्यक्ति में रजोगुण प्रधान होता है तो अन्य दो गुण कुछ दब जाते हैं। उसका मन टूटा, बिखरा रहता है। उसका रुझान हत्या या आत्महत्या करने का होता है। जब सतोगुण उत्पन्न होता है निष्काम कर्म करने तथा राग–द्वेष, काम–क्रोध, लोभ–मोह छोड़ने की प्रवृत्ति होती है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐष्वर्य सत्वगुण की प्रधानता का परिणाम होता है। बहुधा आध्यात्मिक साधकों की प्रवृत्ति कुछ इस प्रकार की होती है, विषेष रुप से जब वे पूजा या अन्तर्मौन के लिए बैठते हैं। एक अच्छे विद्यार्थी की भी कुछ ऐसी ही मानसिक अवस्था रहती है, क्योंकि उसके भीतर भी इन तीनों गुणों (सत, रज, तम) की हलचल चल रही होती है। जब सतोगुण द्वारा व्यक्ति में एकाग्रता आती है तो रजोगुण के झोंके से वह विचलित हो जाती है फिर तमो गुण अपना प्रभाव इस पर डालता है।

15.5.4 एकाग्रतावस्था– सत्व गुण पूर्ण रुप से प्रधान होता है। चिन्तन, मनन करना ही एकाग्रता है। इस अवस्था में सत्वगुण रजोगुण को कम कर देता है। इस अवस्था में सत्व गुण के कारण तमो व रजो गुण का पूर्ण रुप से अभाव पाया जाता है। साधक का चित्त एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है। इसी अवस्था में हम एक विषय पर उचित ढ़ग से चिन्तन मनन कर सकते हैं। क्योंकि इस अवस्था में साधक अपने अस्तित्व को भूल जाता है। साधक का चित्त षान्त हो जाता है। इस अवस्था को विवेक ख्याति भी कहा जाता है। इस अवस्था को हम संप्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। इसमें प्रकृति के सर्वकार्यों (गुण के परिणामों) का पूर्णतया साक्षात्कार हो जाता है।

इस अवस्था में चित्त एक ही विषय में लीन हो जाता है। चित्त स्वंय को समस्त विषयों से हटाकर केवल विषेष विषय में ही लीन हो जाता है। यह चित्त की निर्मल तथा स्वच्छ अवस्था होती है। यह अवस्था तब प्राप्त होती है जबकि अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा समस्त चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा चित्त एक विषय की ओर प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये यह अवस्था समाधि के उपयुक्त है। विवेक ख्याति वृत्ति होने के कारण इसका भी निरोध आवष्यक है। पर वैराग्य के अभ्यास से इसका भी निरोध हो जाता है।

एकाग्रतावस्था में चित्त में धर्म, ज्ञान एवं वैराग्य की प्रधानता रहती है। लौकिक कर्मों में भी चित्त की प्रवृत्ति नहीं रहती। वह निर्मल स्फटिक के समान स्वच्छ रहता है। इसलिऐ इस अवस्था में व्यक्ति को स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक का ज्ञान हो जाता है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि इस अवस्था में बाह्य विषयों से चित्त वृत्ति निरुद्ध रहती है। वृत्तियों के बाह्यपक्ष के ही निरोध के कारण इस स्थिति में चित्त को निरुद्ध न कहकर एकाग्र कहा गया है। एकाग्रतावस्था योग के अनुकूल होती है। यह अवस्था योग साधना में आगे बढ़ने में सहयोग प्रदान करती है। इस अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं जो इस प्रकार से हैं–

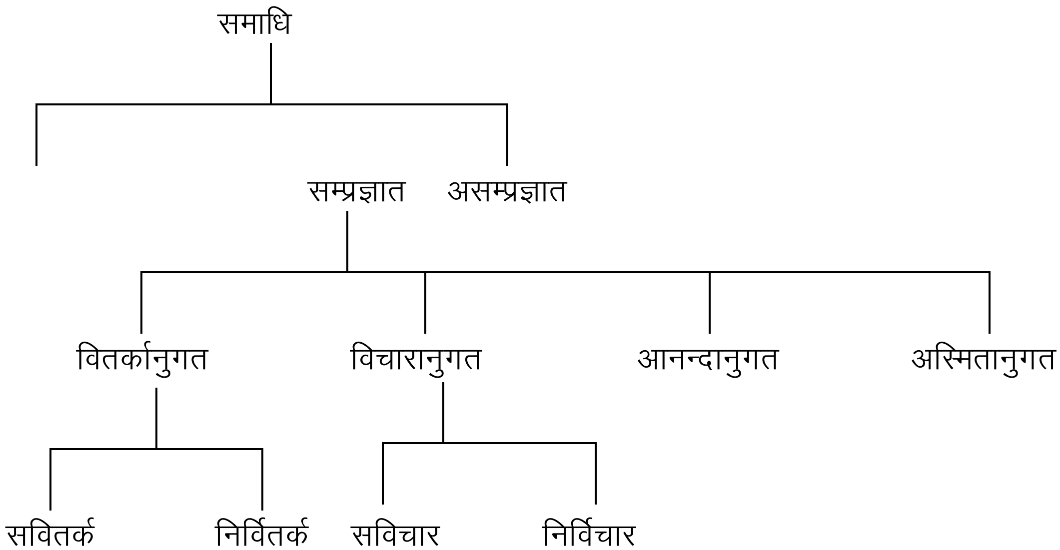

15.5.5 निरुद्धावस्था– यह गुणहीन अवस्था है। योग में एकाग्रता का अभ्यास करते हुए जब व्यक्ति अपने आप पूर्ण रुप से स्थिर हो जाता है तो यह अवस्था निरुद्वास्था कहलाती है। एकाग्रता के बाद भी विवेक ख्याति का परवैराग्य के द्वारा निरोध करने पर निरुद्धावस्था प्राप्त होती है। एकाग्रता में मात्र संस्कार ही शेष रह जाते हैं। ये अवस्था एकाग्रता के अभ्यास से प्राप्त होती है। इसमें एकाग्रता में सत गुण के संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं। निरुद्धावस्था में सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इस अवस्था में सत व रज गुण क्षीण हो जाते हैं। इस अवस्था में साधक का सुख–दुःख के प्रति मोह नहीं रह जाता है तथा प्रकृति व पुरुष का भेद ज्ञात व स्पष्ट हो जाता है। एकाग्र अवस्था में प्राप्त विवेक ख्याति भी चित्त की वृत्ति है तथा यह ख्याति आत्म सत्कार करवाती है। इसलिये पूर्ण निरुद्धावस्था के लिऐ परवैराग्य के द्वारा सभी वृत्तियों का निरोध अति आवश्यक है। इस अवस्था में क्लेश नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। ये ही योग साधना का फल है। यह दोनों ही योग के लिऐ उपयुक्त माने जाते हैं। सतगुण की क्रियाशीलता पूर्णतः समाप्त नहीं होती है। यदि चाहें तो इसे जाग्रत कर सकते हैं।

इस अवस्था में ध्याता ध्येय ध्यान तीनों विषयों का भान समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शान्त अवस्था में आ जाता है। इस अवस्था में किसी प्रकार की वृत्ति न रहने के कारण कोई पदार्थ भी जानने में नहीं आता तथा अविद्या आदि पाँचों क्लेश सहित कर्ममाशय–रुप जन्म–मरण के संस्कार रुपी बीज भी नहीं रहते।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि किसी श्वास समय विशेष में किसी गुण की प्रधानता होती है। तीनों गुण एक साथ प्रधान रुप में प्रभाव डालें ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। सामान्यतः एक प्रधान गुण अन्य दो गुणों को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिये जब मानसिक चंचलता आदि हो और एकाग्र हो पाना कम हो रहा हो तो ऐसी स्थिति

में रजोगुण प्रधान रहता है। इसी प्रकार यदि एकाग्रता और चंचलता कम, नींद और खर्राठे अधिक हों तो मानना चाहिये कि तमो गुण की अधिकता है। यदि एकाग्रता लम्बी हो पा रही हो और निद्रा, आलस्य कम हो तो समझना चाहिये कि सतो गुण का बाहुल्य है।

योग साधना में सफलता के लिये ये आवश्यक है कि साधक उपरोक्त वर्णित तीनों गुणों के निषेधात्मक प्रभावों को मिटाने का हर सम्भव प्रयास करे। साथ ही जो सकारात्मक प्रभाव है उनमें और प्रगति करे एवं उनमें स्थायित्व प्रदान करे। उदाहरण के लिये यदि गुणों का अवलोकन करके यह ज्ञात होता है कि तमो गुण इस समय प्रधान है तो उस समय तमो गुण को समाप्त करने वाले प्रयास करने चाहिये। इससे अन्य गुणों के लाभकारी प्रभाव को विकसित करने में आप सक्षम हो सकेंगे। इसके लिये आप आसन, प्राणायाम आदि योगाभ्यासों को करने में सक्षम हो सकेंगे। शारीरिक श्रम तमो गुण का दुश्मन होता है। यह तमो गुण के अस्तित्व को समाप्त करता है।

यदि रजोगुण योग साधना में या दैनिक जीवन के कार्यों में अस्थिरता ला रहा है, व्यक्ति एक क्षण के लिये भी स्थिर नहीं हो पा रहा है, उसके मन में एकाग्रता नहीं आ पा रही है तो इसके लिये मंत्र जप एवं भक्ति योग का मार्ग अपनाना अति लाभकारी रहता है। इनसे रजोगुण दबता है। इसी प्रकार सतोगुण की प्रबलता के लिये खान–पान, सत्संग, स्वाध्याय, धारणा आदि योगाभ्यासों को करना उचित रहता है। योग साधना में उन्नति व उचित जीवन शैली यापन करने के लिये ये अभ्यास बहुत ही उत्तम एवं प्रभावपूर्ण अभ्यास है। इसका पूरा–2 लाभ व्यक्ति को उठाना चाहिये।

15.6 चित्त की अवस्था

15.6.1 जाग्रत अवस्था (बहिश प्रज्ञा)–

इसमें रजो गुण प्रधान रहता है। रजो गुणों के कारण तमो और सत्व गुण दबे रहते हैं। रजो गुण के प्रधान रहने के कारण चित्त इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों के सम्पर्क में आ पाता है। इसे बहिष प्रज्ञा अवस्था भी कहा जाता है।

व्यक्ति का चाहा हुआ जो कार्य पूर्ण नहीं होता है उसका फल रह जाता है। उसका संस्कार व्यक्ति के अन्दर जात है। जैसे बाहर की जानकारी से उस पुरुष का जो स्वरुप हो जाता है वह बाह्य स्वरुप है। दिन के समय जाग्रत अवस्था में स्वप्न देखना बहिष प्रज्ञा अवस्था कहलाती है।

15.6.2 स्वप्न या अन्तः प्रज्ञा अवस्था–

यह तमो गुण प्रधान अवस्था है। रजो तथा सत्व गुण दबे रहते हैं। सामान्य रुप से चित्त बाह्य विषयों के सम्पर्क में नहीं रहता है, लेकिन रजो गुण के सूक्ष्म रुप में क्रियाषील रहने के कारण चित्त में स्मृति के संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं। रात के समय स्वप्न देखना जिसमें किसी चीज की कोई भागीदारी नहीं होती है। only for personaly remaind. हम दिन में जो भी कार्य करते हैं कुछ बातें या संस्कार हमारे अन्दर रह जाते हैं वह बातें परी नहीं होती हैं, उनके संस्कार हमारे अन्तःकरण या चेतना से जुड़े रहते हैं और वे संस्कार एकत्रित होते रहते हैं। हम चेतना की जाग्रत अवस्था में उसका स्वप्न देखते हैं। इसमें चेतन की अन्तः प्रज्ञावस्था होती है।

15.6.3 सुषुप्ति या प्रज्ञा धन अवस्था–

तमो गुण विद्यमान रहता है रजो और सत्व गुण दबे रहते हैं। इस अवस्था में किसी भी विषय का किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता है। यह निन्द्रावृत्ति की अवस्था रहती है। जब

व्यक्ति न जाग्रत और न ही स्वप्न की अवस्था में ही हो ऐसी अवस्था में हमारे शरीर के साथ क्या हो रहा है? हम ऐसी अवस्था में अपने आप को भूल जाते हैं। चेतना हीन हो जाती है। इस समय हमारे अन्दर तमो गुण प्रधान रहता है। इस स्थिति में चेतना का तमो गुण के कारण चेतना भंग हो जाती है। जाग्रत व स्वप्न की अवस्था में बिना किसी अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। अनज्ञा या प्रज्ञाधान अवस्था तमो गुण के कारण होती है।

15.6.4 तुर्यावस्था या समाधि–

सत गुण प्रधान रहता है और ध्याता, ध्येय और ध्यान एक हो जाते हैं। इसे हम समाधि की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में हम समाधि में लीन हो जाते हैं तथा ध्यान, धारणा, ध्येय से सब एक हो जाते हैं। यह अवस्था तुर्यावस्था से उत्पन्न होती है। योग का मुख्य उद्देष्य समाधि या तुर्यावस्था को पाना या वहाँ तक पहुँचना है।

योग इन तीनों (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) अवस्था से होते हुये समाधि तक पहुँचाता है यही योग का मुख्य उद्देष्य है।

चित्त की भूमि– चित्त की भूमि एक मैदान है जिसमें चित्त खेलता है। मन वस्तु के स्वरुप को धारण करता है इस पर चित्त चंचल होता है, हर क्षण में मन की स्थिति बदलती रहती है। कभी सुख–दुःख, कभी ऐसा, कभी वैसा चित्त का जागरुक मान ही भूमि कहलाता है। विषय चित्त के लिये भूमि का कार्य करता है।

15.7 सारांश–

प्रस्तुत इकाई में आपने जाना कि चित्त किसे कहते हैं। चित्त शब्द की उत्पत्ति किस प्रकार से हुई है। प्रस्तुत इकाई में चित्त सम्बन्धी समस्त जानकारी देने का प्रयास किया गया है। साथ ही हमें ये भी पता चलता है कि चित्त की व्यक्ति विषेष के जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका है। केवल वर्तमान जन्म ही नहीं पूर्व जन्म एवं भविष्य के जन्म भी चित्त से प्रभावित रहते हैं। चित्त और संस्कार का जो सम्बन्ध है वह बहुत गहरा सम्बन्ध है। योग के अभ्यास द्वारा बड़ी लगन एवं परिश्रम से साध कइस सम्बन्ध को तोड़ने में सफल हो पाता है। चित्त की बदली स्थिति व्यक्ति को विषयों में निरंतर उलझा के ही रखती है। व्यक्ति का अन्तःकरण उसके बाह्य स्वरुप से बिल्कुल अलग होता है। उसे जानना परम् आवष्यक है, उसे जाने बगैर योग साधना में व्यक्ति आगे नहीं बढ़ सकता है।

अतः हम कह सकते हैं कि योग मार्ग में आगे बढ़ने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिये ये आवष्यक है कि वह अपने बाह्य ही नहीं बल्कि अन्तः व्यक्तित्व को भी पहचाने और उससे परिचित होकर उसको योगानुरुप स्वरुप देने का प्रयास करे। प्रस्तुत इकाई में इसी परिचय को देने का प्रयास किया गया है।

15.8 शब्दावली

सृष्टि	–	संसार
क्षीण	–	कमजोर
अस्थिरता	–	चंचलता
निष्काम	–	इच्छा रहित
अन्तर्मौन	–	इन्द्रियों को भीतर से शान्त करना, ताकि कोई विचार भी मन में न उठे
विचलित	–	हलचल युक्त
रुझान	–	मानसिकता

परिवर्तित	–	बदलाव युक्त
सुषुप्ति	–	सोया हुआ
त्रिगुणात्मक	–	तीन गुणों से युक्त (सत, रज, तम)
विद्यमान	–	उपस्थित

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हठप्रदीपिका – स्वात्माराम सूरी
2. योगविज्ञान – विज्ञानानंद सरस्वती
3. कुण्डलिनी योग – सत्यानंद सरस्वती
4. Kundalini – Pandit Gopi Krishna
5. Kundalini for Beginners – Dr. Ranvindra Kumar

15.10 निबंधात्मक प्रश्न

(1) चित्त क्या है? इसका विस्तार से वर्णन करें।
(2) चित्त की अवस्थाओं को विस्तार से समझाऐं।
(3) चित्त की भूतियों का विस्तार से वर्णन करें।
(4) चित्त शब्द की उत्पत्ति और चेतना से इसके सम्बन्ध को विस्तार से समझाऐं।
(5) योग साधना में चित्त की भूमिका को स्पष्ट करें।
(6) चित्त की व्यक्ति के जीवन में क्या भूमिका है? स्पष्ट करें।
(7) सामान्य व्यक्ति के चित्त एवं एक योगी के चित्त में क्या अन्तर है? विस्तार से समझाऐं।
(8) चित्त में गुणों का क्या महत्व है?
(9) प्रकृति से चित्त के सम्बन्ध को समझाऐं।
(10) मन और चित्त में क्या अन्तर है? समझाऐं।

इकाई 16 चित्त वृत्ति

16.1 प्रस्तावना
16.2 उद्देश्य
16.3 वृत्ति
16.4 वृत्ति की श्रेणियां
16.5 वृत्ति के प्रकार
  16.5.1 प्रमाण वृत्ति
  16.5.2 विपर्य वृत्ति
  16.5.3 विकल्प वृत्ति
  16.5.4 निद्रा वृत्ति
  16.5.5 स्मृति वृत्ति
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
16.9 निबंधात्मक प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

योग दर्शन महर्षि पतंजलि जी द्वारा रचित बहुत ही सम्मानित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का एक–एक सूत्र अपने आप में बहुत गुढ़ता को सिमेटे हुए हैं। यह योगाभ्यासी के लिये एक आदर्श मार्ग दर्शक का कार्य करता है। योग दर्शन राज योग साधना का मुख्य मार्ग बताता है। इसके प्रारम्भं में ही महर्षि ने साधक के मन और मन से भी सूक्ष्म साधक के चित्त की बात कही है जिसमें उन्होंने चित्त की समस्त गतिविधियों को वृत्तियों से प्रभावित हुआ बताया है। विषय की जानकारी से पूर्व स्वभाविक है कि पाठक के मन में विषय को लेकर अनेक शंकाऐं हो। इस इकाई को पढ़ने के बाद विषय सम्बन्धि समस्त शंकाओं का समाधान सम्भव होगा। पाठक जान पायेंगे कि–

वृत्तियों क्या होती है?

वृत्तियों क्यों उत्पन्न होती है?

वृत्तियाँ कितने प्रकार की होती है ?

योग साधना में वृत्त्यिाँ किस प्रकार से बाधक हो सकती है हम पहले भी इसकी चर्चा कर चुके हैं कि–

महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुये का है योगस्य चित्त वृत्ति निरोधः अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। सूत्र के अर्थ को ठीक रूप में समझने के लिये चित्त, वृत्ति एवं निरोध तीनों को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रस्तुत इकाई में वृत्ति को ही विस्तार से समझाया जा रहा है। जिसे पढ़ने के बाद इस विषय से सम्पूर्ण जानकारी आप को प्राप्त होगी। वृत्ति का वर्णन इस प्रकार से है–

16.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप जान पायेंगे कि–

- चित्त वृत्ति क्या होती है ?
- चित्त वृत्ति को इस नाम से क्यों जाना जाता है ?
- चित्त वृत्ति स्वभाव से कितने प्रकार की होती है ?
- योग में वृत्ति के कितने भेद बताये गये है ?
- प्रमाण वृत्ति के कितने भेद बताये गये है ?
- झूठा ज्ञान किस प्रकार से चित्त में हलचल उत्पन्न करता है ?
- सुनी–सुनाई बातें किस प्रकार से चित्त को अस्थिर करती है ?
- नींद को वृत्ति किस प्रकार से बताया गया है ?
- पुरानी बातें जब पुनः वर्तमान में दोहराई जाती है तो किस प्रकार चित्त विक्षिप्त हो जाता है।

16.3 वृत्ति –

नामकरण– वृत्ति शब्द वृत्त वर्तने धातु में 'ति' प्रत्यय लगने से बना है। जिसका अर्थ है– बर्ताव करना या घुमना।

चित्त जो बर्ताव करता है या कार्य करता है वह सब वृत्तियों का रू‍प ले लेती है। जिस प्रकार जल में बर्तुलाकार गोल–गोल लहरें उठती है ठीक उसी प्रकार चित्त में भी एक के बाद एक वृत्तियाँ उठती है। चित्त कुछ न कुछ विचार, कल्पना आदि करता रहता है। इन सभी को वृत्तियाँ कहते है। हमारा चित्त सदैव ही चंचल रहता है जब यह बाह्रय विषयों के सम्पर्क में आता है तो हलचल या परिणाम उत्पन्न होते है। इन्हीं परिणामों को वृत्तियाँ कहते है। इन्द्रियों का विषय से सम्पर्क होना इसका मुख्य कारण रहता है।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती है–

1. कर्मेन्द्रियाँ
2. ज्ञानेन्द्रियाँ

कर्मेन्द्रियाँ– हाथ, पैर, मुख, गुदा, जननेन्द्रियाँ
ज्ञानेन्द्रियाँ– आँख, कान, नाक, जिहवा, त्वचा
विषय– आँख का विषय है रूप
कान का विषय है शब्द
नाक का विषय है गन्ध
जिहवा का विषय है रस
त्वचा का विषय है स्पर्श

इन्द्रियों का स्वभाव ही होता है कि वे अपने विषयों की ओर होती है। यह आकर्षण मन में हलचल उत्पन्न कर उसके अनुरूप कार्य करने के लिये प्रेरित करता है।

16.4 वृत्ति की श्रेणियां—

चित्त में उठने वाली इन हलचलों को ही वृत्ति के रूप में जाना जाता है। जिस प्रकार बाह्रय विषय असंख्य है परन्तु फिरभी उनको समझने के लिये महर्षि पतंजलि ने इन्हें श्रेणियों में विभक्त किया है। उन्होंने कहा है कि —

वृत्तयः पन्चतययः क्लिष्टाक्लिष्टाः (1/5 पा0यो0सू0)

अर्थात— पाँच प्रकार की वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद वाली होती है।

व्याख्या— प्रमाण आदि पांच प्रकार की वृत्तियाँ बताई गई है।ये पांच वृत्तियाँ स्वभाव से दो प्रकार की होती है। एक जिनसे व्यक्ति कष्ट का अनुभव करता है दूसरा जिनसे व्यक्ति कष्ट का अनुभव नहीं करता है। पहली वृत्ति को क्लिष्ट तथा दूसरी वृत्ति को अक्लिष्ट कहते है। क्लिष्ट अर्थात कष्ट उत्पन्न करने वाली। अक्लिष्ट यानि जिनसे कष्ट का अनुभव नहीं होता हैं।

उदाहरण रूप में हम इस प्रकार से समझ सकते हैं जब हम अपनी पसन्द की वस्तु को देखते हैं तो प्रसन्न होते है मन में प्रसन्नता की लहरें दौड़ने लगती है। हमारे चेहरे में चमक आ जाती है। अर्थात इस घटना से पता चलता है कि इससे हमें सुख मिला तो ये अक्लिष्ट वृत्ति हुई। यदि हम कोई दुर्घटना देख लेते हैं जो कि हमें अच्छी नहीं लगती तो हमारा मन दुखी हो जाता है तो हम परेशान व उदास हो जाते है। तो ये क्लिष्ट वृत्ति हुई क्योंकि इससे हमें कष्ट पहुँचा। दोनों घटनाओं में देखने का ही काम हुआ है परन्तु एक से प्रसन्नता हुई तो दुसरी घटना से दुखानुभूति हुई। आइये क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों के बारे में विस्तार से जानें—

क्लिष्ट वृत्तियाँ (दुख उत्पन्न करने वाली) —

इनमें रजस तथा तमस गुण प्रधान होते है। ये मनुष्य को विवेक ज्ञान से दूर ले जाती है। ये वृत्तियाँ ही पंच क्लेशों को उत्पन्न करती है। अविद्या, स्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश क्लेश ये सब क्लिष्ट वृत्तियाँ दुख और भौतिक सुख दोनों पैदा करती है इन्हीं वृत्तियों के द्वारा सम्पूर्ण संसार चक्र भी चल रहा हैं ये वृत्तियाँ अधर्म तथा वासनाओं को उत्पन्न करती है। तथा प्रत्येक व्यक्ति इन्हीं वृत्तियों के कारण ही अशान्त दुःखी व भ्रमित रहता हैं क्लिष्ट वृत्तियों का अर्थ है क्लेशपूर्ण वृत्तियाँ। ये वृत्तियाँ अधर्म और वासनाओं को उत्पन्न करती है। इन्हीं वृत्तियों के कारण संसार चक्र में फैला हुआ व्यक्ति इन वृत्तियों से बाहर निकलने का प्रयास भी नहीं करता है।

अक्लिष्ट वृत्तियाँ(सुख देने वाली) —

ये सत्व गुण की प्रधानता वाली वृत्तियाँ होती है अक्लिष्ट का अर्थ है क्लेश रहित या क्लेशों को कम करने वाली। क्लेशों को नष्ट करने वाली वृत्तियों को अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहा गया है। ये वृत्तियाँ पांच क्लेशों को नष्ट करने वाली होती है तथा जन्म मरण के चक्र से मुक्ति प्रदान करने में सहायक होती है जो दुःख का नाश करने में सहयोगी होती है ये वृत्तियाँ योगी को विवेक ख्याति की ओर अग्रसर करती है। अर्थात क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह को समाप्त करने वाली वृत्तियाँ ही अक्लिष्ट होती है।

अभ्यास तथा वैरागय की कमी से क्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह बढ़ता रहता है तथा अक्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह कम होता रहता है। अर्थात अभ्यास तथा वैरागय के निरंतर दीर्धकालीन अभ्यास से ही साधक अक्लिष्ट वृत्तियों का प्रवाह को बढ़ाने व क्लिष्ट वृत्तियों को के प्रवाह को कम करने में सफल हो सकेगा।

विवेकख्याति के द्वारा ही क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध हो सकता है परन्तु विवेकख्याति भी चित्त की एक वृत्ति हैं। आखिरकार है तो वृत्ति भेले ही वह अक्लिष्ट वृत्ति ही क्यों न हो वह कुछ न कुछ तो दुःख उत्पन्न करेगी। अतः इसका निरोध भी आवश्यक है बिना इसके निरोध के निर्बीज समाधि प्राप्त नहीं हो सकती है।

जब सद्गुरू के उपदेश आदि से पुरूष अध्यात्म मार्ग की ओर जाता है तो विवेक ख्याति को उत्पन्न करने वाली वृत्तियाँ चित्त में उभरने लगती है इन्हीं वृत्तियों को अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहा गया हैं। इन वृत्तियों से पांच क्लेशों का नाश होता है ये वृत्ति कम दुःख देती है जिनसे प्राप्त दुःख स्पष्ट नहीं होता है लेकिन अक्लिष्ट का अर्थ है पूर्ण क्लेश रहित परन्तु कोई भी वृत्ति ऐसी नहीं है। थोड़ा सा क्लेश तो प्रत्येक वृत्ति में अवश्य ही रहता है। इसलिये इन्हें अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहते हैं। इन अक्लिष्ट वृत्तियों का अनावश्यक होने के कारण इसका भी निरोध परवैराग्य के द्वारा किया जाता है। समस्त वृत्तियों का निरोध की अवस्था असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि कहलाती है। इन दोनों वृत्तियों का निरोध योगाभ्यास के द्वारा किया जा सकता है। इन दोनों प्रकारों की वृत्तियों का निरोध होना ही योग है।

16.5 वृत्ति के प्रकार –

इन वृत्तियों को पांच भागों में बांटा गया है।

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः (1/6 पा0यो0सू0)

इस सूत्र में महर्षि पतंजलि ने यह स्पष्ट किया है कि हमारे चित्त में जो वृत्तियाँ समय–समय पर उठती है तथा सदैव ही चित्त को चलायमान रखती है वो कुल मिलाकर 5 प्रकार की होती हैं।

प्रमाण –सच्चा ज्ञान
विपर्यय –झूठा ज्ञान या गलत ज्ञान
विकल्प –केवल काल्पनिक
निद्रा –गहरी नींद
स्मृति – पूर्व अनुभव के आधार पर

यहां पर पातंजलि ने स्मृति को भी एक वृत्ति बता दिया क्योंकि उनके द्वारा स्मृति का अर्थ किसी वस्तु के प्रति लगाव से उत्पन्न हुआ स्मृति ज्ञान है। यदि पुरानी कोई वस्तु आपने भोगी है तो स्मृति के द्वारा वह याद मन में आ जाती है और चित्त का व्यापार या चित्त चलायमान होने लगता है। इस चित्त व्यापार के कारण साधक अपने सही लक्ष्य पर नहीं पहुंच पाता, स्मृति के कारण किसी दूसरे का आभास करके योग के मार्ग से विचलित हो जाता है। इसलिये पतंजलि ने स्मृति को वृत्ति की श्रेणी में रखा।

16.5.1 प्रमाण वृत्ति –

इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त वास्तविक ज्ञानसे चित्त में उत्पन्न हुई वृत्तियों को प्रमाण वृत्ति कहते हैं। प्रमाण इन्द्रियों के ज्ञानसे जुड़ा है या जिस वृत्ति से सत्य का ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रमाण कहते है। इसके तीन प्रकार हैं –

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि (1/7 पा0यो0सू0)

1. प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति –

प्रत्यक्ष– प्रति+अक्ष अर्थात आंख के सामने

हमारा चित्त इन्द्रियों के माध्यम से बाह्रय विषयों के सम्पर्क में आकर जो ज्ञान प्राप्त करता है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति कहते है। चित्त की इस प्रकार की वृत्ति को प्रत्यक्ष

प्रमाण वृत्ति कहते है। या इन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्राप्त कर चित्त की वृत्ति पैदा होती है या इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान अनुभूति को प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति कहते हैं।

प्रत्यक्ष उसे कहते है जो चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा रंग और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्य ज्ञान उत्पन्न हो। जैसे– दूर से देखने पर सन्देह हुआ कि वह मनुष्य ही है या खम्बा है, जब हम उसको समीप से देखते है तो प्रत्यक्ष रूप से हमें निश्चिय होता है कि वह मनुष्य ही है। इन्द्रियों के द्वारा भी सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। अतः यहां प्रत्यक्ष ज्ञान होने से यह प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति है। प्रत्यक्ष ज्ञान मन व चित्त को सीधा प्राप्त नहीं होता वह भी इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होता है। तथा सामान्यतः मनुष्य के चित्त वे मन को इन्द्रियों की मध्यस्ता के बिना सीधा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है क्योंकि सीधा ज्ञान प्राप्त करना ऊँची अवस्था में पहुचे योगी को ही सम्भव हो पाता है।

अनुमान प्रमाण वृत्ति – अनु+मान अर्थात किसी अन्य के आधार पर अंदाज लगाना। प्रत्यक्ष के आधार पर वास्तविक अनुमान लगाना या लिंग ज्ञान के द्वारा जो वृत्ति उत्पन्न होती है वो अनुमान प्रमाण वृत्ति होती है।

किसी पूर्व द्रव्य पदार्थो के चिन्ह देखने से हमें उसी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है जैसे धुंएँ को देखकर आग का अनुमान लगाना कि दूर पहाड़ी पर आग लगी है। क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से देखे गये धुए से यह ज्ञान प्राप्त करता है कि पहाड़ पर आग लगी है। क्योंकि हम जानते है कि आग और धूंए में व्याप्ती सम्बन्ध है। इस प्रकार पुरूष को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह उसे अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है। इस वृत्ति को अनुमान प्रमाण वृत्ति कहते है। लेकिन इस वृत्ति से चित्त को यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता कि वहां पर आग किस कारण से लगी है तथा कितनी दूर तक फैली है इत्यादि इस प्रकार की बातों का ज्ञान उसे अनुमान प्रमाण वृत्ति से नहीं मिलता है।

उदा0– जैसे किसी नाले में किचड़ युक्त जल को देखकर हम यह कह सकते है कि ऊपर की ओर कहीं किसी जगह बरसात हुई थी। यह अनुमान वृत्ति के द्वारा सोचा गया है।

उदा0– नदी में बाढ देखकर दूर देश या शहर में बारिश या बाढ़ का ज्ञान होता है।

इन सभी उदाहरण में प्रत्यक्ष रूप धूआं, नाले का पानी, नदी का पानी है जिसके आधार पर अनुमान लगाया गया कि कहीं दूर बारिश या बाढ़ आई है।

अनुमान प्रमाण के प्रकार –

पूर्ववत् अनुमान – पूर्ववत् अनुमान वह अनुमान होता है जिसमें ज्ञात के आधार पर अज्ञात कार्य का अनुमान किया जाता है। जैसे–

1– आकश में बादल को देखकर वर्षा का अनुमान लगाना

2–वर्षा का न होना देखकर भविष्य के फसल के नष्ट होने का अनुमान लगाना।

शेषवत् अनुमान – शेषवत् अनुमान वह अनुमून होता है जिसमें ज्ञात कार्य के आधार पर अज्ञात कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे–

1. प्रातः चारों ओर पानी जमा देखकर रात में वर्षा के होने का अनुमान लगाना।
2. मलेरियाँ बिमारी को देखकर युनिफिल मच्छर के होने का अनुमान लगाना।
3. किसी विद्यार्थी के कक्षा में प्रथम आने पर उसके परिश्रमी होने का अनुमान लगाना।

सामान्यतोद्रष्ट अनुमान – सामान्यतोद्रष्ट अनुमान पूर्ववत अनुमान एवं शेषवत् अनुमान से भिन्न माना है। यदि दो वस्तुओं को एक साथ देखें तब एक को देखकर दूसरे

का अनुमान करना सामान्यतोद्रष्ट है। हम लोगों में बगुले को देखा है। जैसे ही हम सुनते है कि अमुक पक्षी बगुला है तो इसका अनुमान लगाते है कि वह सफेद होगा। यदि दो व्यक्ति महेश और रमेश साथ–साथ रहते है तो महेश के देखकर रमेश के बारे में अनुमान लगाया जा सकता है कि वह कैसा होगा। इसे सामान्यतोद्रष्ट अनुमान कहते हैं।

आगम प्रमाण वृत्ति–

नामकरण– आ+गम अर्थात आना। वेदशास्त्र और यथार्थ वक्ता पुरूषों के वचन को आगम कहते हैं। जो प्रमाण मनुष्य के अन्दर और इन्द्रियों के समग्र नहीं है। जहां अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। ऐसे शब्दों को सुनकर चित्त में उत्पन्न हुई वृत्ति को आगम प्रमाण वृत्ति कहते है। शब्द, ग्रन्थ और आप्त ये तीनों प्रमाण आगम के अन्तर्गत आते हैं।

1. शब्द प्रमाण– जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का निश्चय कराने वाला है।

जैसे– ज्ञान से मोक्ष होता है। यह शास्त्रों का उपदेश शब्द प्रमाण का उदाहरण है। तथा यह वेद का सुक्त है कि जो स्वर्ग पाना चाहता है वह यज्ञ को इस प्रकार करे।

जो प्रत्यक्ष या अनुमान से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे व दूसरे पुरूषों को भी यथार्थ कहने की इच्छा करता है उसे आप्त पुरूष कहते है। उनके द्वारा जो वाक्य कहा जाता है वह आप्त वचन कहलाता है ऐसे आप्त पुरूषों के वचन से चित्त में उत्पन्न हुई वृत्ति को आप्त प्रमाण वृत्ति कहते है।

पूर्वजों या परम्पराओं के आधार पर प्राप्त ज्ञान आगम प्रमाण है। जिन विषयों का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा प्राप्त नहीं हो पाता उनके लिए हम आगम प्रमाण का सहारा लेते है। आप्त वचनों में वे ही वाक्य प्रमाणित माने गये है जो ईश्वर वाक्य है। अर्थात जिनका मूल तत्व ईश्वर है। इनके अलावा सभी वाक्य अप्रमाणिक माने जाते है।

इस प्रकार प्रमाण के तीनों ज्ञान प्राप्त करने के माध्यम प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम हमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने में सहायक नहीं होते है तथा यही बात यहां पर महर्षि पतंजलि ने कहने का प्रयास किया है । इन तीनों साधनों से हमारे चित्त में उत्पन्न हुई वृत्ति को प्रमाण वृत्ति कहते है

प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण एवं शब्द प्रमाण वृत्ति भी अपने स्वभाव से क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार की होती है। जिसे इस प्रकार से समझा जा सकता है–

1. क्लिष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति–

जब व्यक्ति को विषय का प्रत्यक्ष करके कष्ट पहुँचे तो उसे क्लिष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति कहते है। जैसे– जीव की हत्या होते देखना।

2. अक्लिष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति–

जब व्यक्ति को विषय का प्रत्यक्ष करके प्रसन्नता व सुख मिले तो उसे अक्लिष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति कहते है। जैसे– मंदिरों के दर्शन करके

3. क्लिष्ट अनुमान प्रमाण वृत्ति–

जब व्यक्ति को पूर्व प्रत्यक्ष के आधार पर कुछ ज्ञान प्राप्त करने से कष्ट पहुंचे तो उसे क्लिष्ट अनुमान प्रमाण वृत्ति कहते है। जैसे– नदी के पास किसी की चींख सुनकर उसके डुबने का अनुमान लगाना।

4. अक्लिष्ट अनुमान प्रमाण वृत्ति– जब अनुमान द्वारा मन में प्रसन्नता का भाव जाग्रत हो, योग मार्ग की ओर ग्रसित होने का भाव जाग्रत हो तो वह अक्लिष्ट अनुमान प्रमाण वृत्ति होती है। जैसे– समस्त तत्वों में चेतना के अस्तित्व को समझना।

5. क्लिष्ट आगम प्रमाण वृत्ति–

जब आप्त पुरूषों द्वारा लौकिक जानकारी मिलती है जो कि बन्धन में बाँधने का कार्य करती है तो उसे क्लिष्ट आगम प्रमाण वृत्ति कहते है। जैसे– भोग–विलास युक्त कथानको को सुनना।

6. अक्लिष्ट आगम प्रमाण वृत्ति–

जब शब्दों द्वारा अध्यात्मिक प्रवृत्ति जाग्रति का मार्ग प्रशस्त हो तो उसे अक्लिष्ट आगम प्रमाण वृत्ति कहते है। जैसे– रामायण, भागवत पुराणों को सुनना।

16.5.2 विपर्य वृत्ति –

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम् (1/8 पा0यो0सू0)

विपर्य – अर्थात विपरित ज्ञान, अवास्तविक ज्ञान, मिथ्याज्ञान

इसमें तमस गुण की प्रधानता होती है। तमोगुण के कारण सही वस्तु का ज्ञान न होना मिथ्या ज्ञान है। यही विपर्यय ज्ञान है। अर्थात जो है उसका ज्ञान न होना और जो नहीं है उसका ज्ञान होना ही विपर्यय है। जो प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने है उसे उसी रूप में न देखकर अप्रत्यक्ष रूप में जो हमारे सामने है उसे देखना। ऐसे ज्ञान से चित्त में उत्पन्न हुई वृत्ति को विपर्यय वृत्ति कहते है। क्योंकि इसमें वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।जो ज्ञान वस्तु के यथार्थ रूप को दर्शाता है उसे प्रमा कहते है और जो ज्ञान वस्तु के अयथार्थ रूप को समझाता है उसे अप्रमा कहते है मिथ्या ज्ञान या विपर्यय कहते हैं विपर्यय को अज्ञान नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ ज्ञान तो प्राप्त हो रहा है। इसलिये वह अज्ञान नहीं है बल्कि झूठा ज्ञान है।

मिथ्याज्ञान– तमोगुण के कारण किसी विषय के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन न हो तो उसे मिथ्या ज्ञान कहते है। इस मिथ्या ज्ञान को ही विपर्यय ज्ञान कहते हैं।

जैसे– चाँदनी रात में या रात के अंधेरे में रस्सी को सर्प समझना यानी कि असत्य में सत्य देखना ही मिथ्या ज्ञान है। ठीक इसी प्रकार देह और इन्द्रियों को समझकर उसी में आत्मदर्शन करना ही मिथ्या ज्ञान है। इसी मिथ्या ज्ञान को विपर्यय ज्ञान कहते हैं। पातंजलि ने विपर्यय ज्ञान को अविद्या कहा है। मिथ्याज्ञान में अविद्या ज्ञान पदार्थ का प्रकाशन होता है।

उदा0– कभी–कभी ऐसा होता है कि हम अंधेरे में पेड़ को देखने से उनकी आकृति किसी राक्षस जैसी प्रतीत होती है तथा हम डर जाते है। इस प्रकार का विपरित ज्ञान विपर्यय वृत्ति है।

जिन इन्द्रियों से हमें प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है इन्हीं से कभी–कभी हमें विपरित ज्ञान भी प्राप्त होता है। तथा उसी मिथ्याज्ञान से उभरने के लिये ये योग विद्या है। विपर्यय को अविद्या भी कहते हैं। जब तक मनुष्य देह इन्द्रियों आदि तत्वों को आत्मा समझता रहता है तब तक वह अविद्या में डूबा रहता है। अनुमान तथा आगम भी विपर्यय ही उत्पन्न करते है। अधिकांशतः हमारा चित्त प्रमाण वृत्ति में रहता है तथा उससे कम विपर्यय वृत्ति में, उससे कम निद्रा वृत्ति में, सबसे कम विकल्प वृत्ति, उससे कम स्मृति वृत्ति में रहता है।

मतद्रूप प्रतिष्ठम्– जो वस्तु जिस रूप में हो उस वस्तु को हम उसी रूप में देखते है उसे तत्प्रतिष्ठत् कहते है। जो ज्ञान वस्तु के यर्थाथ रूप में प्रतिष्ठित रहता है उसे सत्यज्ञान कहते हैं तथा जो ज्ञान उस वस्तु के यर्थाथ रूप में प्रतिष्ठित नहीं रहता है उसे मिथ्या ज्ञान अर्थात विपर्यय कहते हैं।

पातंजल योग प्रदीप में भी कहा गया है कि जो ज्ञान वस्तु के यर्थाथ रूप से कभी न हटकर वस्तु के यथार्थ रूप को ही प्रकाशित करता है व तद्रूप प्रतिष्ठित वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण सत्य ज्ञान, यथार्थ ज्ञान अर्थात प्रमाण कहलाता है। जहाँ वस्तु अन्य हो और चित्तवृत्ति अन्य प्रकार की हो, वहाँ चित्त की वृत्ति उस वस्तु के यर्थाथ रूप में प्रतिष्ठित नहीं होती है। इसलिये वह अतद्रूप प्रतिष्ठित होनेके कारण विपर्यय ज्ञान कहलाता है।जो ज्ञान निज रूप में प्रतिष्ठित नहीं है, वह अतद्रूप प्रतिष्ठित कहा जाता है।

जैसे – सीप में जो सीप का ज्ञान है।
रस्सी में जो रस्सी का ज्ञान है।
चन्द्रमा में जो एक चन्द्र का ज्ञान है।

उपरोक्त सभी निजरूप में प्रतिष्ठित होने से प्रमाण ज्ञान है और जो सीप में चाँदी का ज्ञान, रस्सी में सांप का ज्ञान, एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा होने का ज्ञान। यह ज्ञान अगले काल में होने वाले यथार्थ ज्ञान से बाधीत होनेके कारण निज रूप में अप्रतिष्ठित है।

विपर्यय वृत्ति को ही अविद्या भी कहा जाता है। अविद्या के कारण ही अस्मिता राग, द्वेष, अभिनिवेश क्लेशों की उत्पत्ति होती है। भेद केवल इतना है कि विपर्यय चित्त की वृत्ति है और क्लेश वृत्तियों के संस्कार के रूप में होते हैं।

16.5.3 विकल्प वृत्ति –

शब्दज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो विकल्प (1/9 पा0यो0सू0)

शब्द तथा उस शब्द से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से चित्त में उत्पन्न वृत्ति को ही विकल्प वृत्ति कहते हैं। जबकि यहां पर किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। असत्वमान विषय में केवल शब्द के आधार पर कल्पना करने वाली चित्त की वृत्ति ही विकल्प वृत्ति है। विकल्प के द्वारा किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है इसी कारण इसे प्रमा नहीं कहा जाता तथा यह विपर्यय भी नहीं है। क्योंकि विपर्यय को जानने के पश्चात हम यह जान जाते है कि हम गलत सोच रहे थे। निराधार कल्पना विकल्प वृत्ति है।

अर्थात विकल्प वृत्ति में शब्दों की प्रमुखता होती है इस स्थिति में शब्दों को ही प्रमाण मान लेते हैं। शब्दों से उत्पन्न ज्ञान तथा उसके पीछे चलने का जिसका स्वभाव है जब कि वस्तु उस स्थान पर नहीं होती है। शब्दों को सुनकर जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे विकल्प वृत्ति कहते है। अर्थात शब्दों में खो जाना या उसी के अनुसार कल्पना करना जबकि वस्तु वहां पर शून्य है। और शब्दों के द्वारा असत्य से सत्य का अनुभव करता है। इसमें असत्य और सत्य का विकल्प उत्पन्न होता है। जिसे विकल्प वृत्ति कहते है। यानी वस्तु के न होने पर केवल शब्द को सुनकर ही वस्तु का ज्ञान होना उसे विकल्प वृत्ति कहते हैं। उदा0–आकाश फूल, बन्ध्या का पुत्र, खरगोश के सिंग आदि विकल्प वृत्ति है। यह भी यदि वैराग्य की वृद्धि के लिये योग साधनों में श्रद्धा और विश्वास बढ़ाये तथा आत्मज्ञान में सहायक हो तो आक्लिष्ट अगर सहायक नहीं हो तो क्लिष्ट वृत्ति होगी।
विकल्प वृत्ति में अविद्यमान वस्तु की शब्द ज्ञान के आधार पर कल्पना होती है। यह मिथ्याज्ञान और विकल्प का भेद है।

जैसे– व्यक्ति सुनी सुनाई बातों पर अपनी मान्यत के अनुसार भगवान का एकाग्रता करके ध्यान करता है। परन्तु जिसका वह ध्यान करता है उसे न वो कभी देखता है न वेद शास्त्र में है न भगवान स्वरूप ही वैसा हैं केवल कल्पना मात्र ही है।

यदि विकल्प वृत्ति भगवान का चिन्तन कराती है तो वह अक्लिष्ट है। यदि सांसारिक बंधनों में बाँधती है तो क्लिष्ट है।

जैसे– कल्पना में खोया चित्त कभी–कभी सोचता है कि यदि भैंस के पंख होते तो आकाश में उड़ती कैसी लगती तथा यदि गाय काटने लगती तो कैसी लगती। ये सारी क्लिष्ट विकल्प वृत्ति है।

'अह' भी विकल्प वृत्ति का ही उदाहरण है। मनुष्य वास्तव में कुछ भी नहीं है लेकिन फिर भी वह स्वयं को सर्वश्रेष्ठ समझता है। इसी कारण ज्ञान से सर्वथा ही दूर रहता है। अर्थात जिसका अस्तित्व असंभव है उनके लिये चित्त में कल्पना करना ही विकल्प वृत्ति कहते हैं।

स्वामी केशवानन्द जी कहते है कि शब्दों और अर्थो का सम्बन्ध एक प्रकार से नित्य सम्बन्ध है, क्योंकि शब्दों के बिना हम किसी वस्तु की कल्पना भी नहीं कर पाते, उसके सम्बन्ध में चर्चा कर पाना या उसका व्यवहार कर पाना तो बहुत दूर की बात है। इसी प्रकार किसी शब्द को सुनते ही हमें वस्तु विशेष का स्मरण अनिवर्यतः होने लगता है, अर्थात अर्थ के बिना हम किसी शब्द का व्यवहार भी नहीं कर सकते। कभी–कभी दो या दो से अधिक शब्द को मिलाकर इस प्रकार बोला जाता है कि वस्तु का कोई अर्थ ही नहीं निकलता, वह केवल कुछ विचित्र कल्पना मात्र रह जाती है, जैसे– आकाश फूल, बन्ध्यापुत्र आदि।

16.5.4 निद्रा वृत्ति –

अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा (1/10 पा0यो0सू0)

अभाव– अर्थात तमो गुण की प्रधानता होने के कारण जाग्रत और स्वप्न अवस्था के अभाव का आलम्बन बना लेना ही निद्रा वृत्ति है।

अभाव के ज्ञान का आलम्बन (ग्रहण) करने वाली वृत्ति निद्रा हैं । इस अवस्था में इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का अभाव रहता है। यह सुषुप्ति अवस्था के समान ही है। जिस प्रकार जाग्रत और स्वप्नावस्था में एकेन्द्रिय ज्ञान होते रहते है। ऐसा ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में नहीं होता है। इसलिये हम कह सकते है कि निद्रा नामक वृत्ति सुषुप्ति अवस्था है। इसी को लोक व्यवहार में गहरी निद्रा कहते है। जब निद्रा से उठता है तो व्यक्ति कहता है–

सुखम् हम स्वाप्सम् न किच्चिद वेदिषम्।।

अर्थात सुख से सोया। कुछ भी पता नही था। निद्रा की स्थिति में कोई ज्ञान प्राप्त नहीं होता क्योंकि ये तमो गुण से दबी रहती है। यह स्मृति रूपी ज्ञान है। ज्ञान भाव का न होना भी एक ज्ञान है। और यह दशा निद्रा ज्ञान में होती है। कभी–कभी हम सोकर उठते है और कहते है कि तबियत अकड़ी हुई है। शरीर टूट रहा है। मन आलस्य में है एवं खोया है। तमो गुण से प्रभावित होने पर ऐसी स्थिती होती है। जिस निद्रा में साधक मन में ताजगी और सात्विक भाव अनुभव करता है तो उसे आक्लिष्ट वृत्ति कहते है।ये तमो–गुण वृत्ति है परन्तु कुछ सत्व गुण भी होता है तभी तो व्यक्ति निद्रा अवस्था से जागने पर कहता है कि मैं सुख प्रर्वक सोया। निद्रा चित्त वृत्ति किसी भी वृत्ति से मेल नहीं खाती। ये एक स्वतन्त्र वृत्ति है।

उदा0– जिस प्रकार अन्धकार सभी को छिपा देता है परन्तु स्वयं दिखता है तथा ये प्रतीत करता है कि कुछ भी नहीं है। उसी प्रकार निद्रा में तमो गुण सभी को दबा देता है। तथा स्वयं प्रकाशित रहता है। इसी कारण निद्रा वृत्ति में इन्द्रियों से हमें कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। इस वृत्ति से किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रहता ये बुद्धि का आवरण करने वाली वृत्ति है, जो कि तमस गुण की प्रधानता के कारण है।'जाग्रत स्वप्न सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः' अर्थात- जाग्रत, स्वप्न और निद्रा'– ये गुणों से बुद्धि की वृत्तियां है।

निद्रा में चेतनता अथवा अचेतनता का गुण पाया जाता है। निद्रा मन की एक अवस्था होती है जिसे समझना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है, क्योंकि यदि हम निद्रावस्था को भलि–भाँति जान सके तो समाधि की स्थिति को समझना अत्यन्त सरल हो जायेगा।

निद्रावस्था ऐसी स्थिति होती है जिसमें व्यक्ति को बाह्रय वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता है। गहरी निद्रा में इच्छा, वासना एवं स्वप्न का अभाव रहता है। यह मन की मूर्छावस्था होती है। जो अर्न्तमुखी स्थिति की तरह ही होती है।

निद्रावस्था में इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क टूट जाता है। इस स्थिति में मन न तो देखता है, न सुनता है, न सूंघता है और न किसी वस्तु का स्वाद ले पाता है और ना ही वस्तु को स्पर्श कर पाता है। इस स्थिति में मन के समक्ष कोइ्र वस्तु नहीं रहती, मन की समस्त क्रियाऐं थम जाती है। एकाग्रता युक्त होते हुऐ भी निद्रा तमोगुण से युक्त होने के कारण समाधि में रूकावट उत्पन्न करती है। इसलिये इसका निरोध अत्यावश्यक होता है। निद्रावृत्ति दो प्रकार की होती है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट। जब निद्रा से जाग्रत होने पर सुख एवं प्रसन्नता की अनुभूति होती है तो इसे अक्लिष्ट निद्रा वृत्ति कहते है। और जब नींद से जगने पर थकान, अकड़न और निरूत्साहित सा अनुभव हो तो उसे क्लिष्ट वृत्ति कहते है।

16.5.5 स्मृति वृत्ति –

अनुभूत विषयासंप्रमोषः स्मृतिः (1/11 पा0यो0सू0)

अनुभव के आधार पर हमें विषय का ज्ञान प्राप्त होता है उसी को हम अनुभूत विषय कहते हैं।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा इन चार प्रकार की वृत्तियों द्वारा अनुभव में आये विषयों से जो संस्कार चित्त पर पड़े है उनका पुनः किसी (आवश्यकता पड़ने पर) निमित्त को पाकर स्फुटित होना ही स्मृति है। इसके सिवाय स्मृति वृत्ति से जो संस्कार चित्त पर पड़ते है उनमें भी पुनः स्मृति वृत्ति उत्पन्न होती है।

स्मृति भी दो प्रकार की होती है क्लिष्ट और अक्लिष्ट। जो स्मृति भोगों से वैराग्य, योग साधना में श्रद्धा, उत्साह एवं आत्मज्ञान में सहायक होती है वो अक्लिष्ट वृत्ति होती है। और जो योग साधना में बाधक है या संसार भोग विलास की ओर ले जाती है वे क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं।

जो ज्ञान हमने अनुभव से ग्रहण किया है। उसे कोई भी चुरा नहीं सकता आवश्यकता पड़ने पर वह ज्ञान स्मृति के रूप में हमारे सामने आ जाता है। स्मृति हमेशा ज्ञान विषय की होती है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति के द्वारा चित्त इन्हीं वृत्तियों के आकार वाला हो जाता है। इन्हीं वृत्तियों के संस्कार चित्त पर पड़ते है। फलस्वरूप

स्मृति होती है। वैसी ही वृत्ति उत्पन्न होती है। अनुभव किये हुए विषय की स्मृति करने पर चित्त पर जो वृत्तियां उत्पन्न होती है उसे स्मृति वृत्ति कहते है।

अर्थात चित्त में अनुभव किये गये विषयों का फिर से उतना ही या उससे कम रूप में उभरना ही स्मृति है तथा जब हमारे चित्त में यह स्मृति उभरती है तो उस समय चित्त की जो वृत्ति स्थिति होती है वही स्मृति वृत्ति होती है।

उदा0– बचपन में सिखाये गये अच्छे उपदेश या माता–पिता के द्वारा डाले गये संस्कार को हम स्मृति के द्वारा अपने मन पर अंकित कर लेते है तथा ये संस्कार उपदेश कोई भी चुरा नहीं सकता तथा ना ही ये स्वयं नष्ट हो सकते हैं।

स्मृति में विषय तथा ज्ञान दोनों ही की स्मृति होती है।

स्मृति दो प्रकार की होती है–

1. चेतन स्मृति
2. अचेतन स्मृति

चेतन स्मृति में अनुभव की गई वस्तु का तत्काल स्मरण होता है जबकि अचेतन स्मृति स्वप्न होती है। क्योंकि व्यक्ति जाग्रत नही निद्रावस्था में घटना को याद कर रहा होता है।

अचेतन स्मृति भी दो प्रकार की होती है–

1. काल्पनिक
2. वास्तविक

जब कभी स्वप्न में ऐसे अनुभव होते है ऐसे दृश्य दिखाई देते है जिनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता तो वह काल्पनिक अचेतन स्मृति होती है। परन्तु जब कभी–कभी हमें भूतकाल की कोई घटना स्वप्न में दिखाई देती है जो कि वास्तविक होती है। तो उसे वास्तविक अचेतन स्मृति कहते है। ये वो स्थिति होती है जिनमें भूतकाल की घटनाऐं मानसपटल पर समयावधि के साथ–साथ दब जाती है तो कभी अचानक स्वप्न रूप में दिखाई देने लगती है।

ये सभी पांचों प्रकार की वृत्तियां त्रिगुणात्मक (सत, रज, तमो गुणो से युक्त) होने के कारण सुख दुःख की कारण है तथा मोह उत्पन्न करती है। जो कि क्लेश रूप है। यह मोह ही सभी दुखों का मूल कारण है। इन्हीं वृत्तियों के द्वारा क्लेश रूपी संस्कार पड़ते है। इसी कारण पातंजलि ने कहा है कि ये सभी वृत्तियां त्याजने योग्य है तथा इनका निरोध करना जरूरी है। अन्यथा योग सिद्ध नहीं होगा।

16.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने चित्त की वृत्तियों के बारे में विस्तृत चर्चा करी है। इस इकाई में हमने जाना कि वृत्ति शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई है?

चित्त वृत्तियां क्या होती है?

चित्त वृत्तियों के कितने प्रकार होते है?

वृत्तियां अपने स्वभाव से कितने प्रकार की होती है?

किसी प्रकार की वृत्तियां क्लेश उत्पन्न करती है? और किस प्रकार के वृत्तियां क्लेश उत्पन्न नहीं करती है?

पाँचों प्रकार की वृत्तियों का उदाहरण सहित विस्तृत वर्णन इस इकाई में किया गया है।

अतः हम कह सकते है कि चित्त की वृत्तियाँ योग मार्ग में बाधक है इनका निरोध परम आवश्यक है यह निरोध की स्थिति ही साधक को परम लक्ष्य तक पहुंचाने में सहायक होती है। इसके लिये वृत्तियों से पूर्ण परिचित होना अत्यावश्यक होता है। प्रस्तुत इकाई में पाठकों की शंका का पूर्ण समाधान किया गया है। नये विषय को लेकर पाठकों में होने वाली जिज्ञासा की संतुष्टि प्रस्तुत इकाई से सम्भव है।

16.7 शब्दावली

कर्मेन्द्रियां– वे इन्द्रियाँ जिनके द्वारा कार्य किया जाता है।
ज्ञानेन्द्रियाँ– वे इन्द्रियाँ जिनके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है।
क्लिष्ट – जो क्लेश उत्पन्न करें।
अक्लिष्ट – जो क्लेश उत्पन्न न करें।
प्रतिष्ठित – स्थित
अप्रतिष्ठित – अस्थित
विपर्यय – उल्टा
क्लेश – दुःख
मूर्छा – बेहोशी
तमोगुण – आलस्य
समाधि– स्थिर बुद्धि
अग्रसित – आगे बढ़ना
लौकिक – सांसारिक
विवेक ख्याति –ज्ञान प्राप्ति की उच्च स्थिति

16. 8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

योग प्रभाकर	–	स्वामी केशवानन्द
योग विज्ञान	–	स्वामी विज्ञानन्द सरस्वती
मुक्ति के चार सोपान	–	स्वामी सत्यानन्द
योग दर्शन	–	गीता प्रेस गोरखपुर
पातंजल योगपद्रीप	–	गीता प्रेस गोरखपुर

16. 9 निबंधात्मक प्रश्न

1. वृत्ति से आप क्या समझते हो? इसके अर्थ को स्पष्ट करें।
2. क्लिष्ट–अक्लिष्ट वृत्ति को विस्तार से समझाऐं।
3. चित्त वृत्ति के प्रकारों का वर्णन करें।
4. प्रमाण वृत्ति क्या है? विस्तार से समझाऐं।
5. मिथ्या ज्ञान किस प्रकार से चित्त की वृत्ति है? स्पष्ट करें।
6. शब्द द्वारा चित्त में उठने वाली वृत्ति का विस्तार से वर्णन करें।
7. 'निद्रा' वृत्ति कैसे है? विस्तार से वर्णन करें।
8. स्मृति किस प्रकार योग साधना में बाधक है? स्मृति वृत्ति का विस्तृत वर्णन करें।
9. वृत्ति क्या है? स्पष्ट करते हुऐ महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित वृत्ति के प्रकारों को विस्तार से समझाऐ।

इकाई 17 चित्त वृत्ति निरोध के उपाय

17.1 प्रस्तावना
17.2 उद्देश्य
17.3 महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गए साधक के स्तर
17.4 अभ्यास – वैराग्य
    17.4.1 अभ्यास
    17.4.2 वैराग्य

17.5 सारांश
17.6 शब्दावली
17.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
17.8 निबंधात्मक प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

पुर्व इकाइयों में आपने जाना कि चित्त क्या होता है? चित्त में उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ क्या होती हैं? ये कितने प्रकार की होती हैं? अब आप जानेंगे कि चित्त वृत्ति का निरोध, योग साधना में क्यों आवश्यक है तथा इन्हें किस प्रकार से निरोध किया जाता है। प्रस्तुत इकाई में चित्त वृत्ति निरोध सम्बन्धी समस्त जिज्ञासाओं का आप समाधान प्राप्त करेंगे।

महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है कि–

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः 1/2 पा० यो० सू०

अर्थात– चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।

यहाँ पर चार शब्द हैं– चित्त, वृत्ति, निरोध एवं योग। चित्त अर्थात चेताया हुआ। यह हमारे कर्मों का हिसाब रखने वाला, संस्कारों को इकट्ठा करके रखने वाला कमरा है। जिसे कर्माषय के नाम से भी जाना जाता है। इसके बारे में हम पहले भी विस्तार से जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। वृत्ति अर्थात जिसका स्वभाव बर्ताव करना है। जो निरन्तर बाह्य विषयों के प्रभाव से उत्पन्न होकर चित्त को विक्षिप्त करती है। इसके बारे में हम पूर्व इकाई में विस्तार से जान चुके हैं।

निरोध अर्थात विचारों, दर्शन, श्वासोच्छवास, इच्छाओं का अवरोधन करना। निरोध शब्द को सामान्यतः दमन करने के अर्थ में समझा जाता है। यहाँ पर निरोध शब्द का अर्थ चेतना को अवरुद्ध करने के लिये नहीं बल्कि चित्त की वृत्तियों को रोकने के लिये है।

महर्षि पतंजलि ने चित्त वृत्ति के निरोध को ही योग कहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध किस प्रकार किया जाता है। निरोध करने के ऐसे कौन से उपाय हैं जिनसे समस्त वृत्तियाँ रुक जाती हैं। चित्त निर्मल हो जाता है और समस्त संस्कार जो कि चित्त में जन्म जन्मान्तरों से भरे हुऐ हैं और जिनके कारण जीव जन्म–मरण के चक्रव्यूह में फँसा रहकर भोग भोग रहा है, वे सब समाप्त हो जाते हैं।

17.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप जान पायेंगे कि–

- अभ्यास क्या होता है?
- अभ्यास किस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध करने में सहायक है?
- वैराग्य क्या होता है?
- वैराग्य किस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध करने में सक्षम है?

17.3 महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गए साधक के स्तर

महर्षि ने योग साधना के लिये साधक के स्तर के लिये भी उपाय बताये हैं। उन्होंने तीन स्तर के साधकों का वर्णन किया है, और उन्हीं के अनुरुप साधना भी बताई है, जोकि इस प्रकार है–

(1) उच्च स्तर के साधकों के लिये – अभ्यास वैराग्य
(2) मध्यम स्तर के साधकों के लिये – क्रिया योग
(3) निम्न स्तर के साधकों के लिये – अष्टांग योग

अभ्यास वैराग्य – समस्त वृत्तियों का निरोध करने के लिये दोनों साधनों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। किसी एक के द्वारा निरोध सम्भव नहीं होता है। अभ्यास का अर्थ होता है– क्रिया को बार–2 दोहराना। वैराग्य का अर्थ होता है– राग (आसक्ति) रहित होना। इसे मानसिक तटस्थता की अवस्था कहा जा सकता है।

क्रिया योग – महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गये क्रिया योग में उन्होने तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का वर्णन किया है। उन्होंने ये भी बताया है कि इनके अभ्यास से साधक योग के परम लक्ष्य को प्राप्त करता है।

अष्टांग योग – महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गये अष्टांग योग में 8 अंगों का वर्णन किया गया है। जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इन पांचों बहिरंग साधनों में अभ्यास एवं धारणा, ध्यान, समाधि इन अन्तरंग साधनों में वैराग्य की सिद्धि परमावश्यक होती है।इस प्रकार से हर तरह के साधक जो अपना कल्याण चाहते हैं वे उपरोक्त लिखित साधन विधियों द्वारा योग के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। आइये इन्हें विस्तार से जानें –

17.4 अभ्यास – वैराग्य –

अभ्यास वैराग्य का वर्णन करते हुऐ महर्षि कहते हैं कि–

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (I/2 पा० यो० सू०)

अर्थात– वृत्तियों का निरोध अभ्यास वैराग्य से होता है।

चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने के लिये अभ्यास और वैराग्य ये दोनों उपाय हैं। चित्त वृत्तियों का प्रवाह परम्परागत संस्कारों के बल से सांसारिक भोगों की ओर रहता है। इस प्रवाह को रोकने का उपाय वैराग्य है और उसे कल्याणमार्ग में ले जाने का उपाय अभ्यास है।

वेद व्यास जी द्वारा अभ्यास और वैराग्य को इस प्रकार से वर्णित किया गया है–

चित्त एक नदी है जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ हैं। एक संसार–सागर की ओर तथा दूसरी कल्याण–सागर की ओर बहती है। जिसने पूर्व जन्म में

सांसारिक विषयों के भोगार्थ कार्य किये हैं, उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विषय–मार्ग से बहती हुई संसार–सागर में जा सकती है और जिसने पूर्व जन्म में कैवल्यार्थ काम किये हैं, उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक मार्ग में बहती हुई कल्याण–सागर में जा मिलती है। संसारी लोगों की प्रायः पहली धारा तो जन्म से ही खुली होती है, किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र, गुरु, आचार्य तथा ईश्वर चिन्तन के द्वारा खोला जा सकता है। पहली धारा को बन्द करने के लिये विषयों के स्रोत पर वैराग्य का बन्धन लगाया जाता है और अभ्यास द्वारा दूसरी धारा के प्रवाह को बढ़ाकर विवेक स्रोत में डाल दिया जाता है। तब प्रबल वेग से वह सरा प्रवाह कल्याण रुपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य दोनों मिलकर चित्त की वृत्तियों का निरोध करते हैं।

भारतीय संस्कृति में वैराग्य एक सन्यास की अवस्था कही जाती है। राग, द्वेष से पूर्णतः मुक्त होने की अवस्था को वैराग्य कहते हैं।

तमोगुण की अधिकता से चित्त में निद्रा, निरुत्साह, आलस्य आदि दोष उत्पन्न होते है और रजोगुण की अधिकता से चित्त में चंचलता रुपी विक्षेप उत्पन्न होते हैं। अभ्यास के द्वारा तमोगुण की और वैराग्य के द्वारा रजोगुण की निवृत्ति होती है।

गीता में भगवान कृष्ण अभ्यास और वैराग्य का वर्णन करते हुऐ कहते हैं कि–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तम वैराग्यण च गृहते।।
असंयतात्मना योगो दुष्प्रभाव इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।
(गीता 6/35, 36)

अर्थात– हे महाबाहो! निस्संदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में हो जाता है। मन को वश में न करने वाले पुरुष द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, यह मैं जानता हूँ किन्तु स्वाधीन मन वाले अर्थात जिसका मन अपने वश में है ऐसे व्यक्ति द्वारा साधना करने पर उन्हें योग प्राप्त हो जाता है।

17.4.1 अभ्यास – महर्षि पतंजलि अभ्यास का वर्णन करते हुऐ उसके स्वरुप और प्रयोजन को इस प्रकार से समझाते हैं–

"तत्र स्थितौ यत्नोभ्यासः" (I/13 पा० यो० सू०)

अर्थात– अभ्यास और वैराग्य में प्रयत्न की पूर्ण स्थिति को अभ्यास कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में तत्र शब्द का अर्थ दो (अभ्यास–वैराग्य) से है। सामान्यतः तत्र शब्द का अर्थ "वहाँ" से होता है। अभ्यास का अर्थ आध्यात्मिक साधना में पूरी तरह से एक होने से लगाया जाता है। प्रयत्न से तात्पर्य चित्त की वृत्तियों को पूरी तरह से रोकने से है। इस प्रयत्न के अन्तर्गत ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, आत्म निरीक्षण आदि योगाभ्यासों को रखा गया है। अभ्यास का अर्थ कुछ समय के लिये किसी क्रिया को करना नहीं है बल्कि अभ्यास उसे कहा जाता है जिससे लम्बे समय तक क्रिया का अभ्यास किया जाता है और जिसमें पूर्ण होने तक निरंतरता बनाये रखनी होती है। इसीलिये सूत्र में 'स्थित' शब्द द्वारा इसी स्थिति को समझाया गया है। निरन्तरता के साथ किये गये अभ्यास में साधक धीरे–2 पूर्ण रुप से स्थित हो जाता है।

यत्न का अर्थ होता है लगन के साथ लगे रहना। साधक चाहे जो भी क्रिया करे उसमें पूरी तत्परता एवं निष्ठा के साथ कार्य करें। चाहे वह भक्तियोग, राजयोग, हठयोग आदि कोई भी अभ्यास हो। जब अभ्यास करते–2 साधना पकने लगती है तो उसका फल स्वतः ही मिलने लगता है। अर्थात जब साधक अपनी अभ्यास साधना में निपुण हो जायेगा तो साधना सिद्ध हो जायेगी, फलतः चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जायेंगी।

चित्त के वृत्तिरहित होकर शान्त प्रवाह में बहने को स्थिति कहते हैं। इस स्थिरता को प्राप्त करने के लिये पूरे सामर्थ्य एवं उत्साह से अभ्यास करना चाहिये।

अभ्यास के द्वारा ही कठिन कार्य को सिद्ध किया जा सकता है। सर्कस आदि में भी अभ्यास के द्वारा ही कलाकार कठिन–2 अभ्यासों को कितनी सरलता से दिखा पाते हैं। शेर, घोड़ा, हाथी आदि पशु–पक्षियों को भी अभ्यास के द्वारा ही अनेकों खेल आदि करते हुये सर्कस में देखा जाता है। बारम्बार चेष्टा द्वारा मन को किसी एक ध्येय में लगाया जाता है जिससे साधक का चंचल मन किसी एक विषय में एकाग्र हो सके, इसी चेष्टा का नाम अभ्यास है।

महर्षि पतंजलि ने चित्त प्रसादन के उपायों में चित्त को शुद्ध और विक्षेप रहित करने के लिये 8 उपाय बताये हैं, जिनमें ये वर्णन किया गया है कि साधक किन–2 विषयों में अपने चित्त को स्थिर रख सकता है। पतंजलि योग दर्शन के प्रथम अध्याय के 32वें से लेकर 39वें सूत्र तक विभिन्न विषयों के अभ्यास को इस प्रकार से समझाया है, जैसे–

(1) एक तत्व का अभ्यास

(2) सुखी–दुखी, पुण्यात्मा और पापात्मा इन चारों में क्रमषः मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की भावना रखने से चित्त निर्मल होता है।

(3) प्राण वायु को बार–2 बाहर निकालना और उसे बाहर ही रोक देना, इससे चित्त निर्मल होता है।

(4) दिव्य विषय का साक्षात्कार करने वाली प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर चित्त निर्मल हो जाता है।

(5) शोक रहित प्रकाश उत्पन्न होने पर ऐसी प्रवृत्ति से चित्त निर्मल होता है।

(6) वीतराग विषय वाले चित्त का ध्यान करने से चित्त निर्मल होता है।

(7) स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है।

(8) अपनी रुचि के अनुसार उसी इष्ट का ध्यान करने से चित्त शुद्ध हो जाता है।

रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त संस्कार चित्त की एकाग्रता के विरोधी होते हैं। ये चित्त को विक्षिप्तता प्रदान करते हैं। ऐसा विक्षिप्त चित्त सही ढ़ंग से एकाग्रतापूर्वक अभ्यास नहीं कर पाता है। इसके समाधान के लिये महर्षि बताते हैं कि–

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितोदृढ़ भूमिः। (I/14 पा० यो० सू०)

<u>अर्थात</u>– किन्तु वह पूर्वोक्त अभ्यास दीर्घ कालपर्यन्त निरन्तर व्यवधानरहित ठीक–2 श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ अवस्था वाला हो जाता है।

विषय को भोगने के पश्चात उससे उत्पन्न संस्कार मनुष्य के चित्त में जन्म–जन्मान्तरों से इकट्ठा होते चले आ रहे हैं। इन संस्कारों को थोड़े प्रयास और थोड़े समय में समाप्त नहीं किया जा सकता है। ये बहुत कठिन कार्य है। कर्म संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि थोड़ी सी असावधानी होने पर ये वृत्ति निरोध के लिये किये जाने वाले

प्रयास के संस्कार को भी दबा देते हैं। इसलिये अभ्यास को दृढ़भूमि बनाने के लिये धैर्य के साथ लम्बे समय तक लगातार श्रद्धा और उत्साह पूर्वक प्रयत्न करना चाहिये।

प्रस्तुत सूत्र में तीन विषेशताओं से युक्त अभ्यास को दृढ़भूमि वाला बताया गया है–

(1) दीर्घकाल– यहाँ लम्बे समय तक अभ्यास करना बताया गया है, परन्तु इसकी कोई सीमा नहीं बताई गई है। साधक के स्तर के अनुरुप ही साधना परिपक्व होती है। उच्च स्तर का साधक जल्दी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, मध्यम स्तर के साधक को थोड़ा समय लगता है और निम्न स्तर के साधक को अधिक समय लगता है। परन्तु साधना के अभ्यास की निरन्तरता होने पर साधना समयानुसार परिपक्व हो जाती है। इसलिये दीर्घकाल कहकर समझाया गया है।

(2) नैरन्तर्य– अर्थात अभ्यास को निरन्तर बिना रुकावट करते रहना चाहिये। बीच–2 में अभ्यास को छोड़ना नहीं चाहिये, क्योंकि इस प्रकार बीच में छोड़–2 कर किया गया अभ्यास परिपक्व नहीं हो पाता है। उसमें दृढ़भूमि नहीं आ पाती है। इसलिये अभ्यास में निरन्तरता आवश्यक है।

(3) सत्कारसेवितः– अभ्यास ठीक–2 सत्कारपूर्वक श्रद्धा, भक्ति, ब्रह्मचर्य और उत्साहपूर्वक किया जाना चाहिये। बिना सत्कार के किया गया अभ्यास दृढ़ अवस्था वाला न हो सकेगा। हम समर्पण, सम्मान, निष्ठा से सत्कार का अर्थ लगा सकते हैं।

साधक की सबसे प्रिय वस्तु उसकी साधना होती है। जिस प्रकार एक माता अपने बच्चे के समय से घर न आने पर चिंतित और परेशान हो उठती है ठीक उसी प्रकार जब साधक की साधना में व्यवधान आये तो उसे भी चिंतित और परेशान होना चाहिये। साधक को अपने शरीर से जितना लगाव है उतना ही अपनी साधना से भी होना चाहिये। यदि अभ्यास पूर्ण निष्ठा, प्रेम, आकर्षण के साथ किया जाये तो निश्चित रुप से उचित फल प्राप्त होता है। साधना स्वेच्छापूर्वक ग्रहण करनी चाहिये।

यदि साधक की साधना में उपरोक्त तीन विषेशाताऐं विद्यमान हैं तो साधक को उसके अनुरुप फल अवश्य प्राप्त होते हैं।

इस तरह से किया गया अभ्यास रजो एवं तमो गुणों को नष्ट करता है तथा चित्त मे स्थिरता प्रदान करता है। इस प्रकार से किया गया अभ्यास साधना में न केवल दृढ़ता प्रदान करता है बल्कि व्यक्ति के स्वभाव का अंग बन जाता हैं। उच्चस्तरीय एवं दृढ़ इच्छा शक्ति वाले साधक को किसी ठोस उपलब्धि तक पहुँचने के पूर्व अपनी साधना में ढील नहीं आने देनी चाहिये। साधक को बिना घबराये दीर्घ काल तक साधना की अभ्यास करना चाहिये।

17.4.2 वैराग्य – अभ्यास का वर्णन करने के पश्चात महर्षि ने वैराग्य पर प्रकाश डाला है। महर्षि ने वैराग्य दो प्रकार के बताये हैं– (1) अपर वैराग्य
(2) पर वैराग्य

1. **अपर वैराग्य** – अपर वैराग्य का वर्णन इस प्रकार से है–

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्। (I/15 पा० यो० सू०)

अर्थात– देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।

विषय के दो प्रकार होते हैं– (1) दृष्टा

(2) आनुश्रविक

(1) दृष्ट विषय– वे विषय जो इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करके इस लोक के समस्त भोगों को लिप्त रखते हैं। जैसे– रुप, रस, गन्ध, स्पर्श, धन, सम्पत्ति, अन्न, खान–पान, स्त्री, राज, ऐश्वर्य आदि।

(2) आनुश्रविक विषय– ये वे विषय होते हैं जो वेद और शास्त्रों द्वारा सुने गये हैं, जो प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं है। ये दो प्रकार के होते हैं–

1. शरीरान्तर वेद्य– जैसे देवलोक, स्वर्ग विदेह एवं प्रकृतिलय का आनन्द इत्यादि।

2. अवस्थान्तर वेद्य– जैसे दिव्य–गन्ध–रस आदि।

इन दोनों प्रकार के दिव्य और अदिव्य विषयों की उपस्थिति में भी जब चित्त ज्ञान के बल से इनके दोषों को देखता हुआ इनके संगदोष से सर्वथा रहित हो जाता है, न इनको ग्रहण करता है और न ही दूर हटता है। अर्थात जब इनमें उसका ग्रहण करने वाला राग और परे हटाने वाला द्वेष दोनों निवृत्त हो जाते हैं।

किसी विषय के केवल त्यागने का नाम वैराग्य नहीं है। क्योंकि राग आदि के कारण भी विषयों से अरुचि हो जाती है, जिससे उनको व्यक्ति त्याग देता है। किसी विषय के अप्राप्त होने पर भी उसका भोग नहीं किया जा सकता है। दिखाने के लिये तथा भय, लोभ और मोह के वषीभूत होकर अथवा दूसरों के आग्रह से भी किसी विषय को त्यागा जा सकता है, परन्तु ऐसी स्थिति में विषय के प्रति आसक्ति किसी न किसी रुप में मन में बनी रहती है। विवेक द्वारा विषयों को दुःख और बन्धन का कारण समझकर विवेक उनमें पूर्णतया अरुचि उत्पन्न हो जाना तथा उनमें सर्वथा संग दोष से रहित हो जाना ही वैराग्य कहा जाता है।

विषयों की कामना विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती है, बढ़ती ही है, ठीक वैसे जैसे कि हवन कुण्ड में आहुति डालने पर अग्नि और अधिक ही बढ़ती है, कम नहीं होती।

वैराग्य का प्रारम्भ सदैव व्यक्ति के भीतर से होता है। व्यक्ति बाहर से क्या पहनता है किन व्यक्तियों के साथ रहता है आदि इन बातों से ज्यादा महत्वपूर्ण ये बात होती है कि व्यक्ति विभिन्न व्यक्तियों, वस्तुओं के प्रति अपनी मनोभूमि कैसी रखता है। वैराग्य हमें सन्तुलित मनोभूमि, प्रेम, करुणा तथा विभिन्न कार्यों के परिणामों के प्रति अलगाव प्रदान करता है। इस प्रकार वैराग्य मानसिक शक्ति और पवित्रता की अभिव्यक्ति है। वैराग्य युक्त व्यक्ति का सुख एवं शान्ति अबाधित और अपरिवर्तित रहती है।

वैराग्य की चार संज्ञाएँ हैं– (1) यतमान
(2) व्यतिरेक
(3) एकेन्द्रिय
(4) वशीकार

(1) यतमान– चित्त में स्थित चित्त के मूलरुप राग–द्वेष ही इन्द्रियों को अपने–2 विषयों की ओर आकर्षित करती हैं। इसमें विश्व की वस्तुओं के प्रति मन में आकर्षण अथवा अरुची भरी रहती है। साधक इच्छा, वासना, घृणा, हिंसा आदि को नियन्त्रित करने के लिये प्रयत्न करता है। इस अवस्था को राग द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिये संघर्ष की अवस्था कहा जाता है।

(2) व्यतिरेक– फिर विषयों में दोषों का चिन्तन करते–2 निवृत्त और विद्यमान चित्त के मलों का निरिक्षण किया जाता है। इतने मल निवृत्त हो गये हैं, इतने निवृत्त हो रहे हैं,

इतने निवृत्त होने वाले हैं। इस प्रकार विद्यमान एवं निवृत्त मलों का जो ज्ञान है वह व्यतिरेक संज्ञक वैराग्य है।

(3) एकेन्द्रिय– जब चित्त बाह्य इन्द्रियों के विषयों के आकर्षण से बचने में समर्थ हो गया हो लेकिन सूक्ष्म रुप से ये इन्द्रिय विषय मन में बने रहें, ऐसी स्थिति में विषय का सानिध्य होने पर चित्त में फिर से क्षोभ उत्पन्न हो तब यह वैराग्य की अवस्था एकेन्द्रिय संयक है।

(4) वशीकार– सूक्ष्म रुप से भी जब चित्त के मल रागादि दोषों की निवृत्ति हो जाये और दिव्य–अदिव्य विषयों कें उपस्थित होने पर भी उपेक्षा बुद्धि रहे, तब यह तीनों संज्ञाओं से परे वषीकार संज्ञक वैराग्य है। इसमें साधक यह जान लेता है कि ये मेरे वषीभूत है, मैं इसके वषीभूत नहीं हूँ।

अपर वैराग्य का फल सम्प्रज्ञात समाधि है। जिसमें साधक विवेक ख्याति को प्राप्त कर लेता है। किन्तु त्रिगुणात्मक (सत, रज, तम गुणों से युक्त) होने के कारण ये चित्त की एक वृत्ति है। इससे भी विरक्त हो जाने पर पर–वैराग्य की स्थिति प्राप्त होती है, जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि होता है।

2. **पर वैराग्य** – महर्षि पतंजलि ने प्रस्तुत सूत्र में पर–वैराग्य को इस प्रकार से समझाया है–

तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । (I/16 पा० यो० सू०)

अर्थात– पुरुष के ज्ञान से जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है, वह पर–वैराग्य है। विवेक ख्याति प्रकृति के गुणों से घृणारहित हो जाना पर–वैराग्य है।

अपर वैराग्य की स्थिति में दिव्य–अदिव्य आदि विषयों में तृष्णा रहित हो जाना है। पर–वैराग्य जहाँ तक गुणों का अधिकार है, सबमें तृष्णारहित हो जाना है। अपर वैराग्य में योगी सूक्ष्म विषयों, दोष देखकर उनसे विरक्त हो जाता है। तृष्णा रहित चित्त एकाग्र होता है। जिसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। असम्प्रज्ञात की स्थिति में पहले चित्त और पुरुष के भेद का ज्ञान होता है, जिसे पुरुषख्याति, सत्वपुरुषन्यता–ख्याति तथा विवेक कहते हैं। इस ख्याति में जैसे–2 अभ्यास में दृढ़ता आती जाती है, वैसे–2 चित्त में निर्मलता आती जाती है। चित्त की अति निर्मल अवस्था में पुरुष ख्याति भी चित्त की ही एक सात्विक वृत्ति और गुणों का ही परिणाम प्रतीत होने लगती है। तब इस विवेकख्याति से भी वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इस प्रकार से विरक्त होने पर वैराग्य इसमें रजोगुण, तमोगुण गन्ध मात्र भी नहीं रहता है।इस स्थिति में साधक यह समझने लगता है कि जो प्राप्त करने योग्य था वह वे प्राप्त कर चुका है। जो नष्ट करने योग्य थे (क्लेष) वे नष्ट हो चुके हैं, अब संसार चक्र टूट गया है। यह पर–वैराग्य ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसी के निरन्तर अभ्यास से कैवल्य होता है।असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के विषयों से चित्त अलग हो जाता है। इस विषुद्ध चित्त में निर्विकार पुरुष ही प्रतिबिम्बित होता है, इसे आत्मदर्शन कहते हैं।

17.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में पाठकों को चित्त वृत्ति निरोध के उपायों के बारे में विस्तार से जानकारी मिली है। इकाई के समस्त उद्देष्यों की पूर्ति प्रस्तुत पाठ्य सामग्री से सम्भव है। पाठक अपनी विषय सम्बन्धि जिज्ञासाओं की पूर्ति प्रस्तुत इकाई से कर पायेंगे।प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में अभ्यास और वैराग्य का विस्तार से वर्णन किया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्त की वृत्तियों को पूर्णतः शान्त होना योग कहलाता है।

योग में पुरुष को चेतना की उच्चतम अभिव्यक्ति मानते हैं जो मन की वृत्तियों तथा प्रकृति से एकदम निर्लिप्त होता है। सामान्यतः हमारी चेतना मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा संचालित होती है। ध्यान की अवस्था में चेतना गहन तल पर कार्यषील होती है, परन्तु उसमें अहम् बोध बना रहता है। धीरे–2 अभ्यास द्वारा वह भी समाप्त हो जाता है। गुणों से मुक्ति होने पर गुणों से सम्बन्धित अवस्थाओं का प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। साधक को अपने भीतर केवल पुरुष का ही बोध रहता है। धीरे–2 आगे बढ़ते हुए वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। प्रस्तुत प्रक्रिया को ही विस्तार से पाठ्य सामग्री के अन्दर समझाया गया है।

हम कह सकते हैं कि अभ्यास और वैराग्य योग साधना में परम आवष्यक तत्व हैं, इनके अभाव में योग तत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

17.6 शब्दावली

विक्षिप्त	–	चन्चल
अवरोध	–	रुकावट
निरोध	–	रोक लगाना
तटस्थ	–	स्थिर
प्रयोजन	–	स्थिर
चेष्टा	–	प्रयास
प्रसादन	–	शुद्धि
उपेक्षा	–	नजर अन्दाज करना
प्रबल	–	तीव्र

17.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4. हठप्रदीपिका – स्वात्माराम सूरी
5. योगविज्ञान – विज्ञानानंद सरस्वती
6. कुण्डलिनी योग – सत्यानंद सरस्वती
4. Kundalini – Pandit Gopi Krishna
5. Kundalini for Beginners – Dr. Ranvindra Kumar

17.8 निबंधात्मक प्रश्न

(1) अभ्यास क्या है? सन्दर्भ सहित वर्णन करें।
(2) वैराग्य क्या है? सन्दर्भ सहिव वर्णन करें।
(3) अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्त वृत्ति का निरोध किस प्रकार सम्भव है?
(4) महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गये अभ्यास को परिभाषा सहित समझायें।
(5) दीर्घ एवं निरन्तर अभ्यास की महत्ता पर प्रकाश डालें।
(6) पर–वैराग्य क्या है? इस पर प्रकाश डालें।
(7) अपर–वैराग्य क्या है? इस पर प्रकाश डालें।
(8) अपर वैराग्य के प्रकार बताते हुऐ वशीकार
(9) असम्प्रज्ञात समाधि से बड़े वैराग्य को समझाऐं।
(10) योग साधना में अभ्यास और वैराग्य की भूमिका स्पष्ट करें।

इकाई 18 चित्त विक्षेप

18.1 प्रस्तावना
18.2 उद्देश्य
18.3 चित्त को विक्षेप करने वाले अन्तराल या विध्नरूप
18.3.1 व्याधि
18.3.2 स्त्यान (आलस्य का मानसिक पक्ष)
18.3.3 संशय (संदेह)
18.3.4 प्रमाद– (लापरवाही)
18.3.5 आलस्य (सुस्ती)
18.3.6 अविरति (मोह या आशक्ति)
18.3.7 भ्रान्ति दर्शन(मिथ्या ज्ञान)
18.3.8 अलब्धभूमिकत्व
18.3.9 अनवस्थित्व
18.4 चित्त विक्षेप के सहभुवः (साथी लक्षण)–
18.4.1. दुःख
18.4.2 दौमन्य
18.4.3 अंग मेजयत्व
18.4.4 श्वास–प्रश्वास
18.5 हठप्रदीपिका के अनुसार विक्षेप–
18.6 सारांश
18.7 शब्दावली
18.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
18.9 निबंधात्मक प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

योग साधना के नियमित अभ्यास के द्वारा साधक का मन अन्तर्मुखी होता है। और उसके साधना मार्ग में आने वाले व्यवधानों को वह धीरे–धीरे दूर कर साधना के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करता है। परन्तु इसी के साथ–साथ साधना अभ्यास के दौरान इस मार्ग में अनेकों बाधाऐं भी आती है जो साधन में रूकावट उत्पन्न करती है। यदि ये बाधाऐं साधक को साधना छोड़ने के लिये दबाव डालती है और यदि साधक इनसे प्रभावित हो जाता है तो उसकी साधना बीच में ही छूट जाती है और वह साधना की पूर्णता को प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता है, और यदि साधक इन बाधाओं से प्रभावित न होकर इन पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वह अपने लक्ष्य को पा जाता है।

प्रस्तुत इकाई में साधना काल में साधक के समक्ष आने वाली रूकावटों या बाधाओं का विस्तार से वर्णनकिया गया है। यह आध्यात्मिक साधक के स्वयं के हित में है कि बाधाओं पर किस प्रकार से विजय पायें, इन्हें किस प्रकार लांघा जाये ताकि विकासयात्रा अबाधित संपन्न हो सके। ये बाधाऐं चेतना से भिन्न नहीं बल्कि उसका ही अंश होती है। एक निष्ठावान साधक के लिये यह जानना अति आवश्यक है कि साधना मार्ग में ये बाधाऐं अवश्य आती है। साधना के दौरान शरीर बिमारी से ग्रसित हो जाता है। जब चेतना अन्तर्मुखी होती है तो ग्रन्थियों की हारमोन्स विसर्जन व्यवस्था भी प्रभावित होती है। चयापचय प्रक्रिया तथा अन्य शारीरिक क्रियाओं में परिवर्तन होता है। जब साधक लम्बे समय तक ध्यानके अभ्यास के लिये बैठता है तो उसे नींद आने लगती है। अध्यात्मिक साधक बहुधा अपनी दिनचर्या तथा पारिवारिक दायित्वों के प्रति थोड़े लापरवाह देखे गये है उनका मन कभी–कभी संदेह युक्त हो जाता है कि वह जो साधना कर रहे है वह ठीक भी है या नहीं, इसके द्वारा वह अपने लक्ष्य को प्राप्त भी कर पायेंगे या नहीं।

18.2 उद्देश्य –

इससे पूर्व इकाई में आपने चित्त, चित्त की भूमिका एवं चित्त वृत्तियों के बारे में जाना। प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे कि–

- चित्त विक्षेप क्या होता है?
- चित्त विक्षेप को और किस नाम से जाना जाता है?
- महर्षि पतंजलि ने कितने विक्षेपों की चर्चा की है?
- बिमारी किस प्रकार से विक्षेप है?
- मानसिक आलस्य क्या होता है ये कैसे चित्त को विक्षिप्त करता है?
- शंका किस प्रकार से योग साधना में रूकावट लाती है?
- प्रमाद क्या है?
- आलस्य द्वारा किस प्रकार योग साधना में बाधा है?
- अविरति किस प्रकार से विक्षेप है?
- भ्रान्ति दर्शन क्या होता है?
- अलब्ध 'भूमिकत्व' क्या होता है? योग साधन में किस प्रकार रूकावट उत्पन्न करता है?
- अनवस्थित्व विक्षेप के बारे में विस्तार से जानकारी।

18.3 चित्त को विक्षेप करने वाले अन्तराल या विध्नरूप –

महर्षि पतंजलि ने अपने योग दर्शन नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के तीसवें सूत्र में साधना मार्ग में आने वाले विध्नों का विस्तार से वर्णन किया है जिन्हें चित्त विक्षेप(योगान्तराय) के नाम से जाना जाता है। आइये इन्हें विस्तार से जाने –

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमि
कत्तानवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेडन्तरायाः।। (1/30 पा0यो0सू0)

अर्थात– व्याधि, स्त्यान, संशय , प्रमाद, आलस्य , अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थितत्व चित्त के विक्षेप व विध्न है।

चित्त विक्षेप चित्त में होते है जो कि स्थूल रूप से दिखाई नहीं पड़ते उपरोक्त सूत्र में योग के मार्ग में आने वाले विध्नों के बारे में स्पष्ट किया गया है। ये अन्तराय (चित्त विक्षेप) कहलाते है। क्योंकि ये चित्त को विक्षेपित करते है। ये कुल मिलाकर 9 है। तथा सभी त्याज्य है। रोग चाहे देखने में शारीरिक ही क्यों न हो उनका मूलकारण चित्त का विक्षिप्त होना या बिगड़ना ही है। ये 9 अन्तराय योग साधना के विरोधी होने से अन्तराय या विध्नरूप है। ये मानसिक विध्न है।

18.3.1 व्याधि –बिमारी व्याधि से अभिप्राय शारीरिक रोग होता है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर में वात, पित्त, कफ मुख्य होते है। इन तीनों का शरीर में असन्तुलन पैदा हो जाय उसे व्याधि कहते हैं। ''व्याधि र्धातु रस करण वैषम्यम्''

दूसरे शब्दों में धातु, रस, रक्त, मांस, मेध, अस्थि, मज्जा, शुक्र और इन्द्रियों की विषमाता से उत्पन्न हुए ज्वर आदि को व्याधि या रोग कहते है। अस्वस्थ शरीर से समाधि का अभ्यास न हो सकने के कारण व्याधि योग में अन्तराय है।

जैसे– ज्वर, नेत्रदोष, आदि दुर्बलता भी व्याधि में सम्मिलित है। देह में रोग उत्पन्न होने से योग प्रगति में बाधा आती है।

शान्तिपर्व 274/8– कायिक उपद्रवों को आहार के द्वारा ठीक करना चाहिये। व्याधि के नाश के लिये ये ही उपाय है। ईश्वर प्राणिधान करने से शुभबुद्धि और सात्विक बुद्धि आयेगी, जिससे योगी बुद्धि भ्रंश नहीं होगा।

18.3.2 स्त्यान (आलस्य का मानसिक पक्ष)–स्त्यान में चित्त अवश होकर इधर–उधर घूमता रहता है, अतएव, साधन कार्य में उसका प्रयोग नहीं हो पाता। और आलस्य में तमो गुण के कारण चित्त सुस्त रहता है।'' इसके फलस्वरूप योग साधक अपनी साधना में शिथिल हो जाता है और धीरे–धीरे उसकी साधना छूटने लगती है।

चित्त की इच्छा होने पर भी किसी कार्य को करने का (योग साधन के अनुष्ठान की) सामर्थ्य न होना। ''स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य'' किसी काम की क्षमता रहने पर भी उस काम को न करने की प्रवृत्ति का होना स्त्यान है। यह मन की विशिष्ठ प्रकार की दुर्बलता है। या यह कह सकते है कि आलस्य का मानसिक पक्ष ही स्त्यान है। स्त्यान जन्य चित्त से योग का अभ्यास सम्भव न होने से यह अन्तराएं है।

हरिहरानन्द जी बताते हैं कि – अप्रीतिकर होने पर भी वीरतापूर्ण प्रयत्न करते रहने से स्त्यान हट जाता है।

18.3.3 संशय (संदेह)– **मैं** योग साधन कर सकूंगा कि नही, करने पर भी योग सिद्ध होगा या नहीं, इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। योग मार्ग के बारे में संशय में रहना अर्थात योग के अनुष्ठान व उसके फल के बारे में असंदिग्ध रहना ही संशय है, किसी भी मार्ग में जाने से पूर्व उस सम्बन्ध में अपनी शंका का पूर्णतः निवारण कर लेना अति आवश्यक है। ऐसा करने से प्रगति तथा यश प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु कई लोग सदैव ही संशयात्मक होते है। एक बार पूर्णतया संशय का निराकरण होने के पश्चात भी वे बार–बार संशय में ही रहते है। इसलिये उनका ये स्वभाव घातक होता है तथा इसी कारण साधक आगे नहीं बढ़ पाता है। संशय एक ऐसी स्थिति है। जहाँ पर साधक यह सोचता है कि क्या पता इसका फल मिले या न मिले। संशय उत्पन्न हो जाने पर श्रद्धा समाप्त हो जाती है, और इसके अभाव में योग साधना लम्बे समय तक नहीं चल पाती है।

18.3.4 प्रमाद– (लापरवाही) अभ्यास आवश्यक है ये जानते हुऐ भी योगाभ्यास न करना प्रमाद है। किसी विषय (योग) के प्रति लापरवाही करना। हरिहरानन्द जी बताते हैं कि –''प्रमाद समाधि साधनानाम भावनम्'' समाधि के साधन समूह की भावना न करना प्रमाद है।

बुद्ध भगवान धर्मपद में कहते है (अप्रमादवर्ग1) प्रमाद–मृत्युपद है। अप्रमाद– अमृतपद हैं

अर्थात सदा विचार करते रहना कि अभूख विषय आज न करके कल पूर्ण कर लेंगे लेकिन वह पूर्ण नहीं होता क्योंकि योग में निरन्तर लगे रहने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। प्रमाद मन में उत्पन्न होकर उसे शिथिल कर देता है जिसके कारण शरीर से अपेक्षित प्रयत्न नहीं हो पाते हैं।

यह जानते हुए भी कि यह कार्य हानिकारक है फिर भी बार–बार उस कार्य को करना ही प्रमाद है। जैसे कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। यह जानते हुए भी सिगरेट पीना प्रमाद है। अपने ध्येय के प्रति जागरूक होकर अभ्यास करने से यह अन्तराय दूर होता है।

18.3.5 आलस्य (सुस्ती)–

आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरूत्वाद प्रवृत्तिः

चित्त अथवा शरीर के भारी होने के कारण ध्यान न लगना। शरीर का भारीपन कब्ज और आदि के प्रकोप से और चित्त का भारीपन तमोगुण की अधिकता से होता है।

शरीर में तमोगुण प्रधान हो जाना तथा शारीरिक तथा मानसिक स्तर पर भारीपन अनुभव करना जिससे कार्य करने की प्रवृत्ति न हो आलस्य है। योग अनुष्ठान में रूचि और सामर्थ्य होने पर भी शरीर के भारीपन तथा तमोगुण प्रधान होने के कारण शरीर का कार्य न करना ही आलस्य है। इसे सुस्ती भी कहा जा सकता है। हरिहरानन्द जी बताते हैं कि – ''मिताहार, जागरण, उद्यम के द्वारा आलस्य दूर होता है।

18.3.6 अविरति (मोह या आशक्ति)–

इन्द्रियों की विषयों में तृष्णा बनी रहने के कारण वैराग्य का अभाव सांसारिक विषयों के प्रति अधिक लगाव होना ही अविरति है। इससे चित्त चंचल होता है। जबकि योग में अलगाव होना चाहिये इसलिये पातंजलि ने इसे योग में बाधा माना है।

हरिहरानन्द जी बताते हैं कि – अविरतिश्चितस्य विषयसंप्रयोगात्मागद्ध। इसका अर्थ है विषयों में आकर्षण होने से चित्त चंचल हो जाता है। जिससे अविरति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सांसारिक विषयों की ओर से विरक्ति न होना तथा रूप, रस आदि विषयों में तृष्णा का बने रहना ही अविरति है।

महाभारत शान्ति पर्व 274/5 के अनुसार

काम संकल्पवर्जनात''

अर्थात विषयों से दूर रहकर विषय संकल्प को त्यागने का अभ्यास करने से अविरति नष्ट हो जाती है।

18.3.7 भ्रान्ति दर्शन (मिथ्या ज्ञान) –

हरिहरानन्द जी के अनुसार– भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्

लोगों को भ्रम में रखना अर्थात स्वयं अनुभव न होने पर अनुभव की बात करना ही भ्रान्ति है।

1. किसी अन्य दर्शन ग्रन्थों को पढ़कर उसके अनुसार योगदर्शन को समझने का प्रयास करना।

2. अभ्यास से प्राप्त होने वाले दिव्य अनुभवों के सम्बन्ध में योग ग्रन्थों में पढ़कर अपने अभ्यास काल में वैसा अनुभव न होने पर भी वैसे अनुभव की बात करना।

3. कुछ विशिष्ट प्रकार के अलौकिक अनुभव होने पर उनकी उपेक्षा न कर उसी में लिप्त हो जाना।

ये तीन प्रकार के भ्रान्ति दर्शन। भ्रमत्वज्ञान होते हैं। जिससे योगाभ्यास में विध्न उत्पन्न होते हैं।

गुरू द्वारा बताये गये मार्ग को ठीक न समझना अथवा योग की प्रारंभिक अवस्थाओं में प्राप्त होने वाली सफलता में जो विभिन्न प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं। या जो विशिष्ठ अनुभव होते है उनको भ्रम पूर्वक पूरी सफलता मान लेना ही भ्रांति दर्शन है। तथा योग से सम्बन्धित किसी भी प्रकार का मिथ्या ज्ञान जो कि किसी भी दर्शन को पढ़कर योग दर्शन के बारे में होता है वह भी भ्रान्ति दर्शन है।

श्वेताश्वतर उपनिषद 6/23 के अनुसार– यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्ययैते कथिता हर्थाः प्रकाशन्तेमहात्मनः।।

अर्थात– ईवर तथा गुरू के प्रति भक्ति और श्रद्धा के साथ योगशास्त्र के अध्ययन से तथा तदानुसार अन्तःदृष्टि की प्राप्ति से भ्रान्ति दर्शन हट जाता है।

18.3.8 अलब्धभूमिकत्व– किसी प्रतिबन्धक वश समाधि में न पहुँचना । पूर्व संस्कार के कारण साधक के मार्ग में कभी न कभी यह स्थिति आती ही है जब कुछ प्राप्त करने पर उसका मन उसमें नहीं टिक पाता। हरिहरानन्द जी के अनुसार –

अलबधभूमिकत्वं समाधि भूमेरलाभ

अर्थात–समाधि भूमि की अप्राप्ति ही अलब्धभूमिकत्व है।

यह भी एक अति सशक्त अन्तराल है। दूसरे शब्दों में–

जब साधक साधना करते–करते उस विशेष स्थिति की प्राप्ति नहीं कर पाता है। तो वह सोचता है कि इतने समय के बाद मैंने उस विशेष स्थिति को नहीं प्राप्त किया। यह ही अलब्ध भूमित्व है। ऐसी स्थिति आने पर साधक अपनी साधना छोड़ देता है।

योग का अनुष्ठान करते समय योग की किसी भी भूमि (स्तर) की प्राप्त न कर पाना तथा असफलता के फलस्वरूप साधक द्वारा निराशा होने से योग का मार्ग छोड़ देना ही अलब्ध भूमित्व है।

18.3.9 अनवस्थित्व–

हरिहरानन्द जी के अनुसार –

अनवस्थिततत्वं यतलब्धायां भूर्माचित्तस्याप्रतिण्ठ

समाधि भूमि को पाकर भी उसमें चित्त का न ठहरना, ध्येय का साक्षात्कार करने से पूर्व ही समाधि का छूट जाना। अनवस्थित्व कहा जाता है।

अर्थात् वह स्थिति जिसमें थोड़ी देर चित्त टिक भी जाये मगर स्थिर न रह सके, चंचल ही बना रहे, ऐसा योगाभ्यास का बाधक यह अन्तराय है।

उपरोक्त व अन्तराओं में से अन्तिम तीन अत्यन्त विध्नकारक है। अधिकांशतः साधक इनके कारण हताश होकर अपना अभ्यास बीच में ही छोड़ देते हैं। अतः इन सभी 9 अन्तराओं को हटाने के लिये चित्त को ही प्रयत्न करना होगा तभी स्थाई परिणाम की सम्भावना बनेगी। ये अन्तराएं चित्त को विक्षिप्त कर साधक को योग मार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं। इसी कारण से ये चित्त विक्षेप योग के मल अन्तराएं अथवा प्रतिपक्षी कहे जाते हैं।

''ईश्वर प्राणिधान के द्वारा ये सब अन्तराय दूर हो जाते है, क्योंकि जिस अन्तराय का जो प्रतिपक्ष है, ईश्वर प्राणिधान से वह प्रकट होकर उस अन्तराय को दूर कर देता है। ईश्वर प्राणिधान से शुद्ध सात्विक बुद्धि उत्पन्न होती है।

हर सांसारिक व्यक्ति चाहे वे आध्यात्मिक साधक हो या न हो, उपरोक्त नौ व्याधियों से अछूता नहीं रह सकता है। अभी हमने चेतना की इन बाधाओं को विस्तारपूर्वक जाना जो साधक के लिए रूकावट है और इनका निराकरण करना अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति के लिये यह जानना आवश्यक है कि उसके शरीर में जो उपद्रव प्रकट हो रहा है वह ध्यान के कारण है अथवा शरीरगत प्राकृतिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप है। उदाहरण के लिये वह व्यक्ति भी जो ध्यान की नियमित साधना करता है, संदेह, भय और दीर्घ सूत्रता का शिकार हो सकता है। बीमारी शारीरिक गड़बड़ी के फलस्वरूप हो सकती है तथा चेतना के अन्तर्मुखी होने के कारण भी प्रकट हो सकती है। इसी के साथ–साथ महर्षि पतंजलि ने चार और सहयोगी विक्षेपों की चर्चा अपने अगले सूत्र में की है। उन्होंने कहा है कि यदि साधना की अवधि में शरीर बीमार पड़े, उसमें थरथराहट अनुभव हो श्वास प्रश्वास उखड़ा हो तो साधक को यह मानना चाहिये कि चित्त व्यवधानों से जूझ रहा है। आइये इन सहयोगी विक्षेपों को विस्तार से जाने–

18.4 चित्त विक्षेप के सहभुवः (साथी लक्षण)–

दुःख दौर्मनस्यागमेजयत्वश्वास प्रश्वास विक्षेप सहभुवः (1/31 पा0यो0सू0)

अर्थात् – दुःख, दौर्मनस्य, अंग मेजयत्व, श्वासप्रश्वास ये चित्त विक्षेप के सहायक लक्षण है

चित्त विक्षेप को बाहरी तरफ से सुलभता से नहीं देख पाते है जो मानसिक स्तर के होते हैं। उन्हें समझने के लिये चित्त विक्षेप चार कारणों से होता है। जो पातंजलि ने अपने योग सूत्र 31 प्रथम पाद में बताए। जो 9 कारण मानसिक स्तर के होते है उसके ये चार शारीरिक कारण स्थाई है।

1. दुख (शारीरिक और मानसिक स्तर का)
2. दौरमनस्य (मन की कमजोरी सेवर करना)
3. अंगमेजत्व (शरीर में कपकपी का होना)
4. श्वास–प्रश्वास (वात का बिगड़ना)

18.4.1 दुःख–

आयुर्वेद जब वात, पित्त, कफ के कारण यदि शरीर में किसी प्रकार की कमजोरी आ जाय या तीनों का सन्तुलन बिगड़ जाए तो दुःख पैदा होते है। दुःख तीन प्रकार के होते हैं।

1 आध्यात्मिक दुःख

ये दो प्रकार का होता है

1. शारीरिक
2. मानसिक

शारीरिक–

वात, पित्त, कफ के असन्तुलन के कारण पैदा होने वाला दुःख शारीरिक दुःख है।

मानसिक–

मानसिक क्रोध, काम आदि के कारण उत्पन्न होता है।

2. आधिभौतिक–

चोर, डाकू, सर्प, बाघ, सिंह, मच्छर आदि भूतों के द्वारा उत्पन्न होने वाला दुःख इस श्रेणी में आता है।

आधिदैविक–

प्रकृति द्वारा दिये जाने वाले दुःख आति वर्षा, भुकम्प, प्रलय, अकाल, जवालामुखी, आदि के कारण आते वह आधिदैवीक दुःख है।

18.4.2 द्रौमन्य–

अर्थात् – मन की दुर्बलता।

अभिलासित इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में क्षोभ होना ही दौरमनस्य है। इससे चित्त में हलचल पैदा होती है। ये स्थिति योग के अनुकूल नहीं है इससे तीव्र हताशा की दशा उत्पन्न होती है। ये मन की दुस्वावस्था है।

18.4.3 अंग मेजयत्व–

शरीर के अंगों का काँपना। शरीर के अंगों का काँपना अंग में जयत्व है। चित्त की स्थिति बिगड़ने पर उसमें चंचलता आने से शरीर के अंग कंपने लगते है।

यह स्थिति तब पैदा होती है। जब चित्त चंचल होता है। चित्त की स्थिति बिगड़ जाती है। जिसका असर शरीर पर पड़ता है।

18.4.4 श्वास–प्रश्वास –

बिना इच्छा के श्वास का नासिका द्वारा बाहर–अन्दर आना।

श्वास– नासिका रन्ध्र के द्वारा बाहरी वायु का अन्दर प्रवेश होना ही श्वास कहलाता है। तथा देह के अन्दर से वायु को बाहर फेंकना (निकालना) ही प्रश्वास है। इस अवस्था में श्वास प्रश्वास साधक की इच्छा के विरूद्ध तीव्र हो जाता है। यह स्थिति योग मार्ग में बाधक है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णित विक्षेप सहभुत्व योग मार्ग में बाधक है तथा इन्हें दूर किया जाना चाहिये। कुछ योग साधकों के अनुसार यम, नियम, आसन, तथा प्राणायाम क्रमशः दुःख, दौर्मनस्य , अंगमेजयत्व तथा श्वास–प्रश्वास विक्षेप सहभूवो को दूर करनेमें सर्वथा सहायक होते हैं तथा साथ ही साथ धीरे–धीरे उनके मूलकारण (चित्त विक्षेप) भी नष्ट हो जाते है।

18.5 हठप्रदीपिका के अनुसार विक्षेप –

हठप्रदीपिका नामक ग्रन्थ में योग साधना में रूकावट डालने वाले विक्षेपों को प्रथम अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में इस तरह से बताया गया है–

अत्याहारःप्रयासश्चप्रजल्योनियमाग्रहः।

जनसंगश्चलौल्यं चषड्भिर्योगेबिनश्यति।।

अर्थात् – अधिक भोजन, अधिक श्रम, अधिक बढ़ा चढ़ा कर कहना अधिक नियमों में बन्धना, अधिक लंबा सम्पर्क तथा मन की चंचलता,ये 6 योग को नष्ट करने वाले बाधक तत्व है।

साथ ही हठप्रदीपिका नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के इकसठवें श्लोक में कहा है कि योग साधना में साधक को अग्नि का सेवन, स्त्री का संग, लम्बी यात्रा, इन्हें छोड़ देना चाहिये ।

हरिहरानन्द जी के अनुसार–

एते विक्षेप सहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहित चित्तस्यैते न भवन्ति।।

अर्थात् – ये विक्षेप सहभुव विक्षेपों के साथ उत्पन्न होते है। विक्षिप्त चित्त में ही ये होते है, समाहित चित्त में नहीं होते है।

18.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने जाना कि साधक को अपने साधना काल में किस प्रकार से रूकावटों का सामना करना पड़ता है। केवल योग साधक ही नहीं बल्कि एक सामान्य व्यक्ति भी अपनी दैनिक चर्चा में इन विक्षेपों से प्रभावित होता है। बिमारी, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, आसक्ति, भ्रम, आदि उसे निरन्तर किसी न किसी रूप में घेरे रहते हैं। इसी के साथ दु:ख, दौर्मनस्य, कम्पन, श्वास–प्रश्वास भी विक्षेपों के साथ होते है उनके सहयोगी रूप में रहते हैं।

प्रस्तुत इकाई को पढ़कर हर स्तर का व्यक्ति अपनी विषय सम्बन्धित जिज्ञासा का समाधान करने में सक्षम हो सकेगा ये सोचकर ही प्रस्तुत इकाई को विस्तारपूर्वक समझाने का प्रयास किया गया है।

18.7 शब्दावली

ज्वर – बुखार
व्याधि – बीमारी
स्त्यान मानसिक आलस्य
संशय शक
प्रमाद लापरवाही
आलस्य –शारीरिक अकर्मण्यता
अविरति मोह राग
भ्रान्तिदर्शन– जो सत्य नहीं है उसको देखना
दुर्बलता कमजोरी
ईश्वर प्राणिधान – ईश्वर पर पूर्ण समर्पण
शिथिल दृशांत ढीला पड़ना
तृष्णा आसक्ति
विरक्ति मोह रहित होना
ध्येय लक्ष्य (धारण करने योग्य)

18.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

योग प्रभाकर – स्वामी केशवानन्द
योग विज्ञान – स्वामी विज्ञानन्द सरस्वती
मुक्ति के चार सोपान – स्वामी सत्यानन्द

योग दर्शन	–	गीता प्रेस गोरखपुर
पातंजल योगपद्रीप	–	गीता प्रेस गोरखपुर

18.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.योग साधना में आने वाले विघ्नों का वर्णन करो।
2.नौ अन्तराय क्या है? इन्हें विस्तार से समझाऐं।
3.व्याधि विक्षेप को विस्तार से समझाये।
4.स्त्यान क्या है? यह किस प्रकार से योग साधना में रूकावट उत्पन्न करता है? समझायें।
5.संशय द्वारा किस प्रकार साधक की साधना बीच में छूटने की सम्भावना रहती है?
6.प्रमाद किस प्रकार से विक्षेप है?समझाऐं।
7.आलस्य अन्तराय को विस्तार से समझायें।
8.अविरती द्वारा किस प्रकार साधक को अपनी साधना में सफलता मिलने में रूकावट होती है? समझाएं।
9.भ्रान्तिदर्शन को विस्तार से समझाऐं।
10.अलब्ध भूमिकत्व क्या है? इसका विस्तार से वर्णन करें।
11.अनवस्तित्व क्या है? विस्तार से समझाऐं।
12.विक्षेप सहभूव क्या है? इनका विस्तार से वर्णन करें।

इकाई 19 चित्त प्रसादन

19.1 प्रस्तावना

19.2 उद्देश्य

19.3 चित्त प्रसादन

19.4 चित्त प्रसादन के उपाय

19.4.1 प्रथम उपाय

19.4.2 दूसरा उपाय

19.4.3 तीसरा उपाय

19.4.4 चौथा उपाय

19.4.5 पांचवां उपाय

19.4.6 छठा उपाय

19.4.7 सातवॉ उपाय

19.4.8 आठवां उपाय

19.5 सारांश

19.6 शब्दावली

19.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

19.8 प्रश्नोत्तर

19.1 प्रस्तावना–

यह यथार्थ सत्य है कि ईश्वर उसी का नाम है जो ऐश्वर्यवाल हो, राजा उसी का नाम है जिसकी प्रजा हो, राजोचित वैभव हो, इसी प्रकार योगी वही है जिसके अन्दर अलौकिक शक्ति पुॅज हो और जो निरन्तर योग के अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) तक पहुचने के लिए प्रयासरत हो और यह तब सम्भव होता है जब योगी की चित्त वृतियों का निरोध होता है, महर्षि पतंजलि ने इसे ही समाधि की अवस्था अर्थात योग कहा है। और इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए योग साधना में विभिन्न बाधाये आती रहती है वस्तुतः योग साधना का मार्ग तरह–तरह की कठिनाइयों कष्टों से भरा हुआ है इसमें पग–2 पर साधक को विभिन्न प्रकार के अवरोधो का सामना करना पड़ता है। पथ की विषमता के कारण ही उसे छुरे की धार के समान दुर्गम बताया गया है आश्चर्य नही है कि साधक इसमें कई बार गिरता है परन्तु अपने ध्येय के प्रति समर्पित साधक हर बार उठकर वीरता व प्रसन्नता से आगे बड़ता है और उसकी प्रत्येक असफलता सफलता की सीढ़ी बनती है। तथा फिर वह अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहॅुचकर रहता है। जहॉ एक ओर योग साधना में अवरोध व विक्षेप आते है, वही

दूसरी ओर कुछ ऐसे तत्व है जो योग में साधक तत्व है, जिन्हें महर्षि ने चित्त प्रसादन कहा है। विविध विक्षेपो से विक्षिप्त चिन्त में जिस प्रकार अन्तराय (बाधक तत्व) उत्पन्न होते है उसके अभ्यास में बहुत अधिक बाधा उपस्थित हो जाती है अतः उन विक्षेपो को दूर करने के लिए चित्त प्रसादन या यू कहें कि चित्त की प्रसन्नता का अभ्यास करना चाहिए ।

19.2 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई को पढ़कर जिज्ञासु जान पायेंगे कि

- चित्त प्रसादन क्या हैं ?
- चित्त प्रसादन के कितने उपाय होते है ?
- महर्षि पतंजलि ने चित्त प्रसादन की आवश्यकता पर जो क्यों दिया ?
- चित्त प्रसादन के उपायो में एक तत्व का अभ्यास क्या होता है ?
- प्राणायाम द्वारा किस प्रकार चित्त शुद्ध होता हैं ?
- इन्द्रिय अनुभव किस प्रकार से चित्त को शुद्ध करता है ?
- शोक रहित ज्योति क्या हैं? और किस प्रकार यह चित्त को स्थिर एवं निर्मल करती हैं।
- अनासक्ति से युक्त महापुरूषो का ध्यान चित्त को निर्मल बनाने में किस प्रकार सक्षम हैं?
- निद्रा एवं स्वप्न को जोकि तमोगुण प्रधान होतें है इनके द्वारा किस प्रकार चित्त को निर्मल किया जा सकता है ?
- साथ ही महर्षि पतंजलि ने अन्त में एक इनसे भी सरल साधन बताया हैं जो कि चित्त की शुद्धि में बहुत ही प्रभाव कारी होगा उसका वर्णन भी आगे किया गया है।

19.3 चित्त प्रसादन –

चित्त व प्रसादन इन दो शब्दो से चिन्त प्रसादन शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। चित्त यानि चेतना और प्रसादन का तातपर्य सफाई (स्वच्छता) से है। अर्थात अपनी उस अन्तरचेतना की सफाई जो जन्म–जन्मान्तरो तक के संस्कार ले जाती है तथा जिसके प्रसादन से योग के अन्तिम लक्ष्य का मार्ग प्रशस्त होता है। और इस पर विक्षेप से योगी का पथ कष्टमय हो जाता है।

19.4 चित्त प्रसादन के उपाय –

योगी को साधना मार्ग में आने वाले विक्षेपो को दूर करने के लिए तीव्र अभ्यास करना चाहिए।महर्षि पंतजलि ने अपने योग सूत्र के प्रथम अध्याय में 32 से 39 सूत्र तक चित्त प्रसाधन के आठ उपायों का वर्णन किया है । जो इस प्रकार से है –

19.4.1 प्रथम उपाय –

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः (1/32 पा0यो0सू0)

अर्थात– तत्प्रतिषेधार्थम्– उन विक्षेपो को दूर करने के लिये।

एकतत्वाभ्यासः– एक तत्व का अभ्यास करना चाहिये।

अर्थात– पतंजलि मुनि कहते है कि उन विक्षेपो को दूर करने के लिये एक तत्व का अभ्यास करना चाहिये एक तत्व द्वारा चित्त की स्थिति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

विपेक्ष और उपविक्षोपो को दूर करने के लिये किसी एक ऊँ (इष्ट) तत्व में चित्त को बार–बार लगाना चाहिये अर्थात चित्त की स्थिरता के लिये यत्न करना चाहिये। इस प्रकार एकाग्रता के होने पर विक्षेपो का नाश होता हैं। यह एक साधारण उपाय है सबसे उत्तम उपाय तो ईश्वर प्रणिधान है।

वाचस्पतिमिश्र ने एक तत्व का अर्थ ईश्वर बताया है–

एक तत्वमीश्वरः

(तत्ववैशारदी टीका 1/32)

अर्थात– एक तत्व ईश्वर ही है और एक तत्वाभास ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर प्राणिधान से समस्त अन्तराय दूर हो जाते है। विज्ञानभिक्षु तथा भोजराज ने एक तत्व का अर्थ किसी एक अभिमत तत्व किया हैं।

परन्तु वाचस्पतिमिश्र का ही विचार समीचीन है। क्योंकि यदि हम किसी तत्व विशेष –जले,वायु,अग्नि आदि में चित्त को एकाग्र करेंगे तो चित्त थोडी देर के लिये एकाग्र हो जायेगा लेकिन इससें त्रितापों की निवृत्ति नही होगी तापत्रय की निवृत्ति हुये बिना योग नहीं होगा जिससे फिर मोक्ष प्राप्त करना असम्भव होगा।और यदि ईश्वर में चित्त को स्थिर करेंगे तो उनकी अनुकम्पा से हमारी तापत्रय आदि की भी निवृत्ति हो सकती है। समाधि अवस्था भी प्राप्त हो सकती हैं। जिससे मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव हैं। इसमें कोई सन्देंह नहीं हैं।

कठ0 1/3/13 के अनुसार –

एक तत्व अभ्यास के अवलम्बनों में ईश्वर तथा अहंभाव उत्तम हैं। प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली चित्त वृत्तियों क मैं दृष्टा हूॅं इस प्रकार अहंरूप एकालम्बन का स्मरण करते रहना अत्यन्त चित्त प्रसाद कारक होता है। यही कठ0 1/3/13 में निर्दिष्ट ज्ञान–आत्मा की धारणा हैं।

बौद्धो की गाथा हैं–

''सभी संस्कार अनित्य हैं वे उत्पाद लयधर्मी है वे उत्पन्न होकर विलीन होते है। उनका उदय–लय का विराम ही सुख या निर्वाण होता है।''

हम कह सकते है कि चित्त के प्रसादन के लिए इस सूत्र में अनेक और भिन्न–भिन्न विषयों से मन को हटाकर एक ही विषय में एकाग्रता करके चित्त को शुद्ध करना एवं सरल साधन बताया है। इससे साधक साधना मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने में सफल हो पायेगा।

उदाहरण के लिये साधक जैसे किसी मंत्र का जाप करता है तो वो मंत्र को निरन्तर जपे उसे बदले नहीं, यदि साधक किसी इष्ट का जाप करता है तो उसी में स्थिर रहे, व आदि। अन्यथा साधना मार्ग में आने वाली बाधाएं और बढ़ जाती है। मन स्थिर नहीं रहेगा प्रतीक में भिन्नता होने से मन में अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न होने लगते है और फलस्वरूप चेतना अर्ध्वगामी नहीं हो पाती। साधक लक्ष्य तक नहीं पहुॅच पाता। इसलिये साधना के उच्चशिखर तक पहुचने के लिये,उसमें सफलता प्राप्त करने के लिये ये आवश्यक है कि साधक एक तत्व में एकाग्रता बनाये और उसमें स्थिर मार्ग में आने वाली समस्याओं को दूर करे साथ ही साधना की पराकाष्ठा प्राप्त करें।

19.4.2 दूसरा उपाय –

चित्त में रागद्वेष आदि मल विद्यमान रहने के कारण चिन्त स्थिर नही होता अंत में चित्त को निर्मल बनाने के लिये दूसरा उपाय इस तरह से है–

मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् (1/33 पा0यो0सू0)

अर्थात –सुखी,दुःखी, पुण्यवान, पापवान प्राणियों में यथाक्रम मैत्री, करूणा, दया, प्रसन्नता, उपेक्षा की भावना करने पर चित्त प्रसन्न होता है।

उपरोक्त सूत्र में वर्णित एक तत्व के अभ्यास के लिये मन का शान्त एवं शुद्ध निर्मल होना अत्यन्ताश्यवक है। यहां पर इसके साधनो को स्पष्ट किया गया है।

व्याख्या –इस संसार में सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा पापात्मा आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति होते है उनमें से सुखी व्यक्ति के प्रति मैत्री भावना करनी चाहिए। दुखित प्राणियों के प्रति करूणा यानी दया की भावना रखनी चाहिए। पुण्यात्माओं या धर्मात्माओं के प्रति मुद्रिता (प्रसन्नता) की भावना रखनी चाहिए, और पापात्माओं (पापी व्यक्तियों) के प्रति उपेक्षा (उदासीन) बुद्धि रखनी चाहिए। इस प्रकार की भावना करने से चित्त स्वच्छ दर्पणवत् निर्मल बन जाता है और तब शुक्ल धर्म का उदय होता है। फलस्वरूप चित्त एकाग्र होकर स्थिति पद को पा लेता है। सीयाराम जी द्वारा रचित पा0यो0प्र0 के अनुसार हमारे चित्त में 6 प्रकार के कालुष्य होते है – राग, ईर्ष्या, परोपकार चिकीषी, असूया, द्वेष, अमर्ष । ये 6 धर्म चित्त को मलीन करते है जिससे इन्हें चित्त के मल कहते है।

राग कालुष्य– जब किसी वस्तु व्यक्ति के प्रति मोह ग्रस्त होकर व्यक्ति राजस वृत्ति–विशेष होने के कारण यह सोचता है कि यह सर्वदा मुझे प्राप्त हो। वह राग कालुष्य है और जब इस सुख की प्राप्ति नहीं होती है तो चित्त विक्षिप्त होता है

ईर्ष्या कालुष्य– दूसरे की धन सम्पत्ति गुण आदि की अधिकता देखकर चित्त में जो जलन उत्पन्न होती है। इससे चित्त विक्षिप्त होता है।

परोपकार चिकीर्षा–कालुष्य– किसी के उपकार करने की इच्छा चित्त को विक्षिप्त करती है

असूया कालुष्य– दूसरो के गुणो में दोष आरोष करना।

द्वेष कालुष्य– क्षमा का विरोधी,चित्त विक्षिप्त करता है

अमर्ष कालुष्य'– किसी से कठोर वचन सुनकर किसी प्रकार से अपमानित होकर उसको सहन न करके बदला लेने की इच्छा।

इस कालुष्यो (मलो) से मलीन होकर चित्त विक्षिप्त होता है। और स्थिति के साधनों में चित्त एकाग्र नही हो पाता। मैत्री करूणा मुद्रिता (प्रसन्नता) उपेक्षा (उदासीनत) के भाव से चित्त को शुद्ध करने के उपाय बताये गये है। अन्यथा चित्त शुद्ध हो ही नहीं सकता। प्रत्येक योगी के लिए ये नितान्त आवश्यक है।

भोज महाराज ने इस सूत्र की व्याख्या निम्न प्रकार से कि है–

1 मैत्री = प्रेम
2 करूणा = दया
3 मुदिता = हर्ष
4 उपेक्षा = उदासीनता

इन चारो को क्रम से सुखियों, दुखियों, पुण्यवालो, पापियों में व्यवहार करना चाहिए

जैसे– सुखी जनों में ये सुखी है ऐसा समझकर उसके साथ प्रेम करें ना कि ईर्ष्या।

दुःखी को देखकर, इसके दुःख की निवृत्ति कैसे हो इस प्रकार दया ही करे ना की घृणा और तिरस्कार।

पुष्यात्माओं में उनके पुण्य की बढ़ाई करके अपनी प्रसन्नता ही प्रकट करें ना कि यह पुण्यात्मा क्यों है ? ऐसा विरोध।

पापियों में उदासीनता को धारण करें अर्थात न उनके पाप में सम्मति प्रकट करें न उससे द्वेष करें।

मुख्यतः राग और द्वेष ये चित्त विक्षेप चित्त को उसे मलीन करने के मुख्य कारण है। यदि इन दोनों को जड़ से उखाड दिया जाय तो चित्त की प्रसन्नता होने से एकाग्रता होती है।

योग व्यासभाष्य के अनुसार –

तत्र सर्व प्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्री भावयेत, दुःखितेषु करूणाम्,

पुष्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुव्यात्मकेषु उपेक्षाम्।

अनुवाद– सुखसम्भोगयुक्त प्राणियों में मैत्रीभावना करनी चाहिए। दुःखीत प्राणियों में करूणा, पुण्यात्माओं में मुदिता (प्रसन्नता) अपुण्यात्माओं में उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसा करते करते शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है जिससे चित्त निर्मल होता है, एकाग्र होता है।

भागवत में स्पष्ट किया गया है –

हर्षशोकभय क्रोध लोभ मोह स्पृहादया।
अंहकारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युशचनात्मनः।।

भगवान कृष्ण उद्धव से कहते है कि हे उद्धव| हर्ष, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह, अंहकार और इच्छादिक समस्त विकार अन्तः करण में ही दर्शन में आते है। अतः वे सब अन्तकरण के ही धर्म है। जन्म मृत्यु भी स्थूल शरीर का ही धर्म है इसमें से कोई भी धर्म आत्मा के नही है। आत्मा ही सबसे परे है, वह बुद्धि आदि का साक्षी मात्र है। अतः साधक को केवल आत्म लाभ के लिये ही उपाय करना चाहिए।

19.4.3 तीसरा उपाय– अब चित्त शुद्धि के लिय तीसरा उपाय इस प्रकार से है–

प्रच्छर्दन विधारणाभ्यांवा प्राणस्य। (1/34 पा0यो0सू0)

प्रच्छर्दन = नासिक द्वारा प्राणवायु बाहर फेकना
विधारणाभ्यां = बाहर ही रोक देना (बहिकुम्भक)
वा = अथवा
प्राणस्य = प्राणो का।

अर्थात – उदर में स्थित प्राणवायु को बारम्बार बलपूर्वक बाहर निकालने और बाहर ही रोक देने से अर्थात प्राणायाम करने से भी चित्त एकाग्र निर्मल स्वच्छ होकर स्थिरता को प्राप्त करता है।

इस सूत्र में श्वास को बाहर निकालने, भीतर लेने और रोकने की क्रिया के द्वारा चित्त को निर्मल करने की बात कही गई हैं। साधक के मन में प्रश्न उठ सकता है कि सामान्यतः श्वास को लेने छोड़ने की प्रक्रिया तो जन्म से लेकर मृत्यु तक चलती ही रहती है परन्तु इससे चित्त निर्मल तो नहीं होता है। इसके उत्तर में हम कह सकते है कि व्यक्ति कभी भी उसके प्रति सजग नहीं होता जिसके कारण इसमें अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है फलतः अनेकानेक रोग व्यक्ति को हो जाता है।

सामान्यतः व्यक्ति उथली श्वास लेता है वह न तो पूरी श्वास फेफड़ो से बाहर निकालता है और न ही बाहर से शुद्ध वायु को पूरे फेफड़ो तक पहुॅचा पाता है। जिससे श्वास तंत्र की कार्य क्षमता भी कमजोर हो जाती है। शरीर में रक्त शुद्धि पूर्ण रूप से नहीं हो पाती है फलतः रक्त परिसंचरण तंत्र शुद्ध रक्त को मस्तिष्क के साथ अन्य स्थानों में पहुॅचने में सक्षम नहीं हो पाता। इन सब के कारण शरीर की क्षमता कमजोर पड़ती जाती है। शारीरिक कमजोरी मानसिक कमजोरी को उत्पन्न करती है ऐसे में आध्यात्मिक उन्नति के बारे में तो व्यक्ति सोच भी नहीं सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि पतंजति ने श्वास को बाहर निकालने और उसे बाहर ही रोक देने की जो प्रक्रिया बताई है इसमें उन्होंने अव्यवस्थित श्वास प्रक्रिया को प्राणायाम प्रक्रिया द्वारा फिर से ठीक कर शरीर और मन को स्वस्थ कर अध्यात्मिक उन्नति करने का साधन बताया है।

प्राणायाम द्वारा प्राण शक्ति को धारण कर उसका शरीर में विस्तार किया जा है। प्राण जीवनी शक्ति को जान सकते है। योग मे ंमुख्य 5 प्राण की चर्चा मिलती है प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान,। इसके साथ 5 उपप्राणो का भी वर्णन मिलता है। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनन्जय इन प्राणो के कार्य शरीर में बटे होते है। स्थान विशेष में अमुक प्राण की कमी होने पर उस स्थान के रोग उत्पन्न हो जाते है। ये कुल 10 प्राण नाड़ियो में गति करते है ये नाड़िया ही इन प्राणो को पूरे शरीर में पहुॅचाती है। एक शरीर में हजारो की संख्या में नाड़िया होती है। ये शरीर में सूक्ष्म प्रभाव डालती है।

श्वास की गति मन और शरीर को प्रभावति करती है। प्राणयाम द्वारा हम इसे नियन्त्रित करके अपने अनुकुल बनाते है। ग्रन्थो में वर्णन मिलता है कि हर जीव को श्वास गिनकर मिली है वह अपने जीवन काल में जितनी दिनों तक उसे प्रयोग करेगा वह उतना जीवित रहेगा। भौतिक जगत की गतिविधियो में श्वास ज्यादा तेज चलती है। जबकि आध्यात्मिक साधना में श्वास उतनी ही धीमे चलती है। जिससे व्यक्ति की आयु बढ़ती है और वह अपनी चेतना को उच्चतम शिखर तक पहुचाने में भी सक्षम होता है।

योग व्यास भाष्य – कोष्ठस्य–––––––––––सम्पादयत्

अर्थात – कोष्ठ (उदर) में स्थित प्राणवायु को प्रयत्न विशेष यानी वमन के सदृश वेग पूर्वक नासिका छिद्रो के द्वारा बाहर निकाल देना प्रच्छर्दन है। उस बाहर निकाले गये वायु को बाहर ही रोक देने को विधारण कहते है। यथाशक्ति बाह्रय धारण करने के अनन्तर स्वाभाविक स्थिति में आ जाय। प्रच्छर्दन और विधारण रूप इन दोनो उपायों से मन की स्थिति को एकाग्र सम्पादन करें । पुनःपुनः अभ्यास करना चाहिए।

विद्यानानन्द सरस्वती पा0 यो0 द0 में इस विधि को 8–10 बार प्रातः काल सिद्धासन या पद्मासन में कुम्भक और भास्त्रिका प्राणायाम के साथ करने को कहा है

महाभारत (शान्ति0 3/6/10)– ''वाताधिक्यं भवत्येव तस्मातन्न समाचरेत्''

अर्थात– प्रत्येक प्राणायाम में श्वास के साथ चित्त को भी भाव विशेष से एकाग्र करना पड़ता है।

अमृनाद उप0 11 – ''शून्य भावेन युन्जीयात्''

अर्थात– प्राण को शून्य भाव से यूक्त करना चाहिये।

मनुस्मृति– जिस प्रकार अग्नि में धातु का मल समाप्त होता है उसी प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रिय दोष समूह भी क्षीण होकर नष्ट हो जाते है

चले बाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्

अर्थात– प्राण वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चलायमान होता है और वायु के स्थिर होने पर चित्त भी स्थिर होता है। प्राण और चित्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः प्राण का सयमं चित्त की स्थिरता के लिये आवश्यक है।

19.4.4 चौथा उपाय –

चित्त की स्थिरता के लिये अन्य उपाय इस प्रकार है–

विषयवती वा प्रवृत्तिस्तपन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनि

(1/35 पा0यो0सू0)

विषयवती = दिव्य विषय वाली

वा = अथवा

प्रवृत्ति = प्रवृत्ति

उत्पन्न = उत्पन्न हुयी

मनस्ः = मन की

स्थिति निबन्धनी = स्थिति में बांधने वाली होती है।

अर्थात – दिव्य विषय वाली, प्रवृत्ति उत्पन्न होकर भी मन की स्थिति को बांधने वाली होती है।

विषय = 5 सूक्ष्म तन्मात्रा (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श)

5 स्थूल महाभूत (आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु)

इस बात से हर व्यक्ति परिचित है कि इन्द्रियों के विषय चित्त को अपनी ओर आकर्षित करते है और अपने में बांध देते है। इसी विचारणा को लेकर साधन को स्थिर एवं उसके मन की चंचलता को दूर करने के लिये महर्षि पतंजलि ने इन्द्रिय विषयों में से किसी एक विषय पर मन लगाने की बात कही है।

स्थूल रूप से नाटक द्वारा, संगीत द्वारा, सुर्य, चन्द्रमा आदि विषयों का सहारा लेकर सूक्ष्मतम विषय जैसे चक्र आदि पर मन को बॉधने की बात यहॉ पर की गई है। इनमें से किसी भी साधन द्वारा व्यक्ति सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर पाने मे सक्षम होता है।

योग व्यास भाष्य – नासिकाग्रे––––––––––––––––––––––– द्वारा भवन्तीति।

गन्ध प्रवृत्ति– नासिका के अग्रभाग पर संयम करने वाले योगी को जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है अर्थात अनुभव होता है।

रस प्रवृत्ति– जिह्वा के अग्रभाग पर संयम के द्वारा चित्त को एकाग्र करने वाले योगी को जो दिव्य रस का अनुभव होता है।

रूप प्रवृत्ति – अपने तालु में संयम के द्वारा चित्त को स्थिर करने वाले योगी को जो दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है।

स्पर्श प्रवृत्ति– जिह्वा के मध्यभाग में संयम द्वारा चित्त को एकाग्र करने वाले योगी को जो दिव्य स्पर्श को अनुभव होता है।

शब्द प्रवृत्ति – जिह्वा के मूल भाग में संयम के द्वारा चित्त का एकाग्र करने वाले योगी को जो दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है।

इस प्रकार से ये प्रवृत्ति उत्पन्न होकर चित्त को स्थिरता में बांध देती है। संशय का नाश कर देती है समाधि प्रज्ञा (विवेकख्याति) प्राप्त होती है। समाधि में प्रवेश करने के लिये ये द्वार के समान है।

यद्यपि गुरूपदेश, अनुमान, शास्त्र में बतायी गई बातें सत्य होती है। परन्तु जब तक उनका अंश प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक उनमें पूर्ण विश्वास नहीं होता। इसलिए गुरूपदेश, अनुमान, शास्त्रों में पूर्ण विश्वास के लिये इन विषय प्रवृत्तियो में से किसी एक का अभ्यास हो जाने से शास्त्र और गुरू उपदेशो में विश्वास हो जाता है और मोक्षादि विषय में श्रद्धा होने लगती है।

पं0यो0 प्रदीप गोरखपुर के अनुसार – विश्वास और श्रद्धा के लिये तथा चित्त की स्थिति के लिये पहले इन विषयवती प्रवृत्तियों में से किसी एक का सम्पादन करना चाहिए.।

शंकर भाष्य – ज्योतिष्मती ––––––––––––––––––––––– योमाचिन्तका।

अर्थात– ज्योतिष्मती, स्पर्शवती, रसवती, तथा गन्धवती ये चार प्रकार की प्रवृत्तियां है। इन योग प्रवृत्तियो में से यदि कोई एक भी उत्पन्न हो जाये तो उसे योगाविचार का योगी कहते है।

19.4.5 पांचवां उपाय – चित्त की शोक रहित ज्योतिष्मति प्रवृत्ति तीसरा उपाय आगे सूत्र में बताया गया है– ''विशोका वा ज्योतिष्मती'' ।

(1/36 पा0यो0सू0)

विशोका = शोक रहित

वा = अथवा

ज्योतिष्मती = प्रकाशवाली (प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाधने वाली होती हैं)

अर्थात – शोक रहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाने पर मन (चिन्त) की स्थिति को बाधने वाली अथात स्थित और निश्चल बनाने वाली होती है।

व्याख्या – ''उत्पन्ना मनस्ः स्थितिनिबन्धिनी'' अर्थात प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाधने वाली होती है, इसकी अनुवृत्ति यहा है।

विशोक – सुखमय (सात्विक) अभ्यास से जिसका शोक दुःख दूर हो जाता है। अर्थात जो गुण का परिणाम दूर हो गया है।

''विगतःशोकः यस्यासा विशोका''

(पा0यो0द0 स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती)

अतः शोक रहित प्रकाश वाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति (पा0यो0द0 स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती) को बाधने वाली होती है।

ज्यातिः = सात्विक प्रकाश

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति = जिसमें सात्विक प्रकाश अधिक या श्रेष्ठ हो वही प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है। ये प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। – 1. चित्तसंवित् = चित्त में संयम

2. आस्मिकता संवित् = आस्मिक में संयम

संवित = साक्षात्कार

आस्मिता = अहंकार

चित्त विषयक साक्षात्कार और आस्मिता विषयक साक्षात्कार ये दोनो से दोनो विशोक ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के नाम से जाने जाते है।

जिससे चित्त स्थिर भाव को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार पूर्व कही हुई गन्ध संवित रसवसंवित तथा रूपसंवित आदि पांचो प्रवृत्तिया चित्त की स्थिति में हेतु है वेसे ही यहा भी चित्त संवित और आस्मिता संवित नाम वे दोनो प्रवृत्तिया भी चित्त स्थिर्य में हेतु है।

हृदयपुण्डरीके--- शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। हृदय पुण्डरीक में धारण करने से बुद्धि (योग व्यास भाष्य) संयम होती है। चित्त ज्योति के प्रकाश के समान व्यापक होता है। उसमें एकाग्र से उत्पन्न निर्मलता के कारण वह प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र, ग्रह और मणि की कान्ति के रूप में उत्पन्न होती है। इसी प्रकार आस्मिता में धारण करने से संयम चित्त महान समुद्र के समान शान्त अनन्त और आस्मिता रूपी हो जाता है।जब चित्त सतागुणी प्रधान हो जाता है उस समय उसकी निर्मलता से पुरूष प्रकृति का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। दृष्ट रूप उत्पन्न होने पर समस्त प्रकृति जन्य पदार्थो को पुरूष निर्लिप्त भाव से देख पाता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा होती है। इस समय पुरूष समस्त पदार्थो के शान्त उदित और अव्यपदेश्य धर्मो का भी साक्षात्कार करता है। इस स्थिति को विशोका ज्योतिष्मती स्थिति कहते है।

अन्तः करण में उत्पन्न ये दिव्य ज्योति मन को शान्त करती है। यह अनन्त ज्योति शांत, गंभीर एवं प्रशांतक होती है वहिर्ज्योति की तरह अस्थिर और तेज नही होती है इस दिव्य ज्योति को नाद एवं भ्रूमध्य परा एकाम्रता के द्वारा भी देखा जा सकता है।

भाष्यकार पचशिखा चार्य के अनुसार अस्मिता–तमणुमात्रमात्मानमनु विद्यास्मीत्येव तावस्सम्प्रजानीत उस अणुमात्र (सूक्ष्म) आस्मिता का संयम (धारणा) अर्थात आत्म को जानकर हूॅ (अस्मि) इतना ही जानता हैं।

वाचस्पति मिश्र ने तत्ववैशारदी टीका में कहा है–

उदर नाभि से दश अंगुल ऊपर हृदय के मध्य कमल है। वह लाल वर्ण, उदल, 5 छिद्र अधोमुख एवं संपुटित है। प्राणायाम के द्वारा उस कमल को उर्ध्वमुखी किया जाता है। उर्ध्वमुखी हृदय कमल में सूर्यमण्डल अकार तथा जाग्रित स्थल है उसके ऊपर ऊकार चन्द्रमण्डल तथा स्वप्न स्थान है। उसके ऊपर मकार बहिमण्डल तथा सुषुप्ति स्थान है उसके ऊपर आकाश स्वरूप ब्रह्मनाद अर्द्धमाता तुरीय स्थान है। ऐसा ब्रह्मवादी लोग कहते है। इस कमल के बीच में सुषुम्ना है उससे भी सूक्ष्म एक ब्रह्मनाड़ी है यह नाडी सूर्य मण्डल के बीच से होकर 10 वे द्वार ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुची हैं इस नाड़ी का वेग बाहर के सुर्यमण्डल से भी ओत प्रोत है। यह चित्त का निवास स्थान है सुषुप्ना नाड़ी में संयम करके चित्त को एकाग्र किया जा सकता है। जिससे चित्त सात्तिक ज्योति के समान कभी सूर्य कभी चन्द्र कभी नक्षत्र कभी मणि के प्रकाश के समान दिखता है। बाद में चित्त का साक्षात्कार होता है। ये चित्त का साक्षात्कार ही ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के नाम से जाना जाता है। (पा0योग प्रदीप सीयाराम गोरखपुर पा0योग दर्शन विज्ञानान्द सरस्वती) इस प्रवृत्ति में सूर्य, चन्द्र आदि अनेक विषय होने से ये विषयवती है।चित्तसंयम प्रवृत्ति विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृति है अस्मिता संयम प्रवृत्ति मात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है इन दोनो प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने पर भी योगी का चित्त स्थिति पद को प्राप्त कर लेता है

अंगष्ठामात्रो रवितुल्यरूपः

अर्थात सुर्य चन्द्र आदि के रूप भी अस्मिता का काल्पनिक रूप होता है।

अस्मिता ध्यान का स्वरूप न समझने से कैवल्य पद समझना कठिन है। आस्मिता ध्यान के अभ्यास से स्थिति लाभ होता है। एकाग्र भूमि सिद्ध होकर सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होते है।

19.4.6 छठा उपाय – चित्त को स्थिर करने का एक और उपाय–

वीतरागविषयं वा चित्तम्

(1/37पा0यो0सू0)

राग रहित योगियो के चित्त विषय की धारणा करने वाला, वा = अथवा, चित्तम् = चित्त
अर्थात– राग रहित योगियो को विषय करने वाला चित्त भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है।
व्याख्या–जिन महान योगियो ने विषयो की अभिलाषा पूर्णतया छोड दी है। जिसके कारण उनके चित्त से अविद्या आदि क्लेशो के संस्कार मिट गये है। उनके चित्त का ध्यान करने वाले चित्त में भी वैसे ही सात्विक संस्कार उत्पन्न होते है और वह सुगमता से एकाग्रं हो जाता है

अर्थात यदि साधक क्रमशः व विषयराग रहित अवस्था को प्राप्त करके पूर्ण वैराग्य की भूमि पर पॅहुच जाय तो भी मन की स्थिति के बांधने में समर्थ हो जायेगा।

वीतराग (राग रहित) (व्यास भाष्य) महापुरूष की संगति में उसका 'निश्चिन्त, इच्छाशून्य भाव को लक्ष्य बनाना चाहिये लक्ष्य बनाने में सहज ही राग रहित भाव हमारे ह्रदय में उतरने लगगे। कल्पना–पूर्वक हिरण्यगर्भादि के राग रहित चित्त में अपने चित्त की स्थापना करके ध्यान करने से भी यह राग रहित भाव (वीतराग) सिद्ध हो जाता है।

19.4.7 सातवॉ उपाय – स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनं वा

(1/37पा0यो0सू0)

अर्थात– स्वप्न ज्ञान और निद्राज्ञान का अवलम्बन करने वाले चित्तका भी स्थैर्य हो जाता है।

जागृत अवस्था में चित्त रजोगुण प्रधान रहता है, जिसके कारण वृत्तियां बहिमुखी होती है।

स्वप्न में रजोगुण बना रहता है परन्तु तमोगुण भी साथ होता है जिसके कारण वृत्तियां अन्तमुखी हो जाती है। तमो गुण की प्रधानता के कारण निद्रा में राजोगुण दब जाता है। इसलिये उस समय केवल अभाव की प्रतीती होती है।

अभाव प्रत्यालम्बना वृत्ति निद्रा।

अर्थात– अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा है। स्वप्न और निद्रा ज्ञान के अवलम्बन से ये अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वप्न में तमोगुण के कारण वृत्तियां अन्तमुखी होती, इसी प्रकार ध्यान की अवस्था में तम के स्नान पर सत्वगुण से वृत्तियो को अन्तमुखी करना चाहिये। और जिस प्रकार निद्रा में तमोगुण की अधिकता से अभाव का आभास होता है उसी प्रकार सत्वगुण की प्रधानता से एकाग्रता उत्पन्न करनी चाहिये। जिससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके। इस प्रकार स्वप्न ओर निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन करने से मन स्थिर हो जाता है।

व्यासभाष्य–स्वप्न ज्ञानलम्बनं निद्राज्ञानालम्बनं वा

तदाकारं योगिनश्चिन्तं स्थितिपदं लभतइति।।

स्वप्न ज्ञान निद्राज्ञान का अवलम्बन करके भावना करने पर चित्त स्थिति लाभ करता है।
स्वप्न काल में बाह्रय ज्ञान रूद्र होता है मानस भाव समूह : प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है।
इस प्रकार के ज्ञान का अवलम्बन करना स्वप्नज्ञानाम्बन है।

निद्रावस्था में बाह्रय और मानस दोनो प्रकार के विषय तम से अभिभूत हो जाते है और केवल जड़ता रह जाती है। बाह्रय ओर मानस रूद्र भाव का आलम्बन करके उसका ध्यान करना निद्राज्ञानालम्बन है।

विज्ञान भिक्षू– दीर्घ स्वप्न मिमं विद्धिदीर्घ वा चित्त विभ्रमम्।

इस प्रपंच का लम्बा स्वप्न जानो या लम्बा चित्त का भ्रम समक्षो।

अर्थात जिस प्रकार कभी–2 मनुष्य अच्छे सात्विक और मनोरंजक स्वप्न तथा गहरी सात्विक निद्रा के पश्चात् जागने पर कुछ समय तक उसी भाव को बनाये रखता है वैसे ही जाग्रत अवस्था से भूल – जैसे हसेकर वृत्तियों को अन्तमुखी करते रहने से चित्त एकाग्र हो जाता है।

19.4.8 आठवां उपाय –

साधक में योग्यता तथा भिन्न–2 रूचि होने को कारण जिस देवता में भी रूचि हो उसी का ध्यान करे। साधक को ध्यान के लिये स्वतन्त्रता देते हुये आगे कहते है–

यथाभिमत ध्याना द्वा।

(1/38पा0यो0सू0)

अर्थात– यथा अभिमत ध्यानात् – जिसको जो अभिमत हो (अनुकुल हों) उसी का ध्यान करना चाहिये। उसके ध्यान से चित्त स्थिर होता है।

मनुष्य की भिन्न–2 रूचियां होती है, इस कारण जिसकी जिसमें शास्त्रीय मर्यादानुसार सात्विक श्रद्धा हो उसमें ध्यान लगाने से चित्त एकाग्र होता है।

योग व्यास भाष्य – योगी को जो भी वस्तु अभीष हो उसी का ध्यान करे। जिस रूप का ध्यान करे उस रूप में स्थिरता को प्राप्त हुआ चित्त उससे भिन्न अन्य वस्तु में भी स्थिति पद को प्राप्त हो जाता है।

विज्ञान भिक्षु– अधिक कहा तक करे, जो भी ईष्टदेव साधक को अभिष्ट हो वह उसी का ध्यान करे। जैसे हरि, शिवजी है। उनमें से किसी का भी ध्यान किया जा सकता है। इससे चित्त स्थिति पद लाभ करता है। अन्य छू–मन्तर विषयों में भी चित्त स्थिर हो सकता है।

छान्दोग्य 1/6/6 – यह जो आदित्य मण्डल के अन्तर्गत सुवर्णमय या पुरूष दिखायी देता है जो सुवर्ण के समान दाढ़ी मूछो वाला और स्वर्ण के समान केशो वाला ही तााि जो नखपर्यन्त सारा का सारा सुवर्णमय ही है उस हिरण्यगर्भ पुरूष का भी ध्यान कर सकते है।

महर्षि याज्ञवल्यक – 5/5/6 वृहदारण्यक –

आत्मा ही एक मात्र द्रष्टव्य है। दर्शन करने योग्य है। इसी के विषय में श्रवण करना चाहिए भवन निदिध्यासन करना चाहिए। तभी कैवल्य की प्राप्ति सम्भव है।

19.5 सारांश

योग मार्ग में आगे बढ़ने वाले साधको के लिये महर्षि पतंजलि ने अपन योग ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से समझाया है कि मार्ग में जब बॉधाऐ आये तो उन्हें किस प्रकार से दूर करना चाहिये।

योग साधना चित्त को एकाग्र करने एवं उसकी सतत् चलायमान वृत्तियों के विरोध के लिये की जाती है। लेकिन इस श्रेष्ठ मार्ग में जो कि व्यक्ति के कल्याण के लिये है। इसकी साधना के समय अनेक बाधायें आती है। जो योग विक्षेप के रूप में जानी जाती है। ये चित्त में आने वाली बाधाए जो योग साधना में रूकावट उत्पन्न करती है इनको दूर करने के लिये चिन्त की शुद्धि के उपायो का वर्णन महर्षि पतंजलि जी ने अपने योग सूत्र में किया है। इस वर्णित ये 8 उपाय साधक के चित्त को निर्मल एवं स्थिर बनाते है। इन 8

उपायों से किसी एक उपाय को साधन रूप में अपनाने मात्र से ही व्यक्ति का चित्त मलिनता रहित हो जाता है वह साधना में एकाग्रता पूर्वक आगे बढ़ पाने में सक्षम होता है। प्रस्तुत इकाई में चित्त प्रसादन के समस्त उपाय बताये गये है जैसे एक तत्व का अभ्यास, प्राणयाम, इन्द्रियांनुभव विषयो पर मन को लगाना, ज्योति पर ध्यान, महापुरूषो का ध्यान, निद्रा एवं स्वप्न का अवलम्बन लेकर इसके अतिरिक्त महर्षि ने अन्त में ये भी कह दिया की इनके अलावा जिसमें साधक की रूची हो उसमें मन की एकाग्रता बनाकर वह अपने चित्त को स्थिर कर सकता है। इससे सरल और उपाय व्यक्ति विशेष के लिये क्या हो सकता है? जिसमें व्यक्ति अपनी रूची के अनुरूप विषय वस्तु को चुन सकता है।
अतः हम कह सकते है कि चित्त प्रसादन के समस्त उपायो को प्रस्तुत ईकाई में विस्तार से बताया गया है। नये विषय को लेकर जो पाठको की जिज्ञासा होगी उसका समाधान करने का पूरा प्रयास इस इकाई में किया गया है।

19.6 शब्दावली

सुषुप्ति सोया हुआ
पराकाष्ठा उच्च स्थिति
वर्ण रंग

19.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

योग प्रभाकर – स्वामी केशवानन्द
योग विज्ञान – स्वामी विज्ञानन्द सरस्वती
मुक्ति के चार सोपान – स्वामी सत्यानन्द
योग दर्शन – गीता प्रेस गोरखपुर
पातंजल योगपद्रीप – गीता प्रेस गोरखपुर

19.8 निबंधात्मक प्रश्न

(1) महर्षि पतंजलि जी द्वारा वर्णित चित्त शुद्धि के लिये बतायी गयी साधन विधियों का वर्णन करें।
(2) चित्त को निर्मल एवं एकाग्र बनाने के लिये महर्षि पतंजलि जी द्वारा बताये गये एक तत्व के अभ्यास को विस्तार से समझाये।
(3) एक तत्व में एकाग्रता बनाने के साधन के लिये महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित सूत्र का विस्तार से वर्णन करें।
(4) प्राणायाम द्वारा चित्तशुद्धि के विचार को महर्षि पतंजलि ने किस प्रकार से समझाये है? स्पष्ट करें।
(5) इन्द्रियां व्यक्ति को विषय में बाधकर उसके बन्धम का कारण होती है। महर्षि पतंजलि ने किस प्रकार इन्द्रिय विषयों को चित्त शुद्धि के उपाय का साधन बताया है? स्पष्ट करें।
(6)''विशोका वा ज्योतिष्मती'' सूत्र कर व्याख्या करें।
(7) महापुरूषों का ध्यान से किस प्रकार चित्त प्रसादन का उपाय है ? स्पष्ट करे।
(8) योग साधना में निद्रा एवं स्वप्न किस प्रकार बाधओं को दूर कर मन को स्थिर करने में सहायक होती है ? स्पष्ट करे।
(9) इच्छित ध्यान किस प्रकार चित्त को निर्मल कर योग साधना में आगे बढ़ाता है ?

इकाई 20 पंच क्लेश

20.1 प्रस्तावना
20.2 उद्देश्य
20.3 क्लेश का अर्थ
20.4 क्लेश के प्रकार
20.5 क्लेश की अवस्था
20.5.1 प्रसुप्त
20.5.2 तनु
20.5.3 विच्छिन्न
20.5.4 उदार
20.6 पंच क्लेश -
20.6.1 अविद्या
20.6.2 अस्मिता
20.6.3 राग
20.6.4 द्वेष
20.6.5 अभिनिवेश
20.7 पंच क्लेष नष्ट करने के उपाय
20.7.1 प्रतिप्रसव द्वारा
. 20.7.2 ध्यान द्वारा
. 20.7.3 क्रियायोग द्वारा
20.8 सारांश
20.9 शब्दावली
20.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
20.11 निबंधात्मक प्रश्न

20.1 प्रस्तावना

प्रारम्भिक पाठक के लिये यह विषय उसके सामान्य विषयों से निश्चित रुप से भिन्न प्रतीत हो रहा होगा, जिसके कारण विषय की कठिनता बढ़ जाना स्वाभाविक प्रक्रिया है।
प्रस्तुत इकाई में बहुत ही सरल रुप से विषय को नये पाठकों के लिये सरल भाषा में समझाया गया है। जिससे पाठक की समस्त जिज्ञासा एवं शंकाओं का समाधान होने में सहायता मिलेगी।

पंच क्लेश को मिथ्या ज्ञान के रुप में समझा जा सकता है। मिथ्या ज्ञान वह ज्ञान है जो कि व्यर्थ का होता है जिसमें वास्तविकता नहीं होती है। यह अविद्या के कारण उत्पन्न होता है। क्लेश संस्कार रुप में होता है। ये योग साधना में बाधक है इनके साथ

होने पर योग साधक अपनी साधना ठीक रुप से नहीं कर पाता है। इसके लिये ये आवश्यक है कि पहले इन्हें ठीक से जाना जाये फिर इसको समाप्त करने के उपायों को खोजकर उन्हें अपनाकर इनको समाप्त कर दिया जाये। जिससे साधक अपनी साधना में आगे बढ़कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

महर्षि पतंजलि द्वारा योग दर्शन नामक ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के 3–11 सूत्र तक क्लेशों का वर्णन मिलता है।

मनुष्य अपनी सांसारिक प्रकृति के कारण यह सोचता है कि स्वार्थवश होने वाले दुःख ही एक मात्र दुःख होता है। दार्शनिक विद्वान एवं मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि दुःख का आधारभूत कारण वर्तमान मन में नहीं रहता। बल्कि पीछे भूतकाल में छिपा होता है।

क्लेश आन्तरिक पीड़ा उत्पन्न करते हैं जो कि हर प्राणी में पायी जाती है। हम सभी में से प्रत्येक के अवचेतन मन में पीड़ा विद्यमान रहती है। परन्तु दैनिक जीवन की आपाधापी के कारण हम उसके प्रति सचेत नहीं रहते। अन्यथा जीवन के हर क्षण में हमें दुःख और पीड़ा दिखाई देती है।

मनुष्य का बाह्य व्यक्तित्व, आन्तरिक व्यक्तित्व भिन्न–2 होता है। मनोवैज्ञानिक मनुष्य जीवन के अनेक पक्ष मानते हैं, और यह भी कि मनुष्य के भीतर का आंतरिक मानव भिन्न ढ़ंग से व्यवहार करता है। वह बाहर से जो बोलता है उसके भीतर कुछ और भी चल रहा होता है। इसी प्रकार अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व की गतिविधियाँ परस्पर विरोधी होती हैं। व्यक्ति का आन्तरिक जीवन बाह्य जीवन से भिन्न होता है। व्यक्ति के बाह्य व्यक्तित्व को देखकर उसकी वास्तविकता का पता नहीं लगाया जा सकता है। एक धनी और बाहर से सुखी दिखने वाला व्यक्ति भीतर से दुःखी हो सकता है, और बाहर से गरीब और दुःखी दिखने वाला व्यक्ति भीतर से सुखी हो सकता है।

मृत्यु के बारे में सोचकर हर एक जीव के मन में एक डर उत्पन्न होता है। ये हर व्यक्ति में होना स्वाभाविक है। हर कोई अमर रहना चाहता है। सांसारिक सुखों को दीर्घ समय तक भोगना चाहता है। इसलिये शरीर त्याग के बारे में सोचकर ही उसके मन में भय उत्पन्न हो जाता है। बड़े से बड़े ज्ञानी या निम्न बुद्धि वाले व्यक्ति में, पशुओं में भी यह भय होता है। ये सब स्थितियाँ व्यक्ति को बंधन में बाँधती हैं।

20.2 उद्देश्य–

प्रस्तुत इकाई को पढ़कर आप जान पायेंगे कि–

- क्लेश क्या होते हैं?
- महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र नामक ग्रन्थ में कितने क्लेशों की चर्चा की है।
- अविद्या को समस्त क्लेशों का मूल कारण क्यों बताया है?
- अस्मिता किस प्रकार से क्लेश उत्पन्न करती है?
- राग को क्यों क्लेश बताया गया है?
- द्वेष को महर्षि पतंजलि ने क्लेश के रुप में किस प्रकार से समझाया है?
- मृत्यु का भय किस प्रकार ज्ञानी और मूर्ख दोनों तरह के व्यक्तियों में दुःख उप्तन्न करता है?
- क्लेशों को दूर करने के उपाय क्या हैं?

20.3 क्लेश का अर्थ

जो दुःख देता है वह क्लेश है। ऐसी कोई वृत्ति ऐसा काई कार्य जिससे दुःख उत्पन्न होता है वह क्लेश है। महात्मा बुद्ध के इसे वेदना कहा है। महर्षि पतंजलि ने इसे क्लेश बताया है। ऐसी कोई भी चीज जो परिवर्तित होती है और हमारे ऊपर छाप छोड़ जाती है क्लेश है। सुख भी क्लेश है क्योंकि यह क्षणिक है। सुख के वियोग से भी दुःख होता है। ये सारे क्लेश आत्मा के बन्धन का कारण होते हैं।

20.4 क्लेश के प्रकार –

अविद्याऽस्मितारागद्वेषभिनिवेशाः क्लेशाः। 2/3 योग सूत्र

अर्थात– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश – ये 5 क्लेश हैं।

ये 5 क्लेश प्राणिमात्र को सम्पूर्ण जगत के प्रपंचों के बन्धन रुप विकारों में बाँधकर पीड़ित करते हैं। जाति, आयु, भोग, कर्मफल, सभी क्लेशों के ही कारण है। ये महान दुःख के देने वाले हैं। इन सबका मूल कारण अविद्या है। ये महान दुःख के देने वाले हैं। इन सबका मूल कारण अविद्या है। शेष–अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये चार साक्षात् क्लेश न होने पर भी क्लेश का हेतु होने से क्लेश ही हैं।

(1) योग भाष्यकार व्यास जी ने लिखा है–

"क्लेशः इति पन्चविपर्ययाइत्यर्थः।"

अर्थात– क्लेश अर्थात 5 प्रकार के विपर्यय मिथ्याज्ञान ही है। ये 5 क्लेश ही प्रबल अवस्था को प्राप्त कर सत्य आदि गुणों को उत्पत्ति के कार्य में लगाकर उनके परिणाम के द्वारा प्रकृति, महतत्व, अहंकार तथा तन्मात्राओं आदि परम्परा को निष्पादन कर कार्य के फल, जन्म, जाति आदि के हेतु होते हैं।

अतः अविद्या मूलक उस अनर्थ परम्परा का हेतु होने से वह क्लेश है और क्लेश होने के कारण वह त्याज्य है।

(2) सांख्यकारिका के अनुसार– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशों को क्रमशः तमस्, मोह, अहंकार, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नाम से कहा गया है।

अविद्या – तमस्
अस्मिता – मोह
राग – महामोह
द्वेष – तामिस्र
अभिनिवेश – अन्धतामिस्र

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रा ह्यन्धसंज्ञक।
अविद्या पंचपर्वेषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता।।

तमस् (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धमिस्र (अभिनिवेशा) – ये सांख्य और योग में 5 पर्वा अविद्या कही गयी हैं।

ये अवान्तर भेद से 62 प्रकार के होते हैं–

तमस – 8 भेद – प्रधान, महतत्व, अहंकार, 5 तन्मात्राएँ
मोह – 8 भेद – अणिमा, महिमा आदि 8 सिद्धि
महामोह – 10 भेद – 5 तन्मात्राएँ, 5 महाभूत = 10 विषय
तामिस्र – 18 भेद – 10 विषय + 8 सिद्धि
अन्धतामिस्र – 18 भेद – 10 विषय + 8 सिद्धि

ये सब अज्ञान मूलक और दुःख जनक होने से अज्ञान, अविद्या, विपर्यज्ञान, भ्रान्तिज्ञान और क्लेश आदि नामों से कहे जाते हैं।

संसार में सामान्यतः पीड़ा का अनुभव की जाने वाली स्थितियों को क्लेश कहा जाता है, किन्तु अविद्या आदि को क्लेश इसलिये कहा गया है कि ये पांचों ही पीड़ापूर्वक अनुभव की जाने वाली परिस्थितियों के कारण है। अविद्या आदि के प्रभाव से तमो गुण और रजोगुण की प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं। उनके परिणाम स्वरुप चित्त की चंचलता बढ़ जाती है और उससे कार्य कारण की जो परम्परा जन्म लेती है, बढ़ती है और दृढ़ होती है, उसके फलस्वरुप कर्म विपाक भवबन्धन को उत्तरोत्तर दृढ़ करता जाता है। पीड़ादायी परिस्थितियाँ बढ़ते जाने के कारण अविद्या को क्लेश कहा गया है।

20.5 क्लेश की अवस्था–

अगले सूत्र में क्लेश की अवस्था और उसके मूल कारण अविद्या को विस्तार से समझाया गया है जो कि इस प्रकार से है–

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनुविच्छिन्नोदाराणाम्। 2/4 योग सूत्र

जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार इन चारों अवस्थाओं में रहने वाले हैं एवं आगे के अस्मितादि चारों क्लेशों का क्षेत्र रुप कारण है वह अविद्या ही है। जिस प्रकार भूमि में रहकर ही बीज उत्पन्न होते हैं ठीक इसी प्रकार अविद्या के क्षेत्र में रहकर ही सब क्लेश बन्धन रुपी फल देते हैं।

अविद्या ही क्लेशों का मूल क्षेत्र है। इन चारों क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार ये चार अवस्थाएँ कही गई हैं। अविद्या सभी क्लेशों का क्षेत्र मूल कारण है। उसके अभाव में सभी क्लेशों का भी अभाव हो जाता है।

20.5.1 प्रसुप्त– जो क्लेश चित्त में स्थित रहकर भी अपना कार्य सम्पादित नहीं कर पाते। क्योंकि अपने विषय आदि के अभाव काल में वे अपने कार्यों को आरम्भ नहीं कर सकते हैं। जिस प्रकार बाल्यावस्था में विषयभोग की वासनाएँ बीज रुप में होते हुए भी दबी रहती हैं। तथा युवक होते ही सभी वासनाऐं जाग्रत होकर सक्रिय हो उठती हैं। वैसे ही प्रलय काल में चारों क्लेशों की प्रसुप्तावस्था रहती है।

20.5.2 तनु– क्षीण अवस्था को तनु कहते हैं। क्रियायोग क्लेश की शक्ति को क्षीण कर उन्हें दुर्बल बना देता है। इसलिऐ विषयों की उपस्थिति होने पर भी वे कार्य नहीं कर पाते, किन्तु शान्त रहते हैं। पर इनकी वासनाऐं सूक्ष्मबीज रुप में चित्त में बनी रहती हैं। कलेश की इस अवस्था को तनु कहते हैं।

20.5.3 विच्छिन्न– किसी एक क्लेश के शक्तिमान होने पर दूसरा क्लेश दब जाता है। इसे क्लेश की विच्छिन्न अवस्था कहते हैं। दबे रहने पर भी क्लेश शक्ति रुप में रहते हैं और शक्तिमान क्लेश के अभाव में पुनः अपने प्रभाव विस्तार के साथ प्रस्तुत हो जाते हैं।

उदाहरण– राग की उदय अवस्था में द्वेष दब जाता है। द्वेष के उदय अवस्था में राग दब जाता है।

20.5.4 उदार– जब क्लेश अपने समस्त सहयोगी विषय भोगों को प्राप्त करके अपना कार्य पूर्ण रुप से सुचारु ढ़ंग से सम्पन्न कर रहे हों उस समय वह उदार अवस्था कही जाती है।

प्रसुप्तास्तत्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररुपाश्च क्लेशा विषयसंगिनाम्।।
(वाचस्पति मिश्र)

तत्वलीन के क्लेश प्रसुप्त, योगियों के तनु और विषयी पुरुषों के क्लेश विच्छिन्न और उदार होते हैं।
विज्ञानान्द सरस्वती पा०यो०द० व्यास भाष्य में प्रसुप्तावस्था को दग्ध के रुप में कहा गया है–
प्रसुप्तावस्था– जिस प्रकार एक भुने हूए बीज में अंकुरण नहीं होता ठीक उसी प्रकार विषय रुप आश्रय के सम्मुख होने पर भी इन क्लेशों की फिर जागृति नहीं होती है।
तनु– प्रतिपक्षभावना द्वारा नष्ट किये हुये क्लेश तनु होते हैं।
विच्छिन्न – नष्ट हो–होकर उस–2 रुप से फिर–2 जो बर्तने लगते हैं।
उदार– विषय में जो वर्तमान वृत्ति है उदार कहलाती है।
भोजवृत्ति– क्लेश तत्व धर्म का 5 के ऊपर तुल्य होन पर भी सबका कारण अविद्या है।

अस्मिता, रागादि जो प्रसुप्तादि भेद से 4 प्रकार के हैं, उन सबको उत्पन्न करने वाली भूमि अविद्या है। सभी क्लेश चित्त को विक्षिप्त करने वाले हैं, इससे इनको समाप्त करने का योगी को पहले प्रयत्न करना चाहिये।

अतः हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार एक बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है ठीक उसी प्रकार क्लेश की उत्पत्ति अविद्या से होती है। क्लेश की अभिव्यक्ति चार तरह से होती है। कभी–2 क्लेश इतने सुप्त और अव्यक्त होते हैं कि उनकी अनुभूति ही नहीं होती। कभी–2 उनकी अभिव्यक्ति इतनी सामान्य होती है की उनका अनुभव भी बड़ा सामान्य होता है। जब तक क्लेश धनी भूत नहीं होते तो मन चंचल रहता है और उस क्लेश की पूर्ण अभिव्यक्ति भी नहीं हो पाती है। हर व्यक्ति के जीवन में क्लेश की उपरोक्त चार अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं। सामान्य जन कभी भी क्लेश मुक्त नहीं हो पाता है। कठिन प्रयास के बाद ही ये सम्भव हो पाता है।

20.6 पंच क्लेश -

20.6.1 अविद्या -

अविद्या को सर्व क्लेशों का मूल कारण बताकर अब उसके वास्तविक स्वरुप का वर्णन इस प्रकार से है–
अनित्याशुचिदःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या प्प्5 च्व्ल्यैण
अर्थात– अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्म में नित्य, पवित्र सुख और आत्मभाव की अनुभूति ही अविद्या है।

जिन पदार्थों में धर्म नहीं है उसमें उसका भान होना अविद्या का सामान्य लक्षण है। अविद्या के चार भेद बताये गये हैं–
(1) अनित्य में नित्य का ज्ञान– ये सम्पूर्ण जगत और इसकी सम्पत्ति अनित्य है। 3 लोक 14 भुवन उत्पत्ति और नाशवान होने के कारण अनित्य हैं। जो वस्तु उत्पन्न और नाश होती है वह नित्य कभी नहीं हो सकती। इस प्रकार अनित्य वस्तु को नित्य समझ लेना अविद्या है।
(2) अपवित्र को पवित्र की संज्ञा देना– 1. हाड़, मांस, मज्जा, मल, मूत्र आदि अपवित्र धातुओं के समूह, अपवित्र शरीर को व्यक्ति अविद्या के कारण पवित्र समझ लेता है। 2. हिंसा, चोरी और अन्याय पूर्वक कमाया धन अपवित्र होता है, उसे पवित्र समझना। 3. पाप आदि से रंगा अन्तःकरण को अपवित्र के स्थान में पवित्र समझना।

उपरोक्त सभी उदाहरण अपवित्र को पवित्र की संज्ञा रुप ही अविद्या है।

(3) दुःख में सुख की अनुभूति करना— नश्वर जगत के सभी विषय दुःख देने वाले हैं। सम्पूर्ण जगत आदि दैविक, आदि भौतिक, आध्यात्मिक दुःखों से परिपूर्ण है। ये दुःख (ताप) व्यक्ति को कष्ट से तपाते भी हैं। इन विषय भोगों को सुख देने वाला समझना उनमें सदा लिप्त रहना, दुःख में सुख की अनुभूति है।

(4) अनात्म में आत्म की अनुभूति— शरीर, इन्द्रिय, चित्त— ये सब जड़ हैं, इनको ही आत्मा समझना। इसी को अनात्म में आत्म की अनुभूति कहते हैं।

सामान्य जग शरीर को ही सबकुछ मानकर उसके साज—श्रृंगार में लगे रहते हैं उसकी देखभाल में निरंतर व्यस्त रहते हैं जबकि वास्तविकता ये है कि यह शरीर एक साधन मात्र है, आत्मा के कर्म और भोगों के सम्पादनार्थ एक उपकरण मात्र है। यहाँ तक की शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि में सभी अनात्मा हैं, आत्मा नहीं है। इन अनात्मा पदार्थों में आत्मादृष्टि रखना अविद्या ही है।

इस प्रकार ये चार प्रकार के भेद वाली अविद्या है। ये ही संसार के बन्धन का कारण है।

20.6.2 अस्मिता- दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। योग सूत्र 2/6

अर्थात— दृक्शक्ति और दर्शन शक्ति का एक रुप जैसा भान होना अस्मिता है।

अस्मिता का तात्पर्य— स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती जी के अनुसार पातंजल योग दर्शन में इस प्रकार से है—"एकात्मिक संविदास्मिता"

अर्थात— चैतन्य स्वरुप आत्मा को और आत्मा चेतन, बुद्धि, जड़ और चिन्तरुप जड़ अनात्मा को मिलाकर एकरुप सा होकर भासना, यही अस्मिता है।

द्रष्टा — पुरुष — आत्मा

दर्शन — शक्ति — बुद्धि, चित्त

द्रष्टा — पुरुष — चैतन्य — क्रियारहित, केवल, अपरिणामी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अव्यय, स्व—प्रकाश, असंग है।

चित्त — अनित्य विनाशी आश्रित पर—प्रकाश्य विकारी, जड़, क्रियावाला, त्रिगुणमय है।

इस प्रकार दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। परन्तु अविद्या के कारण दोनों में भेद नहीं दिखता है।

वेदान्त में इसी को 'अध्यास' के नाम से कहा गया है। इन दोनों में 'तादात्मयाध्यास' होने के कारण आत्मा तमाम जड़ धर्मों को अपने में आरोप करके जीव संज्ञक बना हुआ है।

योग व्यास भाष्य— पुरुष देखने वाला द्रष्टा और बुद्धि (चित्त) इन दोनों की एकस्वरुपताख्याति को ही अस्मिता क्लेश कहा जाता है।

पंचशिखाचार्य— बुद्धि (चित्त) से परे जो पुरुष है उसके स्वंय के आकार, शील, विद्या आदि के द्वारा विभक्त अर्थात प्रयकत्व न देखकर अज्ञानी पुरुष मोह पूर्वक उसमें आत्म बुद्धि कर लेते हैं। ये सब अविद्या है।

भोजवृत्ति 2/6— राजमार्तण्डवृत्ति में लिखा है—

दृक् शक्तिः पुरुषः — — — — — — — — — — — — क्लेशः।

दृक्शक्ति पुरुष है और दर्शनशक्ति रजोगुण तथा तमोगुण के संसर्ग से रहित केवल सत्वगुण से युक्त अन्तःकरण (चित्त) कहलाता है। यह दोनों भोग्य और भोक्ता जड़ और

चेतन आदि गुणों में अत्यन्त भिन्न हैं। फिर भी परुष "मैं कार्य का कर्ता हूँ" ऐसा अभिमान करता है।

ये ही कलेश है अस्मिता है।

मुण्डक–उपनिषद में– 2/2/8

अस्मिता क्लेश को हृदय ग्रन्थि कहा गया है। चेतन रुप पुरुष और जड़ रुप चित्त के भेद का विवेकपूर्ण साक्षात हो जाने से हृदय ग्रन्थि का भेदन हो जाता है। सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

हम कह सकते हैं कि व्यक्ति में 'मैं' की अनूभूति अस्तित्व, शरीर तथा मानसिक व्यापारों के साथ मिली रहती है। उदाहरण के लिए जैसे एक राजकुमार यदि भिखारी के कपड़े पहनकर वैसा व्यवहार करने लगे तो वह भिखारी जैसा ही लगेगा। इसे अस्मिता कहते हैं। ठीक इसी प्रकार जब मनुष्य के भीतर उपस्थित उच्च चेतना शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के माध्यम से स्वंय को अभिव्यक्त करती है तो उसे अस्मिता कहते हैं।

आत्मा की शक्ति के कारण आँख देखती है, कान सुनते हैं, प्राण गतिशील होते हैं। यद्यपि मन आत्मा को नहीं जानता तथापि वह आत्मा के माध्यम से ही हर वस्तु की जानकारी प्राप्त करता है। अस्मिता केवल मैं का भार है और कुछ नहीं है।

20.6.3 राग -

अस्मिता के कारण शरीर में आत्मभाव (ममत्व, अहमत्व) पैदा हो जाता है। जिसका लक्षण इस प्रकार से है–

सुखानुशयी रागः। 2/7 योग सूत्र

अर्थात– सुख भोगने के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है वह राग है।

विषयों को भोगने के बाद उसके जो संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं जिससे भोग की इच्छा विद्यमान रहती है उसे राग कहते हैं। व्यक्ति को स्त्री, धन आदि विषयों में जो तृष्णा होती है उसे राग कहते हैं।

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थेरागद्वेषौ व्यवस्थितौ।"

गीता 3/34

अर्थात– प्रत्येक इन्द्रिय का अनुकूलन विषय में राग और प्रतिकूल विषय में द्वेष स्वभाव से ही निश्चित है, परन्तु मनुष्य को उनके वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये मनुष्य के महान शत्रु हैं, बन्धन का कारण हैं।

अर्थात स्पष्ट है कि इन्द्रियों को वश में रखकर विषयों को बरतें।

20.6.4 द्वेष-

"दुःखानुशयी द्वेषः।" 2/8 योग सूत्र

अर्थात– दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा की भावना चित्त में रहती है उसको द्वेष कहते हैं।

जिन वस्तुओं और साधनों से दुःख प्रतीत हो उनसे जो घृणा और क्रोध हो, उसके जो संस्कार चित्त में पड़े उसको द्वेष कहते हैं।

विज्ञानानन्द सरस्वती योग व्यास भाष्य–

"दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो– – – – –स द्वेष इति।"

अर्थात– जिस पुरुष ने दुःख का अनुभव किया है उस पुरुष को दुःख के साधन आदि विषय में जो मृत्यु, क्रोध उत्पन्न होता है उसे द्वेष कहा जाता है।

इस प्रकार अनुभव से संस्कार, संस्कार से स्मृति, स्मृति से पुनः राग–द्वेष उत्पन्न होते हैं।

राग एवं द्वेष बहुत ही पीड़ादायी क्लेश होते हैं। राग और द्वेष ये दोनों चेतन और अचेतन दोनों के प्रतीक होते हैं। धन, सम्पत्ति और अनेकानेक भोग साधन राग क्लेश के अचेतन आलम्बन हैं। जबकि स्त्री, पुत्र, माता–पिता, सखा आदि राग के चेतन आलम्बन हैं। इसी तरह दुःख के कारणभूत शत्रुगण चेतन और विषम स्थल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ द्वेष के आलम्बन हैं।

राग–द्वेष की जकड़ में होने के कारण हमारी शुद्ध चेतना अधो स्तर पर रहती है तथा उसके उर्ध्वगामी होने की संभावना अत्यन्त क्षीण होती है। ऐसे में आध्यात्मिक प्रगति भी नहीं के बराबर होती है। सामान्यतः मनुष्य के राग की अपेक्षा द्वेष का ज्यादा प्रभाव होता है। ये एक सिक्के के दो पहलू हैं। यदि द्वेष चला गया तो राग भी अवश्य चला जायेगा।

20.6.5 अभिनिवेश – स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रुढ़ोऽभिनिवेशः। 2/9 योग सूत्र

अर्थात– जो स्वभाव से ही परम्परागत प्राप्त है एवं जो मूढ़ों के समान विवेकवान पुरुषों में भी विद्यमान देखा जाता है वह मृत्युभयरुप क्लेश अभिनिवेश है।

स्वरसवाही– मरण भय के संस्कार जो जन्म जन्मान्तरों से प्राणी मात्र के चित्त में स्वभाव से ही चले आ रहे हैं।

विदुषः– यह शब्द यहाँ केवल शब्दों के जानने वाले विद्वान के लिये प्रयुक्त हुआ है। अर्थात वह पुरुष जिसने कोरे शास्त्रों को पढ़ा है और क्रियात्मक रुप से योग द्वारा अनुभव तथा यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है।

(1) अभिनिवेश का अर्थ– 'मा न भूयं भूयासमिति' ऐसा न हो कि मैं न होऊँ किन्तु मैं बना रहूँ।

(2) 'शरीरविषयादिभिः मम वियोगो मा भूदिति' – शरीर, विषयादि (रुप, रस आदि) से मेरा वियोग न हो।

(3) गीता 2/9 के अनुसार – जो इस आत्मा को मरने वाला समझता है जो मारने वाला समझता है वे दोनों तत्वों को नहीं जानते हैं। आत्मा न मारता है और न मरता है।

(4) गीता 2/22 के अनुसार – आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकती। फिर भी राग द्वेष के कारण मूर्ख से लेकर विद्वान तक अपने वास्तविक आत्मस्वरुप को भूलकर भौतिक शरीर की रक्षा में लगे रहते हैं, और उनके नाश से घबराते हैं। मृत्यु के भय से जो संस्कार चित्त में पड़ते हैं वे ही अभिनिवेश है।

(5) तैत्तिरीय उप० 2/9/1 के अनुसार – ब्रह्म को जानने वाले विद्वान ज्ञानी पुरुष किसी से भी भय नहीं करते।

(6) छान्दोग्य उप० 7/1/3 के अनुसार – आत्म ज्ञानी पुरुष शोक सागर से तर जाते हैं।

अभिनिवेश एक त्रिकाल सत्य है जो किटाणु से लेकर विद्वानों तक सभी जीवों में पाया जाता है। यह सन्यासियों मे भी होता है। परन्तु जिन साधकों ने अपनी साधना से विवेक ख्याति को प्राप्त कर लिया है उनमें ये अन्तिम स्थिति में होता है। सामान्य जनों में मृत्यु

का भय एक सक्रिय रुप में रहता है। यही कारण है कि घर के किसी व्यक्ति के बीमार होने पर सभी चिन्ताग्रसित हो जाते हैं। ये मृत्यु के भय के कारण ही है।

20.7 पंच क्लेश नष्ट करने के उपाय–

क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार–रुप चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, परन्तु अग्नि द्वारा दग्ध बीज–भाव को प्राप्त हुऐ क्लेशों की 5वीं अवस्था का वर्णन इस प्रकार से है–

20.7.1 प्रतिप्रसव द्वारा .

"ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।" 2/10 योग सूत्र

अर्थात– वे सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हुऐ क्लेश चित्त को अपने कारण में विलीन करने के साधन द्वारा नष्ट करने योग्य हैं।

ये 5 क्लेश क्रियायोग द्वारा सूक्ष्म होते हैं और विवेकख्याति रुपी अग्नि में जलकर दग्ध बीज भाव को प्राप्त करते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त अपने कारण में लीन हो जाता है, ठीक इसी प्रकार क्लेश भी निवृत्ति करने योग्य है।

कार्य का कारण में मिल जाना ही प्रति प्रसव है, अर्थात वस्तु की उत्पत्ति जिससे होती है उसी में लीन हो जाना। क्लेश जिन कारणों से उत्पन्न होते हैं पुनः उन्हीं कारणों में लीन हो जाना प्रति प्रसव है। प्रति प्रसव सृष्टि प्रक्रिया का होता है।

योग व्यास भाष्य– ते पंचा क्लेशा दग्धबीजकल्पा – – – – – – – – गच्छन्ति।

क्रियायोग से सूक्ष्म (क्षीण) किये हुए क्लेश जब विवेक–ख्याति रुपी अग्नि से दग्ध बीज के समान हो जाते हैं, तब असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा समाप्त अधिकार वाले चित्त के अपनी प्रकृति में लीन होने से वे क्लेश भी उसके साथ लीन होकर निवृत्त हो जाते हैं। प्रति प्रसव के अतिरिक्त उन क्लेशों के लिये अन्य किसी यन्त्र की आवश्यकता नहीं है।

20.7.2 ध्यान द्वारा .

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। 2/11 योग सूत्र

अर्थात– तद्वृत्तयः = उन क्लेशों को वृत्तियों को
ध्यान = ध्यान द्वारा
हेयाः = त्यागने योग्य

क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ जो क्रिया योग द्वारा सूक्ष्म कर दी गई थी वह ध्यान योग (विवेकख्याति) द्वारा त्यागने योग्य है।

अर्थात जब तक क्रिया योग द्वारा सूक्ष्म हुये क्लेश रुपी बीज ध्यान (विवेकख्याति) रुपी अग्नि में जलकर दग्ध न हो जाये तब तक प्रयत्न करते रहना चाहिऐ।

योग व्यास भाष्य– क्लेशानां या वृत्तयः – – – – – – – – – इति।

क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ क्रियाओं द्वारा तन–क्षीण कर देने पर विवेकख्याति नामक ध्यान द्वारा नष्ट करने योग्य होती हैं। जिससे कि उनकी वृत्तियाँ सूक्ष्म हो जायें अर्थात दग्ध बीज तुल्य हो जायें।

उदाहरण– जिस प्रकार वस्त्रों का स्थूल मल (धूल आदि) झाड़कर साफ किया जाता है उसके पश्चात झाड़ने से शेष रहा हुआ मल प्रक्षालन आदि विशेष उपाय से या आंच पर चढ़ाकर दूर किया जाता है, वैसे ही क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ महाप्रतिपक्ष से निरोध (नष्ट) हो जाती हैं।

अतः अन्त में असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा दग्ध हुऐ क्लेश रुपी बीज का समूल नाश कर देना चाहिऐ, ये साधना का क्रम है।

हम समझ सकते हैं कि– मन के निरिक्षण के द्वारा पंच क्लेशों को समझना आसान हो जाता है। साधक को क्लेश रुपी वृक्ष को ऊपर से लेकर जड़ तक काटना होता है। यह कोई बौद्धिक क्रिया नहीं है। इसके लिए महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गये अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) की आवश्यकता होती है। ध्यान की स्थिति में दृष्टा बनकर क्लेशों की अभिव्यक्ति को घटाना होता है। ऐसी स्थिति में साधक को क्लेशों का दृष्टा बनकर मन की बदलती दशाओं का साक्षी बनना होता है। जब साधक ध्यान की स्थिति में दृष्टा की तरह देखता है तो उसे अच्छे–बुरे सभी विचारों को देखना होता है। जब क्लेशों को उनकी प्राथमिक सुप्तावस्था में लाते हैं तो साधक को विवेक का प्रयोग करना चाहिए। अन्यथा ये सम्भव न हो सकेगा।

यह ध्यान की प्रक्रिया क्लेशों की बदलती अवस्थाओं का दर्शन होता है। सूक्ष्म अवलोकन द्वारा क्लेश धीरे–धीरे सूक्ष्म अवस्था में पहुँचते हैं। यह एक बहुत ऊँचे स्तर की प्रक्रिया है। कठिन अभ्यास से एवं श्रेष्ठ स्तर के साधक ही इसमें सफलता प्राप्त करते हैं।

ध्यान उच्चस्तरीय साधना है। ध्यान और विवेक की दोहरी प्रक्रिया द्वारा क्लेशों को समाप्त किया जा सकता है। उपरोक्त प्रक्रिया के साथ–2 यह भी ध्यान रखना अतयन्त आवश्यक है कि क्लेशों की निवृत्ति से पूर्व उनका तनु होना आवश्यक है। इसके लिऐ महर्षि पतंजलि ने द्वितीय अध्याय के प्रथम एवं द्वितीय सूत्र में क्रियायोग का वर्णन किया है जिसकी व्याख्या इस प्रकार से है–

20.7.3 क्रियायोग द्वारा .

'क्रियायोग'–समाहित चित्त वाले योगियों के लिऐ पतंजलि ऋषि ने अपने 'योग सूत्र' के प्रथम पद में योग का स्वरुप, उसके भेद और उसका फल सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि को विस्तार के साथ वर्णन किया है, और योग के मुख्य उपाय अभ्यास तथा वैराग्य साधन की कई विधियाँ बतलायी हैं। परन्तु जिनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग–द्वेष आदि से कलुषित (मलिन) है ऐसे विक्षिप्त चित्त वाले मध्यम अधिकारी के लिऐ अभ्यास और वैराग्य का होना कठिन है। उनका चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्य कर सके इसके लिए क्रियायोग योग और अष्टांग योग का वर्णन महर्षि पतंजलि ने किया है, जिसमें से क्रियायोग का वर्णन इस प्रकार से है–

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। 2/1 योग सूत्र

अर्थात– तप, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान ये क्रिया योग है।

सवाधान चित्त वाले को योग बताकर असमाहित चित्त वाले भी किस प्रकार से योगमुक्त हो सकते हैं उसके लिए तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये तीन क्रियायोग के भेदों का वर्णन किया है।

1. तप– 'तपोद्वनद्वसहनम्'

अर्थात– कायिक, वाचिक तथा मानसिक इन तीनों प्रकार के द्वन्द्वों को सहन कर लेना ही तप है।

कायिक तप– सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि द्वन्द्वों का सहन करते हुए अपनी साधना में लगे रहना ही तप है।

जिस प्रकार तपाने से धातु के मल जल जाते हैं ठीक वैसे ही तपस्या से अन्तःकरण के मल क्षीण हो जाते हैं।

'तपस्या कल्मषं हन्ति'

तपस्या से कल्मष पाप जल जाते हैं।

(विज्ञानानन्द सरस्वती पां०यो०द०)

तप द्वारा अन्तः करण के शुद्ध होने से सत्व प्रकाश बढ़ता है। योग मार्ग में आसन–प्राणायाम जिनका वर्णन प्ध्46ए 49 च्ल्ैण् में किया गया है, ये और सात्विक आहार–विहारादि शरीर के तप माने गये हैं। प्रत्याहार ;प्ध्54 च्ल्ैण्द्ध, शम–दम आदि इन्द्रियों तथा मन के तप हैं।

नात्यश्नतस्तु – – – – – – – – – – – – – नैव चार्जुन। (गीता 6/16)

अर्थात– योग न तो बहुत खाने वाले को और न ही बिल्कुल न खाने वाले (कोरे उपवासी) को, न अधिक सोने वाले, न अधिक जागने वाले को प्राप्त होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

`युक्तस्वप्नावबोधास्य योगो भवति दुःखहा।।

(गीता 6/17)

अर्थात– तथायोग्य आहार–विहार करने वाले कर्मयोग में यथायोग्य चेष्टा करने वाले, यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही दुःख नाशक योग सिद्ध होता है।

तपस्या से बढ़कर आत्मदर्शन के लिए अन्य कोई श्रेष्ठ साधन नहीं है।

'तपात्सिद्धि तपासिद्धि न संशयः'

(विज्ञानानन्द सरस्वती पा०यो०द०)

अर्थात– तप से ही सिद्धि मिलती है, तपस्या से ही सब सिद्ध होता है, बिना तप के नहीं। शास्त्रों में (हरिहरानन्द अरण्यक)– संसार में जो कुछ कार्य अति कठिन हो, दुर्जय हो जिसे कोई भी लांघ नहीं सकता हो उसको तप के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु तप को काई भी लांघ नहीं सकता है, तप ही मोक्ष सिद्धि के लिऐ मुख्य साधन है।

वाचिक तप– वाणी का संयम में रहना। केवल सत्य, प्रिय, आवश्यकतानुसार दूसरों का यथायोग्य सम्मान करते हुए वाणी से वचन निकालना। सप्ताह में एक दिन मौनव्रत रखना चाहिए। केवल देखा–देखी मौन व्रत करना मिथ्या है।

मानसिक तप– मन को संयम में हिंसात्मक और क्लिष्ट रखना भावनाओं, अपवित्र विचारों को मन से हटाते हुए हिंसात्मक अक्लिष्ट भावनाओं और शुद्ध विचारों को मन में धारण करना।

2. स्वाध्याय – स्व + अध्ययन = स्वयं का जानना। चिन्तन, मनन, पठन, पाठन आदि। वेद, उपनिषद, दर्शन तथा पुराण आदि आध्यात्मिक ज्ञानवर्द्धक ग्रन्थों का अध्ययन ओंकार मन्त्र का जप और परमेश्वर का ध्यान ही स्वाध्याय है। इसलिऐ शास्त्रों में कहा गया है–

(1) 'स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा'

जिनसे धर्म तथा ब्रह्म विद्या की शिक्षा मिलती हो वैसे वेद वेदान्तादिक मोक्ष का प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन प्रणवमन्त्र का सतत जप करने को स्वाध्याय कहते हैं।

(2) 'गोरखपुर पा० यो० प्रदीप' में स्वाध्याय की व्याख्या में ऊँकार सहित गायत्री आदि का जप बतलाया है। गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में मनु महाराज लिखते हैं– तीन मात्रा वाले ओंकार पूर्वक तीन महाव्याहति और त्रिपदा सावित्रि को ब्रह्म का मुख (द्वार) जानना चाहिऐ।

(3) संवर्तस्मृति श्लोक 218– गायत्री से बढ़कर पाप कर्मों का शोधक (प्रायश्चित) दूसरा कुछ भी नहीं है। प्रणव सहित गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिऐ।

3. ईश्वर प्रणिधान– ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य है ईश्वर की उपासना और ईश्वर का ही आश्रय ग्रहण करना। अतः परम गुरु परमेश्वर में सम्पूर्ण कर्मों को समर्पित कर देना, कर्मफल का परित्याग कर देना, इसी को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं।

जिस प्रकार बाह्य चित्त वृत्तियों को अभ्यास और वैराग्य के द्वारा शान्त कर दिया जाता है उसी प्रकार समस्त वृत्तियों को ईश्वर पर समर्पित कर देने से वृत्तियाँ स्वंय शान्त हो जाती हैं। जग साधक संसार से विरक्त होकर अपनी समस्त भावनाएँ ईश्वर में समर्पित कर देता है तो ईश्वर कृपा करके भक्त की सारी वृत्तियाँ समाप्त कर देते हैं। जिससे निरुद्धावस्था प्राप्त कर साधक निर्बीज समाधि की प्राप्ति कर लेता है।

'ईश्वरार्थ सर्वकर्मार्पण'

आत्मा के अन्दर अर्थात ह्रदय में ईश्वर का वास समझकर उसी पर निश्चित रहना भक्ति का स्वरुप है। सारे कार्यों को ईश्वर के द्वारा सम्पन्न हुआ मानना चाहिऐ। ऐसा प्रत्येक रात, प्रत्येक क्षण अनुभव करना ही ईश्वरार्थ सर्वकर्मार्पण है।
(हरिहरानन्द आरण्य पा० यो० द०)

शास्त्रों में कहा गया है– अपनी इच्छा और अनिच्छा से मैं जो भी कर्म करता हूँ उससे जो सुख और दुःख फल मिलता है वह आपको समर्पित है। इस प्रकार निष्काम और ईश्वर समर्पित कर्म ही ईश्वर प्रणिधान है।

श्वेताश्तर उपनिषद 1/10– अभि ध्यान के द्वारा ईश्वर अभिमुख होकर कृपा करते हैं। जिसका अर्थ है– हमारी तरफ ईश्वर का ध्यान या अभिमुख में ध्यान। इससे समाधि सिद्धि हो जाती है।

गीता 9/27– यत्करोषि – – – – – – – – – मदर्पणम्।

हे अर्जुन! तु जो भी कर्म करता है जो खाता है हवन, दान, तप, जप, साधना करता है सब मुझे अर्पण करो। इसी को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं। इससे शीघ्र समाधि लाभ होता है। ऐसे भक्त का कष्ट भगवान स्वंय वहन करते हैं।

गीता 9/22– जो योगी पुरुष मुझ परमेश्वर का निरंतर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से जपते हैं ऐसे पुरुषों का कष्ट मैं स्वंय वहन करता हूँ। अतः इस प्रकार ईश्वर प्रणिधान से योगी शीघ्र समाधि प्राप्त करता है।

युज० 40/17– "हिरण्मयेन पात्रेण – – – – – – – – – – दृष्टये।

अर्थात– सत्यस्वरुप ईश्वर का श्री मुख जगत रुपी ढक्कन से ढ़का हुआ है। मुझ सत्यधर्म के अनुष्ठाता के लिऐ अपना आवरण स्वंय हटा लीजिऐ। मैं आपके स्वरुप का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो जाऊँ, यही ईश्वर प्रणिधान है।

यद्यपि अष्टांग योग में तप आदि तीनों चीजें आ जाती हैं परन्तु अष्टांग योग में ये तीनों तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि इनमे से किसी एक का भी अनुष्ठान करने से योगी अपने चित्त को शुद्ध, पवित्र, निर्मल बनाकर एवं योगयुक्त होकर साधना में सिद्धि लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

क्रियायोग का अभ्यास क्यों किया जाऐ, इसके लिऐ महर्षि पतंजलि लिखते हैं–

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। 2/2 योग सूत्र

अर्थात– यह क्रियायोग समाधि की सिद्धि करने वाला और अविद्या आदि क्लेशों को क्षीण करने वाला है। इसलिऐ इसका अभ्यास करना चाहिऐ।

समाधि भावना– समाधि रुक्तलक्षणस्तस्य भावना चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्
(भोजवृत्ति)

समाधि का चित्त में बार–2 लाना समाधि भावना है।

क्लेशतनूकरणार्थः– क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषां तनूकरणं स्वकार्य कारण प्रतिबन्धः।

(भोजवृत्ति)

क्लेशों का तनुकरण उनके स्वकार्य के कारण होने में प्रतिबन्धकता।

क्लेश के संस्कार, बीज रुप में चित्त भूमि में अनादि काल से पड़े हुए हैं उनको शिथिल करने और चित्त को समाधि की प्राप्ति के योग्य बनाने के लिऐ क्रिया योग किया जाता है।

तप के द्वारा– शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन शुद्ध होता है। क्लेश नष्ट होते हैं। समाधि प्राप्त होती है।

स्वाध्याय के द्वारा– अन्तःकरण शुद्ध होता है। चित्त विक्षेप समाप्त होते हैं। चित्त समाहित होता है।

ईश्वर प्रणिधान के द्वारा– समाधि सिद्ध और क्लेश निवृत्ति होती है।

यहाँ यह शंका होती है कि– क्रियायोग ही यदि क्लेश को तनु (सूक्ष्म) कर देता है तो विवेक ख्याति की क्या आवश्यकता है?

समाधान– क्रियायोग के द्वारा क्लेशों को तनु किया जाता है। फिर विवेक ख्याति रुपी अग्नि से योगी दग्ध बीज तुल्य कर देता है। अर्थात क्लेश रुपी बीज को पुनः अंकुर उत्पादन में असमर्थ कर देता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्रियायोग क्लेशों को तनु मात्र करता है दग्ध नहीं करता। ऐसी स्थिति में विवेक ख्याति सार्थक होती है।

हम कह सकते हैं कि क्लेश रुपी बीज होने पर परवैराग्य उत्पन्न होता है। परवैराग्य के संस्कारों की वृद्धि से चित्त का विवेकरणाधिकार भी समाप्त हो जाता है और असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त होता है।

20.8 सार संक्षेप–

प्रस्तुत इकाई में आपने योग साधना में नष्ट करने योग्य क्लेशों के बारे में जानकारी प्राप्त करी। प्रस्तुत इकाई को पढ़के हमें ज्ञान प्राप्त होता है कि क्लेश पीड़ा की अभिव्यक्ति ही नहीं करते, बल्कि वे मनुष्य के व्यवहार में दिखाई देते हैं। क्लेश व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होता है। क्लेश की अनिवार्यता के कारण ही व्यक्ति और राष्ट्र प्रगति की मंजिल को पाने के लिए कार्यरत रहते हैं। उदाहरण के लिए सर्दी के दिनों में हम बार–बार नहीं नहाते और न ही बार–बार जल्दी से कपड़े बदलने को तैयार होते हैं। इसका कारण सर्दी तो होता है लेकिन सर्दी लगने से जो कष्ट व्यक्ति को उठाना पड़ता है उससे बचने के लिए व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है। ये वास्तव में क्लेश ही है।

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री को पढ़ने के उपरान्त पाठकों को 'क्लेश' के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त हुई होगी। इकाई के उद्देश्यों की पूर्ति इसमें की गई है–

- क्लेश किसे कहते हैं?
- ये कितने प्रकार के होते हैं?
- इनको नष्ट करना योग साधना में क्यों आवश्यक है?

उपरोक्तादि समस्त जिज्ञासाओं की संतुष्टि प्रस्तुत इकाई में की गई है।

20.9 शब्दावली–

वियोग	=	बिछड़ना
भवबन्धन	=	सांसारिक बन्धन

निरंतर	=	लगाता
अनात्मा	=	जो आत्मा नहीं है
अभिव्यक्त	=	दिखाई देना
अविद्या	=	अज्ञान
अस्मिता	=	मैं का भाव
राग	=	सुख के प्रति आसक्ति
द्वेष	=	दुःख के प्रति घृणा का भाव
अभिनिवेश	=	मृत्यु का भय
निरीक्षण	=	देखना
प्रत्याहार	=	इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना
सुप्तावस्था	=	सोई हुई अवस्था
निवृत	=	समाप्त
दग्ध	=	जला हुआ, भूना हुआ
नित्य	=	जो हमेशा रहने वाला है
अनित्य	=	जो हमेशा नहीं रहेगा
दुर्बल	=	कमजोर
अभिमान	=	अहंकार
द्रष्टा	=	देखने वाला
चेष्टा	=	प्रयास
मोक्ष	=	मुक्ति

20.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7. हठप्रदीपिका – स्वात्माराम सूरी
8. योगविज्ञान – विज्ञानानंद सरस्वती
9. कुण्डलिनी योग – सत्यानंद सरस्वती
4. Kundalini – Pandit Gopi Krishna
5. Kundalini for Beginners – Dr. Ranvindra Kumar

20.11 निबंधात्मक प्रश्न–

(1) महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित पंच क्लेशों को विस्तार से समझाऐं।
(2) क्लेश क्या हैं? इनका सन्दर्भ सहित वर्णन करें।
(3) योग दर्शन में कितने प्रकार के क्लेशों का वर्णन मिलता है?
(4) 'अविद्या सभी दुःखों का मूल कारण है', स्पष्ट करें।
(5) राग–द्वेष एक सिक्के दो पहलू हैं, विस्तार से समझाऐं।
(6) अभिनिवेश क्लेश की सन्दर्भ सहित व्याख्या करें।
(7) महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गये क्लेश को दूर करने के उपायों का विस्तृत वर्णन करें।
(8) क्रिया योग क्या है? इसे विस्तार से समझायें।